व्यक्तित्व का विचार-पक्ष

●

कि व्यक्तित्व का विचार-पक्ष बहुत ही
मे विस्मय मर्जी है और सामान्य
। वे विचारो मे व्यामामुसा है, परन्तु
धार्मिक पीतम । उनके विचारो मे
ला नही चिरस्थायी विवेक और
रहती है । जब किसी भी स्थिति पर वे
हैं तब वस्तु के मर्मस्तल तक उनकी
क्रम से पहुँच जाती है । आज तक
और मेधा मे कभी उनके जीवन के
नही की । सम्मुखस्थ व्यक्ति पर तर्क
होता है, कवि जी की बुद्धि उतनी ही
ती है । विचार-चर्चा मे उनकी बुद्धि ने
कार नही की । कवि जी जब से इति
य है । विचार करना उनका सहज

अमर मुनि जी स्थानकवासी समाज
सचेत और सतेज विचारक सन्त है ।
न्तक है, दार्शनिक है साहित्यकार है
भी । केवल धार्मिक रचना के ही
समाज संस्कृति और धर्म के भी ।
पैनी दृष्टि से जिन सत्यो का साक्षात्कार
खुलकर प्रयोग एव प्रचार भी किया ।
केवल पोथी और वाणी मे ही नही
ठोस पर देखना चाहते है । आकाश के
रों की अपेक्षा धरती के मटकते फूलो
अधिक प्यार करते हैं । कविजी क्रान्त
कवि जी सुधारक भी है और कविजी
भी है । वे जीवन के पुराने मार्गो
हठे है, जीवन के नये रास्तो को
के प्रति

समाज और संस्कृति

प्रवचनकार

उपाध्याय अमरमुनि

सम्पादक

विजयमुनि, शास्त्री

अमर-ग्रन्थ-माला

का

सप्तम पुष्प

पुस्तक

समाज और संस्कृति

प्रवचनकार

उपाध्याय श्री अमरचन्द्र जी महाराज

सम्पादक

विजयमुनि शास्त्री साहित्यरत्न

प्रथम प्रवेश

जनवरी १९६६

मूल्य

तीन रुपये पच्चीस पैसे

प्रकाशक

सन्मति ज्ञान-पीठ आगरा

मुद्रक

एजुकेशनल प्रेस आगरा–३

सम्पादक की ओर से

★

समाज और सस्कृति एक वह विषय है, कि जो अति गम्भीर और अति विशाल है। वर्तमान युग मे आप जहाँ कही भी देखेंगे और सुनेंगे, वहाँ सर्वत्र आपको विशेप रूप से समाज और सस्कृति की ही चर्चा अधिक सुन पडेगी। एक कवि ने कहा है—

"बाहर के पट बन्द कर, अन्दर के पट खोल।"

प्रस्तुत कविता की एक पक्ति मे ही जीवन का सम्पूर्ण निचोड निकालकर रख दिया गया है। ज्ञान-प्राप्ति का यह सबसे सुन्दर सिद्धान्त है, कि बाहर का पट बन्द करके अन्दर का पट खोला जाए। जब तक अन्दर के पट को नही खोला जाएगा, तब तक ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नही है। बाहर का पट बन्द करके अन्दर का पट खोलने का लाभ और भी है—Peace of mind, मानसिक शान्ति। दूसरा लाभ है—ज्ञान की अभिवृद्धि। ज्ञान की साधना तभी सम्भव है, जब कि मन और मस्तिष्क शान्त हो। Knowledge is power ज्ञान एक शक्ति है। इस शक्ति की प्राप्ति तभी सम्भव है, जब कि मनुष्य के हृदय और बुद्धि अन्तर्मुखी हो जाएँ। एक महान् तत्व-चिन्तक ने कहा है—"Know yourself and know the world" पहले अपने आपको समझो और फिर उस ससार को समझने का प्रयत्न करो, जिसमे तुम रह रहे हो। पहले अपने को समझो, फिर परिवार को समझो, फिर समाज को समझो, फिर राष्ट्र को समझो और अन्त मे इस विराट ब्रह्माण्ड को समझने का प्रयत्न करो।

समाज क्या है ? और समाज की सस्कृति क्या है ? यह एक गम्भीर प्रश्न है। इसको सुलझाना सरल और आसान नही है। फिर भी हम जिस समाज मे रहते हैं उसकी शक्ति को पहचान कर, उसकी भक्ति करना आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। समाज मे अपार शक्ति होती है, किन्तु उस शक्ति की अभिव्यक्ति उसी व्यक्ति मे होती है, जो समाज को अपनी भक्ति अर्पित करता है। जो व्यक्ति समाज से दूर हटने का प्रयत्न करता है और समाज को उपेक्षा-बुद्धि से देखने का प्रयत्न करता है, वह व्यक्ति कभी अपना विकास नही कर सकता। क्योंकि जो समाज की उपेक्षा करके चलता है, समाज भी फिर उसे अपने रगमच से नीचे धकेल देता है। समाज की उपेक्षा, फिर भले ही व्यक्ति

कितना भी अधिक आत्मनिष्ठ रहने वाला क्यों न हो कर नहीं सकता। ध्यानी का ध्यान योग ज्ञानी का ज्ञान-योग भक्त का भक्ति-योग और तपस्वी का तप तथा संयमी का संयम—समाज के सहयोग और सहकार के बिना नहीं चल सकते। समाज अपने आपमें एक बहुत बड़ी शक्ति है।

संस्कृति क्या है? इसे एक ही वाक्य मे समझना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। संस्कृति मानवीय जीवन का एक ऐसा विराट तत्त्व है जिसमे सभी कुछ समाहित हो जाता है। मानव जीवन के तीन पक्ष हैं—ज्ञान भाव और कर्म। इसको लोक भाषा मे—बुद्धि हृदय और व्यवहार भी कह सकते हैं। इन तीनों में Harmony सामञ्जस्य का होना ही वस्तुत संस्कृति की मूल भावना है। आज के चिन्तक संस्कृति के चार अङ्ग मानते हैं—तत्त्व ज्ञान (Philosophy) नीति (Ethics) विज्ञान (Science) और कला (Culture)। दर्शन धर्म विज्ञान और कला—ये चारों अङ्ग संस्कृति के हैं अत संस्कृति एक ऐसा रत्नाकर है जिसमें सभी कुछ समाहित हो जाता है। संस्कृति को यदि समझने का प्रयत्न किया जाए तो उसे समझा न जा सके यह बात नहीं है। एक विद्वान ने लिखा है—"बाहर की ओर देखो अन्दर की ओर देखो ऊपर की ओर देखो। 'बाहर की ओर देखना विज्ञान है। अन्दर की ओर देखना दर्शन है और ऊपर की ओर देखना धर्म है। संस्कृति मे विज्ञान भी है, दर्शन भी है और धर्म भी है। संस्कृति जीवन का सारतत्त्व है।

प्रस्तुत पुस्तक में समाज और संस्कृति के मूल-भूत भावों को व्यवस्थित करने का अपने मे एक लघु प्रयत्न है। समाज और संस्कृति के सम्बन्ध मे प्रस्तुत पुस्तक में सब कुछ आ गया है, यह दावा नहीं किया जा सकता। इतनी बात अवश्य कही जा सकती है कि समाज और संस्कृति के मूल तत्त्वों को समझने के लिए प्रस्तुत पुस्तक पाठक का मनोरंजन अवश्य कर सकती है और साथ में उसे सोचन एवं समझने के लिए कुछ विचार-तत्त्व भी प्रदान कर सकती है। उपाध्याय श्रद्धेय श्री अमरचन्द्र जी महाराज के समाज और संस्कृति-विषयक गम्भीर चिन्तन को मैं कितना पकड़ सका हूँ इसका निर्णय मैं पाठकों पर ही छोड़ता हूँ।

—विजयमुनि

प्रकाशक की ओर से

★

आज अपने प्रेमी पाठको के कर-कमलो मे, 'समाज और सस्कृति' का नूतन पुष्प अर्पित करते हुए महती प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज के बिना वह जीवित नही रह सकता। समाज मे उसका जन्म होता है और समाज मे ही उसका लालन-पालन एव सम्वर्द्धन होता है। जब वह जन्म लेता है, तब उस समाज के प्रति जिसमे उसका जन्म हुआ है, उसे कर्त्तव्य का भान नही हो पाता। पर जैसे-जैसे उसका हृदय और बुद्धि विकसित होते जाते हैं, वैसे-वैसे वह सस्कृति का बोध प्राप्त करता जाता है। सस्कृति के परिबोध से ही उसे यह परिज्ञान होता है, कि समाज की मर्यादा क्या है और मेरी अपनी मर्यादा क्या है ? व्यक्ति को जब अपनी सीमा और अपने समाज की सीमा का परिज्ञान हो जाता है, तब वह यह समझ पाता है, कि इस ससार मे मेरा अपना क्या कर्त्तव्य है और मुझे क्या करना चाहिए। जब तक मनुष्य को अपने कर्तव्य का परिज्ञान नही होता है, तब तक वह न अपना विकास कर पाता है और न अपने समाज का ही विकास कर पाता है।

प्रस्तुत पुस्तक, 'समाज और सस्कृति' मे पूज्य गुरुदेव श्री उपाध्याय अमरचन्द्रजी महाराज के उन प्रवचनो का सकलन किया गया है, जो उन्होंने गत वर्षावास मे, सन् १९६४ मे जयपुर वर्षावास मे दिए थे। यद्यपि पूज्यगुरुदेव का स्वास्थ्य ठीक नही था, फिर भी उन्होंने यदा-कदा जो प्रवचन दिए थे, उन प्रवचनो मे से प्रस्तुत पुस्तक मे मुख्य रूप से उन्ही प्रवचनो का सकलन, सम्पादन एव प्रकाशन किया गया है, जो समाज और सस्कृति से सम्बन्धित थे। प्रस्तुत पुस्तक का सम्पादन श्री विजयमुनि जी शास्त्री, साहित्यरत्न ने किया है। सम्पादक की भाषा और शैली के सम्बन्ध मे क्या लिखें, प्रत्येक पाठक उनकी मधुर भाषा और सुन्दर शैली से सुपरिचित है। इस पुस्तक मे जिन प्रवचनो का प्रकाशन किया जा रहा है, आशा है, उनका परिशीलन करके पाठक अधिक से अधिक अध्यात्म लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे। हम जयपुर श्री सघ के और विशेषत वहाँ के प्रबन्धकों के अत्यन्त कृतज्ञ हैं, एव उन्हे धन्यवाद देते हैं, कि उन्होंने प्रस्तुत प्रवचनो के प्रकाशन का अवसर हमें दिया।

—सोनाराम जैन

धन्यवाद

★

सन्मति ज्ञान-पीठ जयपुर श्रीसंघ को तथा वहाँ के श्री गुमानमल जी चोरड़िया आदि उन प्रमुख कार्यकर्ताओं को धन्यवाद देता है, जिन लोगों ने बड़ी लगन के साथ पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों का संग्रह एवं संकलन कराया। सन्मति ज्ञानपीठ ने उनकी कृतज्ञता का स्मरण करते हुए उनके द्वारा प्रेषित सामग्री में से प्रस्तुत में केवल उसी सामग्री का उपयोग किया है जो समाज और संस्कृति से सम्बन्धित थी। इस विषय से सम्बन्धित अन्यत्र दिए गए अन्य प्रवचनों का भी यथास्थान उपयोग हुआ है। पूज्य गुरुदेव का प्रवचन साहित्य विशाल है। जयपुर, कलकत्ता अलवर, वाराणसी आगरा आदि के शेष प्रवचन भी यथावसर प्रकाशित करने का प्रयत्न किया जाएगा।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में उन सभी प्रयत्नों का और समस्त स्रोतों का अभिनन्दन है जिन्होंने प्रस्तुत पुस्तक के संकलन सम्पादन प्रकाशन और मुद्रण में सहयोग एवं सहकार दिया है।

मंत्री
सन्मति ज्ञान-पीठ

विषय-रेखा

★

●

आशा-गर्तः प्रतिप्राणि
यस्मिन् विश्वमणूपमम् ।
कस्य किं कियदायाति
वृथा वो विषयैषिता ॥

—आचार्य गुणभद्र

Every living being (has such a deep) pit of worldly desires that (all objects in) the world (amount to) only a particle for it. What, and how much then can each get ? Useless (is) your desire of sense—enjoyments.

★

समाज

और

संस्कृति

मनुष्य की संकल्प-शक्ति

इस विशाल विश्व मे सर्वाधिक श्रेष्ठ वस्तु क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर तभी दिया जा सकता है, जबकि इस पर पर्याप्त चिन्तन और मनन कर लिया जाए। इस तथ्य से इन्कार नही किया जा सकता, कि इस सृष्टि का सर्वाधिक श्रेष्ठ एव सर्वाधिक ज्येष्ठ प्राणवान तत्त्व मनुष्य ही है। आज तक के इतिहास मे धर्म और दर्शन की, सस्कृति और साहित्य की तथा कला और विज्ञान की, जो कुछ खोज हुई है, उसका मूल आधार मनुष्य ही है। मनुष्य के लिए ही इन सबका उपयोग और प्रयोग किया जाता है। मानव-शून्य इस विशाल सृष्टि मे सब कुछ रहते हुए भी, कुछ नही रह सकेगा। मानवता-वादी धर्म, मानवतावादी दर्शन और मानवतावादी सस्कृति का यह अटल विश्वास है, कि इस समग्र विश्व के विकास का मूल केन्द्र मानव-जीवन ही है। विश्व बडा है जीवन विश्व से बडा है, परन्तु मनुष्य जीवन से भी बडा है। मनुष्य वह है, जो अपने मन की शक्ति का सम्राट् हो, ससार की समग्र शक्ति जिसके आगे नत मस्तक हो। एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है कि, Every man is a volume, if you know how to read him प्रत्येक मनुष्य अपने आप मे एक विशाल ग्रन्थ है, यदि आप उसे पढ़ने की कला जानते हो, तो।

मानव जीवन की पवित्रता और श्रेष्ठता, मानव-जीवन का वह पक्ष है, जिसके लिए भारत के महान आचार्य, सत और विद्वानो ने अपनी-अपनी वाणी

में और अपने अपने ग्रन्थों में बहुत कुछ गुणगान किया है और बहुत कुछ उस सम्बन्ध में लिखा भी है। मानव की प्रसुप्त आत्मा को प्रबुद्ध करने के लिए, उन्होंने अपने चिन्तन और मनन के द्वारा बहुत कुछ प्रेरणा प्रदान की है। भारतीय चिन्तक मनुष्य के जीवन के सम्बन्ध में बहुत आशावादी हैं। उनका कहना है कि धर्म और दर्शन की साधना का एक मात्र मध्य-बिन्दु मानव जीवन ही है। इससे बढ़कर अन्य किसी जीवन को उन्होंने श्रेष्ठ नहीं माना। पशु और पक्षी ही नहीं स्वर्ग लोक के देवों के जीवन को भी उन्होंने मानव जीवन से हीन कोटि का माना है।

भारतीय चिन्तक मनुष्य को सम्बोधित करते हुए कहते हैं, कि मनुष्य! तू अपनी श्रेष्ठता के लिए जो आकाश की ओर हाथ उठाए भिक्षा माँग रहा है—यह गलत है। तू अपने मन में से इस भ्रम को निकाल फेंक कि संसार की किसी नदी में अथवा संसार के किसी पर्वत में तेरी श्रेष्ठता और तेरी पवित्रता का वास है। तेरी श्रेष्ठता और तेरी पवित्रता कहीं बाहर नहीं है, वह तो तेरे अन्दर ही है। तेरा यह सोचना भी एकदम गलत है, कि तेरे भाग्य का निर्माण और तेरे भविष्य का निर्माण अथवा तेरे सुनहले स्वप्नों का निर्माण आकाश में रहने वाला कोई देव करता है। तुझे यह विश्वास करना चाहिए, कि तेरे सुनहरे भविष्य के द्वार खोलने की चाबी तेरे अपने हाथ में है, किसी अन्य हाथ में नहीं। जो व्यक्ति अपने भाग्य के द्वार खोलने की चाबी अपने हाथ में न रखकर किसी दूसरे को सौंप देता है दुनियाँ में उससे बढ़कर अन्य कोई अभागा नहीं हो सकता। निश्चय ही मनुष्य से ज्येष्ठ और श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं है।

क्या इस श्रेष्ठता का अर्थ यह है, कि इंसान खूब खाने-पीने में मस्त रहे? क्या इस खाने-पीने के लिए ही मनुष्य जीवन है? क्या भोग-विलास में डूबे रहना ही उसके जीवन का लक्ष्य है? इन्सान को यह सोचना पड़ेगा कि उसकी खुद की जिन्दगी कैसी है और उसके पड़ोस में रहने वाले इन्सानों की जिन्दगी कैसे गुजर रही है? यह संसार बड़ा विचित्र है। समता नहीं विषमता ही सब ओर परिलक्षित है। हम सब देखते हैं कि कहीं पर आँसुओं की नदियाँ बह रही हैं, तो कहीं पर हँसियों के फव्वारे छूट रहे हैं। क्या मनुष्य इन सबकी उपेक्षा करके अपने जीवन में प्रगति कर सकता है? क्या वह अपनी जिन्दगी की राह पर आगे बढ़ सकता है? मानव की मानवता इसी में है कि वह अपने जीवन की प्रत्येक क्रिया पर विचार करे कि मैं यह क्या कर रहा हूँ और मेरे ऐसा करने में उद्देश्य क्या है? मेरी जिन्दगी की

मुस्कान मे, अन्दर मे किसी गरीब के आंसू तो नही छुपे हुए है। मेरे जीवन के सुख मे किसी गरीब का खून और पसीना तो नही वह रहा है। याद रख, तेरे जीवन का अन्याय, तेरे जीवन का अत्याचार, तेरे जीवन का पापाचार और तेरे जीवन का मिथ्याचार, तेरे जीवन की शक्ति को गला देगा। स्वय तेरा जीवन ही नही, तेरे परिवार, तेरे समाज और तेरे राष्ट्र की जीवन-शक्ति को गलाने की क्षमता भी उसके अन्दर है। प्रत्येक मनुष्य को अपने हृदय की गहराई मे उतर कर यह सोचना चाहिए, कि मेरे भविष्य का निर्माण, स्वय मेरे अपने पुरुषार्थ से हो रहा है, अथवा दूसरो के कन्धो पर चढकर मैं आगे वढ रहा हूँ ? दूसरो की जिन्दगी को कुचल कर आगे वढने मे, तेरी कोई शान नही रहेगी। जिस व्यक्ति के हृदय मे कभी पवित्र विचार और विशुद्ध सकल्प जागृत नही होते, वह व्यक्ति अपने जीवन का सुधार और निर्माण कैसे कर सकता है ? खेद है, कि मनुष्य इतना स्वार्थ—लिप्त होता जा रहा है, कि उसे इतना भी परिज्ञान नही रहता, कि मैं जो कुछ कर्म कर रहा हूँ, वह सत् है अथवा असत् है, वह कर्तव्य है अथवा अकर्तव्य है, वह हितकर है अथवा अहितकर है ? विवेकशील मनुष्य वही है, जो यह चिन्तन करता है, कि किस कर्म से मेरा हित होगा, किस कर्म से मेरे समाज का हित होगा और किस कर्म से मेरे राष्ट्र का हित होगा ? कही ऐसा न हो, कि ऊपर से तो तेरा जीवन फूल के समान महकता रहे, और अन्दर से वह विपाक्त वन जाए। दुर्भाग्यवश, यदि ऐसा हुआ, तो फिर न उसमे स्वय मनुष्य का हित है, न उसके समाज का हित है, और न उसके राष्ट्र का हित है। वह मनुष्य अपने जीवन मे किसी प्रकार का विकास नही कर सकता। मनुष्य को अपना विकास करने के लिए विचार-शक्ति की आवश्यकता है।

आज के समाज और राष्ट्र के समक्ष सवसे अधिक ज्वलत प्रश्न यह है, कि मनुष्य की कसौटी क्या है, मनुष्य किसे कहा जाए ? क्या मात्र मानव-तन पाने से ही, मानव, मानव वन जाता है ? शब्द शास्त्र के पण्डितो ने मानव, मनुष्य और मनुज तीनो का मूल रूप एक ही माना है। उन्होंने इन तीनो शब्दो की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—'मननात् मनुष्य'। जो मनन करता है, वही मनुष्य है। मनुष्य, मनुष्य क्यो है ? मनुष्य को मनुष्य किस दृष्टि से कहते हैं ? इसलिए, कि वह मनु की सन्तान है। यदि मनु की सन्तान होने से ही मनुष्य, मनुष्य है, तो फिर हमे यह सोचना होगा, कि वह मनु कौन है ? मनु व्यक्ति विशेष है अथवा और कुछ है ? मनु का अर्थ क्या है ? जव तक मनु के अर्थ का वास्तविक परिवोध न हो जाए, तव तक मानव की परिभाषा स्थिर नही की जा सकती है और उसकी वास्तविक व्याख्या नही की जा सकती

है। मैं सोचता हूँ, मनु क्या था ? जिससे मनुष्य की उत्पत्ति हुई। कुछ लोग कहते हैं—मनु एक ऋषि थे उसकी जो संतान है, वे ही मनुज एवं मनुष्य कहलाते हैं। यही कारण है, कि मनुष्य और मानव को मनुज कहा जाता है। मनुज का अर्थ है—मनु से उत्पन्न होने वाला। परन्तु यह व्याख्या मेरे मन में नहीं उतरती। मनु नाम का कोई व्यक्ति था या नहीं इससे मुझे किसी प्रकार का विवाद नहीं है, मैं तो यह कहना चाहता हूँ कि प्रत्येक मनुज में मनु बैठा हुआ है, और वह उसी की संतान है। वह मनु कौन है ? वह मनु अन्य कोई नहीं है, वह मनु है, आपका अपना मन। जो मनन करता है और जो विचार करता है, वही मनुष्य है। इसका फलित अर्थ यही निकलता है, कि प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन का उत्पादक है और अपने जीवन का निर्माता है। मनुष्य के जीवन का निर्माता कौन है ? ईश्वर और प्रकृति उसके जीवन-निर्माता नहीं हैं। उसके मन का विचार और उसके मन का संकल्प ही उसके जीवन का निर्माता है। वह विचार और वह संकल्प जो मनुष्य के जीवन का निर्माण करता है, कहीं बाहर से नहीं आता स्वयं उसके जीवन के अन्दर से ही उत्पन्न होता है। मनुष्य के अन्दर रहने वाले इस विचार और संकल्प को ही मैं मनु कहता हूँ। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य स्वयं अपने विचारों का बाप है मनुष्य स्वयं अपने विचारों का निर्माता है और मनुष्य स्वयं अपने विचारों का ईश्वर है। जरा इसको दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए, तो आपको ज्ञात होगा कि मनुष्य स्वयं ही अपने विचारों का पुत्र है, क्योंकि अपने विचारों के द्वारा ही उसका निर्माण होता है, और उसके भविष्य का निर्माण होता है। इस दृष्टि से इस विशाल विश्व का प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपने विचारों का पिता भी है और स्वयं अपने विचारों का पुत्र भी है।

मैं अभी आपके समक्ष मानव-जीवन की परिभाषा और मानव-जीवन की व्याख्या कर रहा था। वास्तव में बात यह है, कि मानव जीवन की एक परिभाषा और एक व्याख्या नहीं की जा सकती। क्यों नहीं की जा सकती है ? यह प्रश्न आपके मन में उठ सकता है और उठना भी चाहिए। इस प्रश्न के समाधान के लिए, हमें मानव-जीवन की गहराई में पहुँचना होगा वहाँ पहुँच कर ही इसका समाधान हम पा सकेंगे। बात यह है कि मानव-जीवन के दो पक्ष हैं—एक शुभ दूसरा अशुभ। एक अच्छा दूसरा बुरा। एक अमृत दूसरा विष। हमारे सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि जब हम मनुष्य के जीवन के शुभ पक्ष को पकड़ते हैं तब उसके जीवन का अशुभ पक्ष हमारी मुट्ठी से बाहर रह जाता है। और यदि अशुभ विष को पकड़ लिया तो अमृत भाग बचा अच्छा

को पकड लिया तो बुरा दूर भाग गया। यही कारण है, कि मानव-जीवन की परिभाषा और व्याख्या पूर्ण नही हो सकती है। यदि किसी भी एक पक्ष को पकडकर मानव-जीवन की व्याख्या करने का प्रयत्न किया जाएगा, तो वह प्रयत्न अधूरा ही रहेगा। मानव-जीवन की व्याख्या और परिभाषा दोनो पक्षो के सतुलित समन्वय से ही की जा सकती है। मनुष्य के मन मे राम भी बैठा रहता है और रावण भी बैठा रहता है। यह ठीक है, कि हम दोनो की एक साथ पूजा नही कर सकते, किन्तु उन दोनो का जानना तो आवश्यक है ही। जीवन की बुराई को जानना इसलिए आवश्यक है, कि उसे बुराई समझकर हम उसे छोड सकें, और जीवन की अच्छाई को जानना इसलिए आवश्यक है कि उसे अच्छाई समझकर हम जीवन मे अपना सकें।

मैं आपसे मानव-जीवन की बात कह रहा था। जब तक आप अपने जीवन मे बुद्धि और विवेक का प्रकाश लेकर नही चलेगे, तब तक जीवन का कल्याण नही होगा। यदि किसी व्यक्ति का जीवन अन्धे हाथी के समान, जगली भैंसे के समान और एक भयकर भेडिए के समान है, तो उससे न किसी समाज को लाभ है और न किसी राष्ट्र को ही। मनुष्य का मन जब सो जाता है, तब उसमे किसी प्रकार की स्फूर्ति नही रहती। यदि मन मे चेतना नही है, तो केवल शरीर की चेतना से कोई विशेष लाभ नही हो पाता। अन्य कुछ बनने से पहले मनुष्य के मन मे, मनुष्य बनने की अभिलाषा होनी चाहिए। मनुष्य को मनुष्य बनने के लिए, अपनी बुद्धि और अपने मन को जागृत करना होगा। उसके विचार यदि कल्याण के मार्ग पर, और हित के मार्ग पर चल कर इस शरीर मे प्रसुप्त ईश्वरत्व को जगाने के लिए हैं और दूसरी आत्माओ को, उन आत्माओ को जो अनन्तकाल से मोह-निद्रा मे प्रसुप्त हैं, जागृत करने के लिए एव प्रेरणा देने के लिए, अथवा भूले राही को सन्मार्ग बताने के लिए, यदि मनुष्य के विचार प्रयुक्त किए जाते हैं, तब तो ठीक है, अन्यथा कुछ नही होगा। बात यह है, कि जीवन तो पशु-पक्षियो के पास भी है, कीडे-मकोडो के पास भी है, जीवन के साथ-साथ उनमे गति भी है, किन्तु विकास और प्रगति नही है। केवल विचार मात्र से ही काम नही चलता है, विकास और प्रगति भी चाहिए। एक पशु मे भी भूख एव प्यास को दूर करने की प्रवृत्ति होती है, वासना की तृप्ति पशु भी करता है, किन्तु इस दृष्टि से मनुष्य और पशु मे क्या भेद रहा? शरीर की आवश्यकताएँ जैसी पशु के पास होती हैं, मनुष्य के पास भी वे हैं, भले ही कुछ सुधरे हुए रूप मे हो, किन्तु इस दृष्टि से मनुष्य के जीवन को पशु-जीवन से ऊँचा नही कहा जा सकता। पशु मे बुद्धि भी रहती है, किन्तु वह उसका प्रयोग और उपयोग शरीर

की पूर्ति तक ही कर पाता है। किसी भी पशु-पक्षी के मन में अपने कल्याण की और विश्व-कल्याण की उच्चतम भावना प्राय उत्पन्न नहीं हो सकती। लेकिन आप देखेंगे कि मनुष्य-मनुष्य है। वह पशु नहीं है पक्षी नहीं है, क्योंकि उनके जो विचार हैं, वे प्राय अपने तक ही सीमित रहते हैं जबकि मनुष्य के विचार, केवल अपने तक ही सीमित न रह कर, अपने परिवार, अपने समाज अपने राष्ट्र और समग्र विश्व में भी फैल सकते हैं। अब रही आकृति की बात यह तो पिण्ड की आकृति है। आत्मा की अपनी कोई स्थूल आकृति नहीं होती। कोरे आकार और आकृति से काम नहीं चलता आकृति के साथ प्रकृति भी सुन्दर होनी चाहिए, तभी जीवन का विकास सुन्दरता के साथ हो सकेगा।

भारतीय चिन्तन भारतीय संस्कृति और भारतीय परम्परा आपके समक्ष जीवन का एक *महत्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। भारतीय धर्म* और दर्शन शरीर की बात नहीं करता यह तो आत्मा की बात करता है। शरीर के बल की अपेक्षा वह मन के बल को ही अधिक महत्व देता है। शरीर की शक्ति का अपने में तब तक कोई महत्व नहीं होता जब तक कि अन्तर् आत्मा में बल न हो। भारतीय संस्कृति एक अध्यात्मवादी संस्कृति है, इसलिए शरीर के रंग-रूप का उसकी दृष्टि में कोई महत्व नहीं है। उसकी दृष्टि में महत्व है, केवल आत्मा का और उसके स्व-स्व रूप का। शरीर सुन्दर हो और आत्मा मलिन हो इस प्रकार के जीवन से कोई विशेष लाभ नहीं होता। तन उजला हो और *मन मलिन हो* तो यथार्थ में उसे मनुष्य नहीं कहा जा सकता। जब तक मनुष्य की दृष्टि उसके शरीर पर केन्द्रित है, तब तक वह अपने जीवन का विकास नहीं कर सकता। आत्म-भाव को न भूलना ही अध्यात्म-दृष्टि है। मनुष्य कहीं पर भी जाए, वह कहीं पर भी रहे और कुछ भी क्यों न करे, परन्तु उसे अपनी आत्मा को कभी नहीं भूलना चाहिए। यह दृष्टिकोण ही भारतीय संस्कृति का यथार्थवादी दृष्टिकोण है। तन को भूलने में कुछ आपत्ति नहीं है, किन्तु आत्मा को भूलना मनुष्य-जीवन की सबसे भयंकर भूल होती है।

मुझे एक बहुत ही सुन्दर प्रसंग याद आ रहा है। एक बार मर्यादा-पुरुषोत्तम राम ने अपने भक्त हनुमान से पूछा—"तू कौन है?" यद्यपि इसका उत्तर यह हो सकता था कि मैं आपका भक्त हूँ मैं आपका सेवक हूँ। इसका यह भी उत्तर हो सकता था कि मैं वानर-जाति का एक वीर हूँ, किन्तु हनुमान ने इस प्रकार का कोई उत्तर नहीं दिया। हनुमान अपने मन में सोचने लगता है, कि भगवान राम के इस प्रश्न के पीछे कोई गहन रहस्य होना चाहिए, अन्यथा क्या मेरे

आराध्यदेव यह नही जानते हैं, कि मैं कौन हूँ ? हनुमान को मौन देखकर, राम ने फिर पूछा--"तू कौन है ?" हनुमान ने बडी ही विनम्रता के साथ कहा—"आप शरीर की दृष्टि से पूछते हैं अथवा आत्मा की दृष्टि से ? यदि शरीर की दृष्टि से पूछते हैं, तो मैं आपका दास हूँ, एव मैं आपका सेवक हूँ। यदि आत्म-दृष्टि से पूछते हैं, तो मैं राम हूँ। आत्म-भाव से आपमें और मुझमे किसी प्रकार का भेद नही है। अध्यात्म-दृष्टि से जो आप हैं वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही आप हैं। आत्म-भाव की अपेक्षा से न आप राम हैं और न मैं हनुमान हूँ, हम दोनो आत्मा हैं, हम दोनो ब्रह्म हैं। आपमे और मुझमे अणुमात्र भी तो भेद नही है और जो भेद है, वह इस तन का है। तन की दृष्टि से आप राम हैं और मैं हनुमान हूँ। आप स्वामी हैं और मैं सेवक हूँ। आप भगवान हैं और मैं भक्त हूँ।" बात यह है, कि जब तक देह की दृष्टि रहती है, तब तक मनुष्य दास है। जब तक देह है, तब तक भूख एव प्यास आदि भी उसके साथ लगे रहते है। परन्तु ज्यो ही मनुष्य को विवेक दृष्टि इस देह के आवरण को पार करके देही तक पहुँच जाती है, उस समय सब कुछ आत्ममय हो जाता है। राम ने हनुमान की इस बात को सुनकर बडी प्रसन्नता व्यक्त की और कहा, कि मुझे प्रसन्नता है, कि तुम इस तन मे रह कर भी तन की इस स्थिति से बहुत ऊँचे उठ चुके हो। अध्यात्म-भाव को प्राप्त करना ही जीवन की सबसे बडी साधना है और यही जीवन का चरम लक्ष्य भी है।

मैं आपसे देह और आत्मा की बात कह रहा था और यह बता रहा था, कि मनुष्य के जीवन का लक्ष्य क्या है, और उसे क्या करना चाहिए। दुर्भाग्य की बात तो यह है, कि हम शास्त्र सुनकर भी और शास्त्र पढकर भी, उसमे से कुछ ग्रहण नही कर पाते। केवल सुनने से और केवल पढने से कुछ नही होता है। जब तक ज्ञान को क्रिया का रूप नही दिया जाएगा, और जब तक विचार को आचार का रूप नही देंगे, तब तक हमारी स्थिति त्रिशकु के समान रहेगी। त्रिशकु की क्या स्थिति थी ? इसके सम्बन्ध मे यह कहा जाता है, कि वह स्वर्ग मे जाने के लिए धरती से ऊपर तो उठ गया, किन्तु स्वर्ग मे न पहुँच सका, धरती और स्वर्ग के बीच ही वह लटका रहा।

त्रिशकु के जीवन के सम्बन्ध मे, वैदिक पुराण मे यह कहा गया है, कि वह अपने युग का एक अन्यायी और अत्याचारी राजा था। एक बार उसने विचार किया, कि सब लोग जब स्वर्ग जाते हैं, तो अपने शरीर को यही छोड जाते हैं, परन्तु मुझे अपने इस तन से ही स्वर्ग जाना चाहिए। अपनी इस इच्छा की पूर्ति के लिए उसने अपने राज्य के पुरोहितो को एव तपस्वी ऋषियो को एकत्रित किया

और कहा—मैं स्वर्ग जाना चाहता हूँ क्या कोई उपाय है ? उन्होंने कहा—हाँ अवश्य है। उस अहंकारी राजा ने कहा—है, यह तो मैं भी जानता हूँ। परन्तु मैं अपने इस वर्तमान शरीर से ही स्वर्ग जाना चाहता हूँ। राजा की इस बात को सुनकर सबने इनकार कर दिया और कहा कि—आपको इस वर्तमान देह के साथ हम आपको स्वर्ग नहीं भेज सकते। लेकिन विश्वामित्र ने कहा—मैं भेज दूँगा आप जरा भी चिन्ता न करें। पुराण की कथा के अनुसार विश्वामित्र ने अपने तपोबल से उस राजा को धरती से ऊपर उठा दिया और वह ऊपर उठते-उठते स्वर्ग की ओर बढ़ा तो स्वर्ग के देवों को बड़ी चिन्ता हुई वे बोले—यह राजा बड़ा अन्यायी और अत्याचारी है, यदि यह स्वर्ग में आ गया तो इसे भी नरक बना देगा। देवताओं ने समवेत होकर उसे नीचे की ओर धकेल दिया वह ऊपर से ही विश्वामित्र से कहने लगा—स्वर्ग के यह देव मुझे आगे नहीं बढ़ने दे रहे हैं और मार रहे हैं। विश्वामित्र के मुँह से सहसा निकल पड़ा—वहीं ठहर और बस वह वहीं लटका रह गया। न वह स्वर्ग में जा सका और न नीचे धरती पर ही उतर सका।

यह एक पुराण की कहानी है। इसके मर्म को समझने का प्रयत्न कीजिए। इस प्रकार की स्थिति क्यों हो जाती है ? यह एक प्रश्न है। शास्त्रकारों का कहना है, कि जो लोग इस देह भाव में बँध गए हैं, वे आत्माएँ न आगे परम चेतन में जा रहे हैं और न वे वापिस ही लौट पाते हैं। जो आत्मा मुक्ति की प्राप्ति के लिए चला था वह मुक्ति प्राप्त न कर सका और न वह वापिस इस इस जीवन के धरातल पर उतर सका। जो न अध्यात्मवादी हो सका और न भौतिकवादी हो सका। उस मनुष्य के जीवन की स्थिति त्रिशंकु के समान होती है। वह न इधर का रहता है, न उधर का रहता है। जैन-दर्शन में जीवन विकास की चौदह भूमिकाएं मानी गई हैं, जिन्हें गुण स्थान कहते हैं, उन गुण स्थानों में एक 'मिश्र' गुण स्थान भी है, जिसमें आत्मा की यह स्थिति हो जाती है कि वह न तो सम्यक्त्व को ही प्राप्त कर पाता है और न वह मिथ्यात्व भाव में ही नीचे उतर पाता है। उसकी स्थिति झूले के समान डोलायमान रहती है कभी इधर और कभी उधर। अतः किसी एक किनारे की गति पर नहीं जम पाता है। इस गुण स्थान में साधकों की स्थिति त्रिशंकु के समान ही रहती है, जो न आगे बढ़ पाते हैं और न पीछे ही लौट पाते हैं। यह कहानी हमें यह शिक्षा देती है, कि बीच में ही लटकने वाले त्रिशंकु मत बनो। लोग प्रश्न पूछते हैं, कि आगे कैसे बढ़ें ? इस के समाधान में मैं केवल यही कहना चाहता हूँ कि एक लक्ष्य स्थिर करके निरन्तर आगे बढ़ने में ही मानव-जीवन का गौरव है। पर याद रखिए, आपके जीवन की यह प्रगति और विकास आपके अपने

वल पर ही होना चाहिए, किसी दूसरे के बल पर नही । राजा त्रिशकु ने, यदि अपने बल पर स्वर्ग-प्राप्ति का प्रयत्न किया होता, तो उसे सफलता मिल जाती । दूसरे की शक्ति पर अपना विकास सम्भव नही है । जो अपनी शक्ति को भूल कर दूसरे की शक्ति पर विश्वास करते हैं, उनकी दशा त्रिशकु के समान ही होती है । आपका जो कुछ पाना है, उसे आप अपने प्रयत्न से प्राप्त करें, आप जो कुछ बनना चाहते हैं, अपने प्रयत्न से बनें । विश्वामित्र की कितनी भी शक्ति क्यो न हो, किन्तु वह आपको स्वर्ग नही दिला सकती । विश्वामित्र का वल और शक्ति अपने आपको तो स्वर्ग पहुँचा सकती थी, किन्तु त्रिशकु को स्वर्ग नही पहुँचा सकी ।

मैं आपसे यह कह रहा था, कि मानव जीवन के दो पक्ष हैं—एक अमृत और दूसरा मर्त्य । एक अध्यात्म और दूसरा भौतिक । मनुष्य जब भौतिकवाद मे और अपने मर्त्य भाग मे ही बद्ध हो जाता है, तब उसे अमृत एव मोक्ष कैसे मिल सकता है ? मनुष्य को चाहिए, कि वह अपने जीवन को अध्यात्मवादी एव अमृतमय बनाए । मनुष्य के प्रत्येक कर्म मे और प्रत्येक क्रिया मे अमृत होना चाहिए । उसका विचार भी अमृत हो, उसकी वाणी भी अमृत हो और उसकी क्रिया भी अमृत हो, तभी वह अपने लक्ष्य पर पहुँच सकेगा । याद रखिए, जिनके जीवन की धरती पर अमृत नही है, उनकी आकाश की ऊँची उडान मे भी अमृत कहाँ से मिलेगा ? जीवन के कण-कण मे अमृत है और जीवन के कण-कण मे विष भी है । जिस प्रकार एक ही सागर मे से अमृत निकला, और विष भी निकला, उसी प्रकार मानव-जीवन के मथन से, मोक्ष का अमृत भी मिल सकता है और ससार का विष भी मिल सकता है । आप अपने जीवन को अमृतमय बनाते हैं अथवा विषमय बनाते हैं—यह आपके अपने हाथ की बात है । आप स्वर्ग मे जाना चाहें अथवा मोक्ष मे जाना चाहे, तो आपको कोई रोक नही सकता । इसके विपरीत यदि आप नरक मे जाना चाहे तो भी आपको कोई रोक नही सकता । आप अपनी भावना के अनुसार, भगवान भी वन सकते हैं और शैतान भी वन सकते हैं ।

मनुष्य का जीवन सकल्पमय होता है, वह जैसा भी सकल्प करता है, वैसा ही वन जाता है । मनुष्य के सकल्प मे वहुत वडी ताकत है । मनुष्य आज जो कुछ है और जैसा कुछ है, वह अपने पूर्व सकल्प का फल है और मनुष्य जो कुछ या जैसा कुछ होगा, वह अपने वतमान सकल्प का ही फल होगा । आपने सुना होगा, कि शास्त्रो मे कल्पवृक्ष का वर्णन आता है । कल्पवृक्ष की यह विशेपता मानी जाती है, कि उसके नीचे वैठकर मनुष्य जैसा भी सकल्प

और कहा—मैं स्वर्ग जाना चाहता हूँ क्या कोई उपाय है? उन्होंने कहा—हाँ अवश्य है। उस अहंकारी राजा ने कहा—है, यह तो मैं भी जानता हूँ। परन्तु मैं अपने इस वर्तमान शरीर से ही स्वर्ग जाना चाहता हूँ। राजा की इस बात को सुनकर सबने इनकार कर दिया और कहा कि—आपकी इस वर्तमान देह के साथ हम आपको स्वर्ग नहीं भेज सकते। लेकिन विश्वामित्र ने कहा—मैं भेज दूँगा आप जरा भी चिन्ता न करें। पुराण की कथा के अनुसार विश्वामित्र ने अपने तपोबल से उस राजा को धरती से ऊपर उठा दिया और वह ऊपर उठते-उठते स्वर्ग की ओर बढ़ा तो स्वर्ग के देवों को बड़ी चिन्ता हुई, वे बोले—यह राजा बड़ा अन्यायी और अत्याचारी है, यदि यह स्वर्ग में आ गया तो इसे भी नरक बना देगा। देवताओं ने समवेत होकर उसे नीचे की ओर धकेल दिया वह ऊपर से ही विश्वामित्र से कहने लगा—स्वर्ग के यह देव मुझे आने नहीं बढ़ने दे रहे हैं और मार रहे हैं। विश्वामित्र के मुँह से सहसा निकल पड़ा—वहीं ठहर और बस वह वहीं लटका रह गया। न वह स्वर्ग में जा सका और न नीचे धरती पर ही उतर सका।

यह एक पुराण की कहानी है। इसके मर्म को समझने का प्रयत्न कीजिए। इस प्रकार की स्थिति क्यों हो जाती है? यह एक प्रश्न है। शास्त्रकारों का कहना है, कि जो लोग इस देह भाव में बँध गए हैं, वे आत्माएँ न आगे परम चेतन में जा रहे हैं और न वे वापिस ही लौट पाते हैं। जो आत्मा मुक्ति की प्राप्ति के लिए चला था वह मुक्ति प्राप्त न कर सका और न वह वापिस इस इस जीवन के धरातल पर उतर सका। जो न अध्यात्मवादी हो सका और न भौतिकवादी हो सका। उस मनुष्य के जीवन की स्थिति त्रिशंकु के समान होती है। वह न इधर का रहता है, न उधर का रहता है। जैन-दर्शन में जीवन-विकास की चौदह भूमिकाएँ मानी गई हैं, जिन्हें गुण स्थान कहते हैं, उन गुण स्थानों में एक 'मिश्र गुण स्थान भी है, जिसमें आत्मा की यह स्थिति हो जाती है, कि वह न तो सम्यक्त्व को ही प्राप्त कर पाता है, और न वह मिथ्यात्व भाव में ही नीचे उतर पाता है। उसकी स्थिति झूले के समान डोलायमान रहती है कभी इधर और कभी उधर। अतः किसी एक किनारे की गति पर नहीं लग पाता है। इस गुण स्थान में साधकों की स्थिति त्रिशंकु के समान ही रहती है, जो न आगे बढ़ पाते हैं और न पीछे ही लौट पाते हैं। यह कहानी हमें यह शिक्षा देती है, कि बीच में ही लटकने वाले त्रिशंकु मत बनो। लोग प्रश्न पूछते हैं, कि आप कैसे बढ़ें? इस के समाधान में मैं केवल यही कहना चाहता हूँ कि एक लक्ष्य स्थिर करके निरन्तर आगे बढ़ने में ही मानव-जीवन का गौरव है। पर याद रखिए, आपके जीवन की वह प्रगति और विकास आपके अपने

बल पर ही होना चाहिए, किसी दूसरे के बल पर नहीं । राजा त्रिशकु ने, यदि अपने बल पर स्वर्ग-प्राप्ति का प्रयत्न किया होता, तो उसे सफलता मिल जाती । दूसरे की शक्ति पर अपना विकास सम्भव नहीं है । जो अपनी शक्ति को भूल कर दूसरे की शक्ति पर विश्वास करते हैं, उनकी दशा त्रिशकु के समान ही होती है । आपको जो कुछ पाना है, उसे आप अपने प्रयत्न से प्राप्त करें, आप जो कुछ बनना चाहते हैं, अपने प्रयत्न से बनें । विश्वामित्र की कितनी भी शक्ति क्यो न हो, किन्तु वह आपको स्वर्ग नही दिला सकती । विश्वामित्र का बल और शक्ति अपने आपको तो स्वर्ग पहुँचा सकती थी, किन्तु त्रिशकु को स्वर्ग नही पहुँचा सकी ।

मैं आपसे यह कह रहा था, कि मानव जीवन के दो पक्ष है—एक अमृत और दूसरा मर्त्य । एक अध्यात्म और दूसरा भौतिक । मनुष्य जब भौतिकवाद मे और अपने मर्त्य भाग मे ही बद्ध हो जाता है, तब उसे अमृत एव मोक्ष कैसे मिल सकता है ? मनुष्य को चाहिए, कि वह अपने जीवन को अध्यात्मवादी एव अमृतमय बनाए । मनुष्य के प्रत्येक कर्म मे और प्रत्येक क्रिया मे अमृत होना चाहिए । उसका विचार भी अमृत हो, उसकी वाणी भी अमृत हो और उसकी क्रिया भी अमृत हो, तभी वह अपने लक्ष्य पर पहुँच सकेगा । याद रखिए, जिनके जीवन की धरती पर अमृत नही है, उनको आकाश की ऊँची उडान मे भी अमृत कहाँ से मिलेगा ? जीवन के कण-कण मे अमृत है और जीवन के कण-कण मे विष भी है । जिस प्रकार एक ही सागर मे से अमृत निकला, और विष भी निकला, उसी प्रकार मानव-जीवन के मथन से, मोक्ष का अमृत भी मिल सकता है और ससार का विष भी मिल सकता है । आप अपने जीवन को अमृतमय बनाते हैं अथवा विषमय बनाते हैं—यह आपके अपने हाथ की बात है । आप स्वर्ग मे जाना चाहे अथवा मोक्ष मे जाना चाहे, तो आपको कोई रोक नही सकता । इसके विपरीत यदि आप नरक मे जाना चाहे तो भी आपको कोई रोक नही सकता । आप अपनी भावना के अनुसार, भगवान भी बन सकते हैं और शैतान भी बन सकते हैं ।

मनुष्य का जीवन सकल्पमय होता है, वह जैसा भी सकल्प करता है, वैसा ही बन जाता है । मनुष्य के सकल्प मे बहुत बडी ताकत है । मनुष्य आज जो कुछ है और जैसा कुछ है, वह अपने पूर्व सकल्प का फल है और मनुष्य जो कुछ या जैसा कुछ होगा, वह अपने वर्तमान सकल्प का ही फल होगा । आपने सुना होगा, कि शास्त्रो मे कल्पवृक्ष का वर्णन आता है । कल्पवृक्ष की यह विशेषता मानी जाती है, कि उसके नीचे बैठकर मनुष्य जैसा भी सकल्प

एवं विचार करता है, वह उसी प्रकार का बन जाता है। कल्प वृक्ष के नीचे बैठकर मनुष्य जिस किसी भी वस्तु की इच्छा करता है, वह वस्तु उसके समक्ष तुरन्त ही उपस्थित हो जाती है। कल्प वृक्ष के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं।

एक बार की बात है, कि एक व्यक्ति किसी विकट वन में से यात्रा कर रहा था। जबकि वह घने जंगल में से चला जा रहा था तो चलते-चलते वह थक गया। विश्राम लेने के लिए वह एक वृक्ष के नीचे बैठा। जिस वृक्ष के नीचे वह बैठा था वह कल्पवृक्ष था किन्तु उस व्यक्ति को इसका परिज्ञान नहीं था। वह बैठा-बैठा सोचने लगा कि यह घनघोर जंगल है, विकट वन है, दूर-दूर तक कहीं पर भी मनुष्य दिखलाई नहीं पड़ता है। यदि इस भयानक जंगल में सिंह आ जाए तो क्या हो मुझे खा जाए? इस प्रकार उसके मन में सिंह का संकल्प और विचार आया। कल्पवृक्ष का तो यह स्वभाव है, कि जैसा संकल्प होता है, वैसी ही वस्तु उपस्थित हो जाती है। उसके संकल्प के अनुसार शेर उपस्थित हो गया और वह उससे भयभीत होकर वहीं मारा गया। जैसे उसके मन में सिंह के आने का संकल्प उत्पन्न हुआ था वैसे ही यदि उसके मन में सिंह के वापिस लौटने का संकल्प भी उत्पन्न हो गया होता तो कदाचित् वह न मरता। कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर जिस प्रकार उसने अपने मरण का विचार किया वैसे ही वह अपने जीवन-रक्षण का विचार भी कर सकता था किन्तु उसने वैसा संकल्प नहीं किया। उसने सिंह का संकल्प ही किया। कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर भी उसने मौत की बात ही सोची जबकि उसे सोचना यह था कि मेरे लिए इस जंगल में भी मंगल हो जाए। उस कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर वह व्यक्ति सुख की अभिलाषा करता शान्ति की अभिलाषा करता और आनन्द की अभिलाषा करता तो उसे वह सब कुछ मिल सकता था। यह तो बाहर के कल्पवृक्ष की बात है। इस प्रकार का कल्पवृक्ष कहीं पर है, अथवा नहीं है, इस बात का विचार मत कीजिए, किन्तु आप विचार कीजिए, कि आपका अपना मन ही एक कल्पवृक्ष है। उस मनरूपी कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर आप जैसा भी विचार और संकल्प करते हैं आपका जीवन वैसा ही बन जाता है। यदि आप अपने इस मन के कल्पवृक्ष के नीचे बैठ कर क्रोध की बात सोचते हैं, तो वह क्रोध ही सिंह बन जाता है। यदि आप इस मन के कल्प वृक्ष के नीचे बैठकर अभिमान का विचार करते हैं, माया का विचार करते हैं, लोभ का विचार करते हैं, और वासना एवं कामना का विचार करते हैं, तब आपको सुख शान्ति और आनन्द कैसे मिल सकता है? दुर्भाग्य है, कि आप अपने मन के कल्पवृक्ष के नीचे बैठ कर भी विषमय संकल्प

ही करते हैं, अमृतमय सकल्प नही कर पाते । मनुष्य का सकल्प ही मनुष्य को खा जाता है और मनुष्य के मन का सकल्प ही उसके जीवन की रक्षा कर लेता है । मनुष्य के मन मे जब बुरे विकल्पो की आग प्रज्वलित हो जाती है, तो वह स्वय ही उसमे नही जलता, उसका परिवार, उसका समाज और उसका राष्ट्र भी उसमे जल जाता है । रावण के मन मे वासना की जो आग जल उठी थी, उससे केवल रावण ही नही मरा, उसका सारा घर और उसका सारा साम्राज्य ही उस आग मे जलकर खाक हो गया था । दुर्योधन के मन मे जो ईर्ष्या की आग जली थी, उसमे केवल दुर्योधन ही नही जला, अपितु सम्पूर्ण कौरव वश ही दग्ध हो गया था । मानव-मन के इस सकल्प मे आग लगाने की शक्ति भी है और उसमे आग बुझाने की शक्ति भी है ।

आपने सुना होगा, कि राजकुमार गजसुकुमार श्रीकृष्ण के लघुभ्राता थे, इसलिए श्रीकृष्ण का उस पर अपरिमित प्रेम था । माता देवकी और पिता वसुदेव का तो वह लाडला था ही । सुवर्ण के सुनहरी राजमहल मे उसका जन्म हुआ, भोग और विलासमय वातावरण मे उसका सवर्धन हुआ, उसके चारो ओर भोग और विलास ही फैला हुआ था । उसके सकल्प की धारा भी उधर ही प्रवाहित हो चुकी थी, जिधर उस राजमहल मे रहने वाले अन्य व्यक्तियो की हो रही थी । राजकुमार गजसुकुमार उससे भिन्न बात नही सोच सकता था, जो भोग-विलास में पला एक राजकुमार सोच सकता है । किन्तु जब एक बार राजकुमार ने भगवान नेमिनाथ की वैराग्यमयी वाणी सुन ली, तब उसका प्रसुप्त मन एक दम प्रबुद्ध हो गया । मन के सकल्प की जो धारा भोग और विलास की ओर बह रही थी, वह अब त्याग और वैराग्य की ओर बहने लगी । उसके इस त्यागमय जीवन की आभा को देखकर समग्र राजमहल सशकित हो उठा । उसके मन को वैराग्य से खीचकर भोग-विलास मे लगाने का प्रयत्न किया गया । इस प्रयत्न का प्रथम चरण था, उसे राज्य सिंहासन पर बैठा देना । राजकुमार गजसुकुमार को द्वारिका नगरी के विशाल साम्राज्य के सिंहासन पर बैठाकर, जब पूछा गया कि आप क्या चाहते हैं और आपका क्या आदेश है ? अब आप राजा हैं और हम सब यादव आपकी प्रजा हैं, क्या चाहिए आपको, आज्ञा दीजिए । आपको मालूम है, जब एक क्षत्रिय कुमार अपने राज्य के सिंहासन पर आसीन होता है, तब वह क्या सोच सकता है ? वह यही सोच सकता है, कि किसी सुन्दर राजकुमारी के साथ उसका विवाह हो जाए । रहने के लिए सुन्दर-सुन्दर महल बनवा दिए जाएँ । यदि कोई पडोस का शत्रु सिर उठाता है, तो उसे कुचल दिया जाए और अपनी शक्ति से उसके राज्य पर अधिकार कर लिया जाए । अधिक से अधिक वह यह सोच

सकता है कि उसके भोग और विलास के लिए राज्य के सुन्दर से सुन्दर पदार्थ उसे अर्पित कर दिए जाएँ। उसके मन में सुरा और सुन्दरी के सिवाय अन्य किसी प्रकार का स्वप्न होता ही नहीं है। भोग विलास वासना और कामना की चारदिवारी के बाहर झाँकने की उसमें शक्ति नहीं होती है। इतिहास हमें बताता है कि संसार के समस्त राजकुमारों के सोचने की यही दिशा रही है। परन्तु संसार में उत्सर्ग का अपवाद भी होता है। सामान्य का विशेष भी होता है। राजकुमार गजसुकुमार के सम्बन्ध में हम ऐसा नहीं कह सकते। उसके सोचने और समझने की दिशा अलग थी। जीवन को मापने का उसका गज अलग था। वह सत्ता सम्पत्ति तथा सुरा और सुन्दरी से और भोग-विलास से ऊपर उठकर एक बात और सोच रहा था वह थी त्याग की और वैराग्य की। उसने यादव जाति के सरदारों से कहा—यदि आप मेरी आज्ञा का पालन करना चाहते हैं, तो मेरी यही आज्ञा है, कि आप शीघ्र से शीघ्र मेरी दीक्षा की तैय्यारी करें मैं शीघ्रातिशीघ्र भगवान नेमिनाथ के चरणों में पहुँचकर इस भोगमय जीवन को छोड़कर, त्यागमय जीवन अंगीकार करना चाहता हूँ। इसके अतिरिक्त न मेरी अन्य अभिलाषा है और न मेरी अन्य इच्छा है। आपने देखा कि राज्य के सिंहासन पर बैठकर राजकुमार जिस रँगीली दुनियाँ का स्वप्न लेते हैं, गजसुकुमार का जीवन उसका अपवाद है। इसका मुख्य कारण यही है, कि जिसके मन में अमृत है, वह विष की बात नहीं सोच सकता। जिसके मन में त्याग और वैराग्य की बात है, वह भोग विलास का संकल्प नहीं कर सकता।

मैं आपसे मनुष्य के मन के संकल्प की बात कह रहा था। मनुष्य के मन के संकल्प कितने हैं ? उनकी सीमा का अंकन नहीं किया जा सकता। मनुष्य के मन की प्रत्येक इच्छा उसका एक संकल्प है। इच्छाएँ अनन्त हैं इसलिए मनुष्य के मन के संकल्प भी अनन्त हैं। इस समग्र लोक को और इस समस्त ब्रह्माण्ड को भी यदि किसी एक मनुष्य के मन के संकल्पों से भरने का प्रयत्न किया जाए तो यह समस्त लोक और समस्त ब्रह्माण्ड भर जाएगा किन्तु मनुष्य के मन के संकल्प फिर भी शेष बचे रहेंगे। मनुष्य के मन के संकल्प और विकल्प इतने हैं कि उनका कभी अन्त नहीं पाया जा सकता। जागते भी संकल्प और सोते भी संकल्प। क्या संकल्प की दुनिया का कहीं अन्त है ? एक बार एक सज्जन दर्शन करने के लिए मेरे पास आए। रात्रि को वह स्थानक में ही सो गए। दिन में थकावट के कारण और लम्बी यात्रा के कारण उन्हें शीघ्र ही नींद आ गई। सोने के बाद नींद में वह बड़बड़ाने लगा और फिर गाली देने लगा। सहसा मेरी नींद खुल गई। मैंने सोचा किसकी किससे लड़ाई हो रही

है, इस मध्य रात्रि में कौन किस को गाली दे रहा है ? देखने पर पता चला कि अन्य कोई नही है,दर्शनो को आया हुआ सज्जन ही, नीद मे वडवडाता हुआ गाली दे रहा है। उससे पूछा गया कि क्या वात है, किससे लड रहे हो, क्यो लड रहे हो, और गाली क्यो दे रहे हो ? वह वोला—महाराज श्री ! क्या वात है ? उल्टा महाराज से ही पूछने लगा, कि क्या वात है ? मैंने धीरे से पूछा, अभी तुम कुछ देर पहले गाली किसे दे रहे थे ? कुछ सोचकर वह वोला—हाँ ठीक है, मैं अभी एक स्वप्न देख रहा था। मैंने स्वप्न मे देखा, मेरी मेरे भाई से लडाई हो गई है और मैं गाली अन्य किसी को नही, अपने भाई को ही दे रहा था। इस प्रसग पर से आप यह जान सकते हैं, कि निद्रा की दशा मे भी मनुष्य अपने सकल्पो से विमुक्त नही होने पाता। जागृत अवस्था मे ही नही, स्वप्नावस्था मे भी वह लडता है, झगडता है और गाली देता है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है, कि मनुष्य जीवन का उत्थान और पतन उसके मन के सकल्प के अनुसार ही होता है। मनुष्य अपने सकल्प के अनुसार ही रावण वनता है, और मनुष्य अपने सकल्प के अनुसार ही राम वनता है। मनुष्य के मन का अशुभ सकल्प उसे रावण बना देता है, तो मनुष्य के मन का शुभ सकल्प उसे राम बना देता है। मनुष्य के जीवन की जय-पराजय उसके शुभ एव अशुभ सकल्पो पर ही आधारित है। मनुष्य के सकल्प मे बडी ताकत है।

मैं आपसे यह कह रहा था, कि मनुष्य के विचार मे अमृत भी है, और मनुष्य के मन मे विष भी है। विष और अमृत कही बाहर नही रहते। वे मनुष्य के विचार एव सकल्प मे ही रहते हैं। किसी मे प्रेम करना यह भी एक विचार है और किसी से घृणा करना भी एक विचार ही है। परन्तु यह निश्चित है, कि घृणा एक विकल्प है और प्रेम एक सकल्प है। घृणा की अपेक्षा, प्रेम की शक्ति अधिक होती है। क्रोध और शान्ति के द्वन्द्व युद्ध मे, क्रोध पराजित हो जाता है और शान्ति की विजय होती है। यद्यपि क्रोध भी एक विचार है और शान्ति भी एक विचार है, किन्तु एक अशुद्ध है और दूसरा शुद्ध है। विष और अमृत के सघर्ष मे, विजय सदा अमृत को ही मिलती है। आपने वह कहानी सुनी होगी, जिसमे वताया गया है कि अमृतयोगी भगवान महावीर ने एक भयकर दृष्टि-विष चण्डकौशिक सर्प का शान्ति और प्रेम के आधार पर उद्धार कर दिया था। भगवान महावीर विहार-यात्रा करते-करते, जब उस विकट वन की ओर जाने लगे, जहाँ चण्डकौशिक सर्प रहता था, तब वहाँ पर रास्ते मे खडे हुए चरवाहो और ग्वाल वालो ने भगवान को उधर जाने से रोका और वोले—इधर एक भयकर सर्प रहता है, आप

सकता है, कि उसके भोग और विलास के लिए राज्य के सुन्दर से सुन्दर पदार्थ उसे अर्पित कर दिए जाएँ। उसके मन में सुरा और सुन्दरी के सिवाय अन्य किसी प्रकार का स्वप्न होता ही नहीं है। भोग विलास वासना और कामना की चारदिवारी के बाहर झाँकने की उसमें शक्ति नहीं होती है। इतिहास हमें बताता है, कि संसार के समस्त राजकुमारों के सोचने की यही दिशा रही है। परन्तु संसार में उत्सर्ग का अपवाद भी होता है। सामान्य का विशेष भी होता है। राजकुमार गजसुकुमार के सम्बन्ध में हम ऐसा नहीं कह सकते। उसके सोचने और समझने की दिशा अलग थी। जीवन को नापने का उसका गज अलग था। वह सत्ता सम्पत्ति तथा सुरा और सुन्दरी से और भोग-विलास से ऊपर उठकर एक बात और सोच रहा था वह थी त्याग की और वैराग्य की। उसने यादव जाति के सरदारों से कहा—यदि आप मेरी आज्ञा का पालन करना चाहते हैं, तो मेरी यही आज्ञा है, कि आप शीघ्र से शीघ्र मेरी दीक्षा की तैय्यारी करें मैं शीघ्रातिशीघ्र भगवान नेमिनाथ के चरणों में पहुँचकर इस भोगमय जीवन को छोड़कर, त्यागमय जीवन अंगीकार करना चाहता हूँ। इसके अतिरिक्त न मेरी अन्य अभिलाषा है और न मेरी अन्य इच्छा है। आपने देखा कि राज्य के सिंहासन पर बैठकर राजकुमार जिस रँगीली दुनियाँ का स्वप्न लेते हैं, गजसुकुमार का जीवन उसका अपवाद है। इसका मुख्य कारण यही है, कि जिसके मन में अमृत है, वह विष की बात नहीं सोच सकता। जिसके मन में त्याग और वैराग्य की बात है, वह भोग विलास का संकल्प नहीं कर सकता।

मैं आपसे मनुष्य के मन के संकल्प की बात कह रहा था। मनुष्य के मन के संकल्प कितने हैं? उसकी सीमा का अंकन नहीं किया जा सकता। मनुष्य के मन की प्रत्येक इच्छा उसका एक संकल्प है। इच्छाएं अनन्त हैं इसलिए मनुष्य के मन के संकल्प भी अनन्त हैं। इस समग्र लोक को और इस समस्त ब्रह्माण्ड को भी यदि किसी एक मनुष्य के मन के संकल्पों से भरने का प्रयत्न किया जाए तो यह समस्त लोक और समस्त ब्रह्माण्ड भर जाएगा किन्तु मनुष्य के मन के संकल्प फिर भी शेष बचे रहेंगे। मनुष्य के मन के संकल्प और विकल्प इतने हैं कि उनका कभी अन्त नहीं पाया जा सकता। जागते भी संकल्प और सोते भी संकल्प। क्या संकल्प की दुनिया का कहीं अन्त है? एक बार एक सज्जन दर्शन करने के लिए मेरे पास आए। रात्रि को वह स्थानक में ही सो गए। दिन में थकावट के कारण और अपनी लम्बी यात्रा के कारण, उसे शीघ्र ही नींद आ गई। सोने के बाद नींद में वह बड़बड़ाने लगा और फिर गाली देने लगा। सहसा मेरी नींद खुल गई। मैंने सोचा किसकी किससे लड़ाई हो रही

है, इस मध्य रात्रि में कौन किस को गाली दे रहा है ? देखने पर पता चला कि अन्य कोई नही है, दर्शनो को आया हुआ सज्जन ही, नीद मे वडवडाता हुआ गाली दे रहा है। उससे पूछा गया कि क्या वात है, किससे लड रहे हो, क्यो लड रहे हो, और गाली क्यो दे रहे हो ? वह वोला—महाराज श्री ! क्या वात है ? उल्टा महाराज से ही पूछने लगा, कि क्या वात है ? मैंने धीरे से पूछा, अभी तुम कुछ देर पहले गाली किसे दे रहे थे ? कुछ सोचकर वह वोला—हाँ ठीक है, मैं अभी एक स्वप्न देख रहा था। मैंने स्वप्न मे देखा, मेरी मेरे भाई से लडाई हो गई है और मैं गाली अन्य किसी को नही, अपने भाई को ही दे रहा था। इस प्रसग पर से आप यह जान सकते हैं, कि निद्रा की दशा मे भी मनुष्य अपने सकल्पो से विमुक्त नही होने पाता। जागृत अवस्था मे ही नही, स्वप्नावस्था मे भी वह लडता है, झगडता है और गाली देता है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है, कि मनुष्य जीवन का उत्थान और पतन उसके मन के सकल्प के अनुसार ही होता है। मनुष्य अपने सकल्प के अनुसार ही रावण वनता है, और मनुष्य अपने सकल्प के अनुसार ही राम वनता है। मनुष्य के मन का अशुभ सकल्प उसे रावण वना देता है, तो मनुष्य के मन का शुभ सकल्प उसे राम वना देता है। मनुष्य के जीवन की जय-पराजय उसके शुभ एव अशुभ सकल्पो पर ही आधारित है। मनुष्य के सकल्प मे वडी ताकत है।

मैं आपसे यह कह रहा था, कि मनुष्य के विचार मे अमृत भी है, और मनुष्य के मन मे विष भी है। विष और अमृत कही वाहर नही रहते। वे मनुष्य के विचार एव सकल्प मे ही रहते हैं। किसी मे प्रेम करना यह भी एक विचार है और किसी से घृणा करना भी एक विचार ही है। परन्तु यह निश्चित है, कि घृणा एक विकल्प है और प्रेम एक सकल्प है। घृणा की अपेक्षा, प्रेम की शक्ति अधिक होती है। क्रोध और शान्ति के द्वन्द्व युद्ध में, क्रोध पराजित हो जाता है और शान्ति की विजय होती है। यद्यपि क्रोध भी एक विचार है और शान्ति भी एक विचार है, किन्तु एक अशुद्ध है और दूसरा शुद्ध है। विष और अमृत के सघर्ष मे, विजय सदा अमृत को ही मिलती है। आपने वह कहानी सुनी होगी, जिसमे बताया गया है कि अमृतयोगी भगवान महावीर ने एक भयकर दृष्टि-विष चण्डकौशिक सर्प का शान्ति और प्रेम के आधार पर उद्धार कर दिया था। भगवान महावीर बिहार-यात्रा करते-करते, जब उस विकट वन की ओर जाने लगे, जहाँ चण्डकौशिक सर्प रहता था, तब वहाँ पर रास्ते मे खडे हुए चरवाहो और ग्वाल बालो ने भगवान को उधर जाने से रोका और बोले—इधर एक भयकर सर्प रहता है, आप

इधर से न जाकर उधर से चले जाइए। ग्वाल बालों ने देखा कि उनके इनकार करने पर भी वह अमृत योगी संत उधर ही जा रहा है और ग्वाल बाल भयभीत हो गए कि अब यह बच नहीं सकेगा। बात यह है कि जब मनुष्य के अपने मन में भय होता है तब सृष्टि में सर्वत्र उसे भय ही भय नजर आता है। जब अपने मन में क्रोध होता है तो उसे सर्वत्र क्रोध ही दिखाई देता है और जब अपने मन में शान्ति होती है, तो सर्वत्र उसे शान्त वातावरण ही मिलता है। आश्चर्य है, मनुष्य सर्प से भयभीत होता है क्योंकि वह जहरीला होता है, और उसके डसने से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है, किन्तु मनुष्य यह नहीं सोचता कि उसके मन में रहने वाला क्रोध का सर्प बाहर के सर्प से भी अधिक जहरीला और भयंकर होता है। भगवान महावीर ने अपने मन के अमृत से चण्डकौशिक सर्प के मन के विष को दूर कर दिया। फलस्वरूप उस चण्डकौशिक ने देवत्व प्राप्त कर लिया और यह कथा आस-पास सर्वत्र फैल गई। सभी लोगों ने समझा कि यह सब चमत्कार उस अमृत योगी संत का ही है। मैं आपसे कहता हूँ, कि बाहर के सर्प से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है, आपके मन का सर्प ही अधिक भयंकर और जहरीला होता है। रावण भयंकर इसीलिए था कि उसके अन्दर का रावण भयंकर था चण्डकौशिक भी इसीलिए भयंकर था कि उसके अन्दर का मन भयंकर था। एक ही बात याद रखिए, अन्दर की ज्योति जगमगाने पर ही बाहर का जीवन ज्योतिर्मय बन सकेगा। मन को जीतने पर सभी कुछ जीता जा सकेगा।

★

स्वभाव और विभाव :

दर्शन-शास्त्र क्या है ? जीवन और जगत की व्याख्या करने वाला शास्त्र, दर्शन-शास्त्र कहा जाता है। दर्शन का जन्म मानव के मन की कल्पना से प्रसूत नही है, वल्कि उसका जन्म मानव-जीवन की वास्तविक परिस्थिति से हुआ है। यह हो सकता है, कि कुछ दर्शन-शास्त्र, जिनका झुकाव वुद्धिवाद की ओर अधिक है, जीवन से दूर प्रतीत होते हैं, किन्तु भारत के सभी दर्शनो के सम्बन्ध मे यह नही कहा जा सकता। भारत मे कुछ दर्शन व्यवहारवादी भी हैं। कुछ समन्वयवादी भी हैं, जिनमे वुद्धि और व्यवहार का सुन्दर समन्वय किया गया है। जीवन व्यावहारिक होते हुए भी, वह वुद्धिवादी अवश्य है और वुद्धिवादी होकर भी वह व्यवहारवादी अवश्य है। क्योकि भारत मे धर्म और दर्शन को एकान्त भिन्न नही माना गया है। भारतीय दर्शन की प्रत्येक शाखा मे दर्शन का धर्म के साथ और धर्म का दर्शन के साथ योग बैठाने का प्रयत्न किया गया है। चिन्तन का स्वतत्र और असीम होना तो अच्छा है, किन्तु उसकी जड मानव-जीवन की धरती के अन्दर रहनी चाहिए। भारतीय दर्शन मे जीवन का जगत के साथ और जगत का जीवन के साथ समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। भारतीय दर्शन कितना भी अधिक वुद्धिवादी क्यो न हो जाए, किन्तु उसे कहीं-न-कही पर श्रद्धावादी अवश्य ही वनना पडता है। विशेपत यह सत्य उन दर्शनो के

सम्बन्ध में है जो अपने आपको आध्यात्मवादी दर्शन कहते हैं। श्रद्धा और तर्क दोनों को आवश्यक मानकर भी दोनों की सीमा का अंकन किया गया है। सीमाहीन श्रद्धा अन्धी होगी और सीमाहीन तर्क पंगु होगा। पश्चिम के दर्शन में व्यवहार की अपेक्षा बौद्धिक विलास अधिक है और कल्पना की उड़ान अधिक है। पूर्वी दर्शन में चिन्तन के साथ अनुभव का भी महत्व रहा है। यही कारण है कि भारतीय चिन्तन की धारा केवल विचार के शून्य लोक में ही विलीन नहीं होती इसका मंगलमय पथ सदा जीवन का ठोस धरातल हो रहा है। भारतीय दर्शन का मुख्य प्रयोजन मानव-जीवन का अभिसिंचन रहा है। संक्षेप में भारतीय दर्शन का यदि सार कथन करना हो तो तीन शब्दों में किया जा सकता है—आध्यात्मिक उद्देश्य व्यावहारिक मार्ग और मंगलमयी प्रगति। मेरे अपने विचार में आध्यात्मिकता भारतीय दर्शन की मूल आत्मा है। आध्यात्मिकता से शून्य भारत की भूमि में दर्शन का कोई मूल्य नहीं है। जब तक दर्शन अपना मूलाधार आत्मा को नहीं बनाता है, तब तक उसकी सत्ता और स्थिति सुरक्षित नहीं रह सकती। उदाहरण के लिए चार्वाक दर्शन को ही लीजिए, इसमें बुद्धिवाद की ऊँची उड़ान होते हुए भी आत्मा की सत्ता से इन्कार करने के कारण यह स्वयं अपनी ही सत्ता विलुप्त कर बैठा। आध्यात्मिक होने के कारण ही भारतीय दर्शन में धर्म और नीति का समन्वय रहा है। इसके विपरीत पश्चिमी दर्शन में हम धर्म और नीति को अलग-अलग सीमाओं मे बद्ध पाते हैं। हमें इस सत्य को कभी नहीं भूलना चाहिए, कि दर्शन केवल दर्शन के लिए नहीं है अपितु वह जीवन के लिए है, जीवन को सुन्दर और मधुर बनाने के लिए है।

मैं आपसे भारतीय दर्शन की मूल आत्मा के सम्बन्ध में विचार कर रहा था दर्शन शास्त्र हमारे जीवन को मंगलमय और आनन्दमय बनाने का तथा जीवन के मूल स्वरूप को समझने का एक मुख्य साधन है। चार्वाक को छोड़ कर भारत के शेष समस्त दर्शन आत्मा की सत्ता और स्थिति में विश्वास करते हैं। केवल चार्वाक दर्शन ही एक ऐसा दर्शन है, जो केवल भूतवाद में विश्वास रखता है। उसकी दृष्टि में इस विश्व में कोई ऐसा सचेतन पदार्थ नहीं है, जो सदा स्थायी रहता हो। इसके विपरीत अन्य भारतीय दर्शन जो वस्तुतः अध्यात्मवादी हैं, उनका कथन है, कि इस परिवर्तनशील संसार में भी आत्मा एक स्थायी तत्व है। इस प्रकार आत्मा की अमरता में जिन दर्शनों का विश्वास है उन दर्शनों को अध्यात्मवादी दर्शन कहा जाता है। दर्शन शास्त्र का मुख्य प्रयोजन यह है, कि वह इस दृश्यमान जगत के रहस्यों की

व्याख्या करता है। जीवन के सम्बन्ध मे वह हमे बतलाता है, कि जीवन की शक्ति क्या है और उसका उपयोग किस प्रकार किया जाना चाहिए ? जीवन एक वह शक्ति है जिसके आधार पर हमारी समस्त साधनाएँ चलती हैं। परन्तु दर्शन शास्त्र के सामने सबसे बडा प्रश्न यह रहा है, कि वह इस जगत और इस जीवन मे समन्वय स्थापित करे। मात्र जीवन पर विश्वास करने से भी काम नही चलता, दूसरी ओर जीवन को भूलकर केवल जगत की रट लगाने से भी कार्य की सिद्धि नही हो सकती है। मेरे विचार मे जगत को समझना भी तभी सार्थक हो सकता है, जब कि पहले हम जीवन को समझने का प्रयत्न करेंगे। जीवन पर ही सब कुछ आधारित है। यदि जीवन नही है, तो शास्त्र भी निरर्थक है, यह कला और विज्ञान भी व्यर्थ है। इन सबकी सार्थकता जीवन पर ही निर्भर है।

मैं आपसे जीवन की चर्चा कर रहा था। जीवन क्या है ? यह एक विकट प्रश्न है, फिर भी समय समय पर विश्व के बुद्धिमान् विद्वानो ने इसे समझने का और इसकी उलझन को सुलझाने का प्रयत्न किया है। वस्तुत जीवन की एक परिभाषा नही हो सकती। एक योद्धा के लिए, युद्ध ही जीवन है। एक कवि के लिए, काव्य ही जीवन है। एक दार्शनिक के लिए, चिन्तन ही जीवन है। एक वैराग्य शील साधक के लिए जीवन एक निरन्तर प्रवाहित सरिता के समान अस्थिर है। इस प्रकार जीवन की परिभाषा एक न होने पर भी, जीवन का उद्देश्य और जीवन का लक्ष्य एक हो सकता है, इसमे किसी प्रकार के विवाद को अवकाश नही है। एक भारतीय दार्शनिक से पूछा गया— 'किं जीवनम् ?' आपके विचार मे जीवन क्या है ? हम जीवन किसको कहें ? उत्तर मे उन्होने यही कहा, कि—"दोष-विवर्जित यत्।" अर्थात् दोष शून्य जीवन को ही वस्तुत जीवन कहा जाता है। मेरे विचार मे जीवन एक जागरण है, सुषुप्ति नही। जीवन एक उत्थान है, पतन नही। जीवन का उद्देश्य है, वहाँ पहुँचना, जहाँ किसी भी प्रकार का द्वन्द्व और सघर्ष शेष नही रहता। जीवन का उद्देश्य है, तमसाच्छन्न एव अधकारमय पथ को पार करके, अनन्त, अक्षय, अजर, अमर दिव्य ज्योति का साक्षात्कार करना। इस प्रकार जीवन के सम्बन्ध मे विश्व के महान् चिन्तको ने विभिन्न रूपो मे विचार किया है। जीवन के सम्बन्ध मे महान् नाटककार शेक्सपियर कहता है— Out, out brief candle, life's but a walking shadow" क्षणिक प्रकाश देने वाले दीपक बुझो, जीवन तो केवल एक चलती फिरती छाया है।" जर्मनी के महान चिन्तक गेटे ने जीवन के सम्बन्ध मे कहा है—

A useless life is an early death. अनुपयोगी जीवन शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। इसी गेटे ने जीवन के सम्बन्ध में यह भी लिखा है कि—
Life is the childhood of our Immortality जीवन अमरता का शैशवकाल है। अर्थात् आत्मा की अमरता की अभिव्यक्ति जीवन से ही हो सकती है। पाश्चात्य जगत का महान विचारक सापेन हॉवर कहता है—
Life is nothing, but a short postponement of death. ' जीवन अन्य कुछ नहीं है, केवल कुछ समय के लिए मृत्यु की घड़ियों को टालना ही जीवन है।" इस प्रकार जीवन के सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों के विविध विचार उपलब्ध होते हैं। परन्तु जीवन चेतना की एक अभिव्यक्ति है। इसमें किसी को किसी प्रकार का विचार-भेद नहीं हो सकता। जगत के सम्बन्ध में भी विभिन्न विचारकों ने अपने विभिन्न विचार प्रस्तुत किए हैं। कुछ कहते हैं, जगत् नित्य है और कुछ कहते हैं जगत् अनित्य है। कुछ कहते हैं प्रकृति का प्रपंच है कुछ कहते हैं परमाणुओं का खेल है। और कुछ कहते हैं कि जगत् शून्य है, केवल ब्रह्म का ही विवर्त है। जगत की चर्चा दूर चली जाती है, आज का हमारा प्रस्तुत विषय जीवन-दर्शन ही है।

मैं आपसे यह कह रहा था कि दर्शन-शास्त्र का मुख्य विषय क्या है? और दर्शन-शास्त्र मानव-जीवन को क्या प्रेरणा देता है? जीवन और जगत् जैसा है, उसे उस रूप में प्रतिपादित करना ही वस्तुतः दर्शन का एक मात्र लक्ष्य रहा है। परन्तु हम यह देखते हैं, कि संसार में जितने भी जड़रूप और चेतनरूप पदार्थ हैं, उनके स्वरूप में और उनके लक्षण में विचारकों में परस्पर विभेद होते हुए भी इस बात में कोई विचार-भेद नहीं है, कि विश्व के प्रत्येक पदार्थ में अपनी एक शक्ति रहती है। अगर देखा जाए तो प्रत्येक पदार्थ की शक्ति सबसे बड़ी चीज है। संसार में हजारों चीजें हैं अगर उनमें शक्ति नहीं है, तो कुछ भी नहीं है। वेदान्त शाखा के एक आचार्य ने बड़ी सुन्दर बात कही है। वह प्रश्न करता है कि शिव शिव क्यों है? शिव में शिवत्व क्या है? शिव को शिव बनाने वाला कौन है? अनन्तर उत्तर में वह कहता है कि शिव के अन्दर रहने वाली शक्ति ही शिव को शिव बनाती है। यदि शिव में शक्ति है तो वह शिव है नहीं तो शव है। शक्तिहीन शिव शव कहा जाता है। शिव और शव में क्या भेद है? व्याकरण-शास्त्र की दृष्टि से केवल शकारस्थ अ कार और इ कार का ही भेद है, किन्तु पदार्थ-विवेचन की दृष्टि से बहुत बड़ा भेद है। शिव का अर्थ है—आत्मतत्त्व और शव का अर्थ है—मृत कलेवर। शक्ति के कारण ही शव में शिवत्व है किन्तु जब उसमें से शक्ति

निकल जाती है, तव वह मात्र शव वन जाता है। शव, किसी प्रकार का सघर्ष नही कर सकता। जिन्दगी के किसी भी मोर्चे पर लड नही सकता। शव मे अडने की और खडे रहने की शक्ति नहीं होती, इसलिए जीवन के किसी भी मोर्चे पर वह विजय प्राप्त नहीं कर सकता। शव न भौतिक विकास कर पाता है और न आध्यात्मिक विकास ही कर पाता है। उसके भाग्य मे विकास और उत्थान नहीं है, ह्रास और पतन ही लिखा होता है। शक्तिहीन शव सडने के लिए होता है और अन्त मे जला डालने के लिए होता है। ससार के प्रत्येक पदार्थ की सही स्थिति है, उसके अन्दर रहने वाली शक्ति जव विलुप्त हो जाती है, तव वह पदार्थ, पदार्थ ही नही रह पाता। कल्पना कीजिए आपके घर के प्रागण में एक हराभरा वृक्ष खडा है, उसमे सुन्दर किसलय लगते हैं, महकते फूल खिलते हैं, और रसीले फल लगते हैं, परन्तु यह कव तक, जव तक कि उस वृक्ष की जड मे, जो धरती मे नीचे गहरी पहुँची हुई है, जीवन-शक्ति विद्यमान है। जव उसकी जीवन-शक्ति सूख अथवा नष्ट हो जाती है, तव उसमे न पत्ते रह पाते हैं, न फूल रह पाते हैं और न फल ही रह पाते हैं। तव वह वृक्ष न रहकर केवल सूखा ठूंठ हो जाता है और ठूंठ का उपयोग वृक्ष के रूप मे न होकर, काटकर लकडी की चीजो के लिए, या जला डालने के लिए होता है, और कुछ नही। जो सिद्धान्त वृक्ष के सम्वन्ध मे कहा गया है, वही सिद्धान्त ससार के समस्त पदार्थों पर लागू होता है। मानव-जीवन के सम्वन्ध मे भी यही सत्य है, कि शक्ति रहते ही अथवा यो कहिए कि शक्ति के अनुकूल रहते ही वह अपना विकास कर पाता है, विना शक्ति एव उसकी अनुकूलता के न अपना कल्याण होता है, और न दूसरे का ही। जो शिव है, उसे शक्ति से अर्थात् शुद्ध शक्ति युक्त होना ही चाहिए। तभी वह अपना और दूसरे का कल्याण कर सकता है।

जव हम आत्मा के स्वरूप की चर्चा करते हैं, तव हम यह समझ पाते हैं, कि आत्मा मे अनन्त गुण हैं। प्रत्येक गुण अपने आप मे एक शक्ति है। जव प्रत्येक गुण शक्ति है, तव आत्मा मे एक ही शक्ति नहीं, वल्कि अनन्त शक्ति हो जाती हैं। इसी आधार पर आत्मा को अनन्त शक्ति-पुज कहा जाता है। जैन-दर्शन की दृष्टि से केवल आत्मा मे ही नही, ससार के प्रत्येक पदार्थ मे अनन्तगुण माने गए हैं। इसलिए ससार का प्रत्येक पदार्थ अनन्त शक्ति-सम्पन्न और अनन्त गुण-सम्पन्न होता है। जैन-दर्शन का यह चिन्तन केवल कल्पनामूलक नही है, वल्कि उसका यह यथार्थवादी दृष्टिकोण है। जवकि मनुष्य अनन्त शक्ति सम्पन्न है और उसकी आत्मा मे अनन्तशक्ति विद्यमान

है तब समझ में नहीं आता कि वह अपने जीवन में हताश और निराश क्यों होता है ? अपने आपको दीन-हीन क्यों समझता है ? मेरे विचार में इसका यही कारण हो सकता है कि उसे अपनी अनन्त शक्ति-सम्पन्नता पर विश्वास नहीं है। जो आत्मा अथवा जो व्यक्ति अपनी आत्म-शक्ति को भूलकर अपने जीवनपथ पर अग्रसर होता है, वह अपने लक्ष्य पर कभी नहीं पहुँच सकता। लक्ष्य की प्राप्ति तभी सम्भव है, जब मनुष्य को अपनी आत्मा पर आस्था होगी अपनी शक्ति पर विश्वास होगा और अपने प्रकाश पर भरोसा होगा। अपनी आत्मा पर आस्था होने पर ही वह अपने जीवन के ताप परिताप और संताप से विमुक्त हो सकेगा। जिन्दगी की राह पर भटकने वाले राही से जैन-दर्शन पूछता है, कि—तू भटकता क्यों है ? तू, रोता क्यों है ? तू, अपनी जिन्दगी को आँखों के इस खारे पानी से क्यों भिगो रहा है ? आँखों के खारे पानी से इस जीवन की समस्या का हल नहीं हो सकता। मनुष्य पर जब संकट और कष्ट आते हैं, अथवा उस पर जब कहीं से चोट लगती है, तब झटपट वह उत्साह-हीन होकर आँसुओं के रूप में अपनी आँखों का खारा पानी बहाने बैठ जाता है। परन्तु वह यह विचार नहीं कर पाता कि आँखों के खारे पानी से किसका काम चला है ? आँख का पानी आँसू बनकर यदि बहता रहे और सारी जिन्दगी भी बहता रहे तब भी समस्या का सही समाधान नहीं मिलेगा। भारत का दर्शन कहता है कि यदि रोने से समस्या का हल हो पाता तो कभी का हो गया होता। आज का मनुष्य कितना शक्ति-हीन और कातर बन गया है, कि जिसको भी देखो वही पीड़ा से कराह रहा है और जरा सा कष्ट आने पर ही रोने बैठ जाता है। जीवन में परिवर्तन और विकास कैसे आए ? किसी एक कोने में हताश और निराश बन कर बैठ जाने से जीवन में परिवर्तन और विकास नहीं आ सकता। इन्सान की अनमोल जिन्दगी कर्तव्य के मोर्चे पर लड़ने के लिए है। कहीं कोने में मुह छिपा कर रोने के लिए नहीं है। मानव तेरे अन्दर शक्ति है, यह नहीं है, कि तू शक्ति से खाली है। यह भी नहीं है, कि तेरे अन्दर कहीं बाहर से लाकर शक्ति डालना है। वस्तुवाद का सिद्धान्त यह है, कि प्रत्येक वस्तु अर्थात् पदार्थ अपने आप में परिपूर्ण है। वस्तुवाद का सिद्धान्त एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। उक्त सिद्धान्त पर विश्वास करने वाला व्यक्ति कभी भी अपने जीवन के किसी भी क्षण में निराश-हताश नहीं हो सकता। निराशा जीवन का एक दौर्बल्य है, जिसे दूर करना ही चाहिए।

वस्तुवाद सिद्धान्त का ही एक अंग कर्मवाद का सिद्धान्त है। वह सिद्धान्त

भी मानव-जीवन के लिए एक प्रेरणाप्रद सिद्धान्त है। जीवन के उत्थान मे मनुष्य अपने से बाहर नजर डालता है, वह आपत्ति आने पर दु ख का कारण भी बाहर खोजता है और किसा न किसी पर घृणा और वैर प्रकट करता है। और सुख के लिए भी दूसरो के आगे भिक्षा-पात्र लिए घूमता है और समझता है कि मैं अपना उद्धार स्वय नही कर सकता। कोई दूसरा ही मुझे सुख दे तो मैं सुखी हो सकता हूँ। कर्मवाद इस भावना के विपरीत है, वह प्रेरणा देता है कि मनुष्य स्वय ही सुख-दु ख का केन्द्र है। कर्मवाद जैन-दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है।

एक बार मुझे एक विदेशी विद्वान मिले। उनके साथ धर्म, दर्शन और सस्कृति के सम्बन्ध मे बडी लम्बी चर्चा चलती रही। मैंने उन्हे जैन-धर्म और जैन दर्शन का स्वरूप बतलाने का प्रयत्न किया। बीच-बीच मे वह अपना तर्क भी प्रस्तुत करते जाते थे। अन्त मे उन्होने कहा, कि "जैन-धर्म की अपनी क्या विशेषता है ? अहिंसा की बात, तो वह और जगह भी है। सत्य की बात, तो यह और जगह भी है। आत्मा की बात, यह भी और जगह है। आत्मा, अहिंसा और सत्य—इन तीन बातो को प्राय सभी आस्तिक दर्शन मानते हैं। उनकी परिभाषा और व्याख्या मे अन्तर हो सकता है, किन्तु उनकी सत्ता सभी को स्वीकार है, तब जैन-दर्शन की अपनी क्या स्वतन्त्र विशेषता रही ?" मैंने उक्त प्रश्न के उत्तर मे कहा—"कि ससार मे नयी बात तो कुछ भी नही है और जब नयी बात नही है, तब आप अपने देश को छोड कर इस विदेश मे क्या देखने और क्या करने आए हैं ? जब ससार मे कोई नयी वस्तु नही है, तब आप भारत मे क्या नया पा सकेंगे ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है।" मेरी बात को सुनकर वह चुप हो गया और कुछ क्षण मौन रहकर बोला—"बात आपकी ठीक है, ससार मे नया तो कुछ नही है, किन्तु अपने-अपने सिद्धान्त की प्रतिपादन-शैली सबकी भिन्न है और इसी को नया कहा जाता है।" मैंने बात का सूत्र पकडते हुए कहा—"तब तो जैन-दर्शन के पास भी नया बहुत कुछ है। उसकी अहिंसा भी नयी है, उसका सत्य भी नया है और उसकी आत्मा भी नयी है। क्योकि उसके अपने सिद्धान्तो की प्रतिपादन-शैली, विश्व के प्रत्येक दर्शन से भिन्न और विलक्षण है और यही उसकी अपनी विशेषता है।" वह हँसकर बोला—"आपने अपने तर्क से मुझे खूब पकडा है, आपके इस तर्क का मेरे पास कोई उत्तर नही है, फिर भी मैं आपसे जिज्ञासा-वश यह पूछना चाहता हूँ, कि "जैन-दर्शन का अपना विशिष्ट सिद्धान्त कौन-सा है ?" मैंने कहा—"जैन दर्शन का अपना विशिष्ट सिद्धान्त

है, कर्मवाद। कर्मवाद का अर्थ है—एक वह सिद्धान्त जो निराशा के घोर अन्धकार में भी प्रकाश प्रदान करता है, और जो हताश एवं निराश जीवन को उत्साह एवं प्रेरणा प्रदान करता है। वह कहता है, कि जो कुछ तुमने किया वही आज तुम्हें मिला है और जो कुछ आज तुम कर रहे हो वह भविष्य में तुम्हें मिलेगा। कर्मवाद के अनुसार दुःख का उत्तरदायित्व भी मनुष्य के अपने जीवन पर है और सुख का उत्तरदायित्व भी मनुष्य के अपने जीवन पर ही है। फिर सुख आने पर हँसना क्यों और दुःख आने पर रोना क्यों? सुख और दुःख दोनों के बीच हमारी अपनी अन्तर आत्मा में ही है।

कर्मवाद की इस व्याख्या को सुनकर वह विदेशी विद्वान् बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला—'आपकी बात बिल्कुल ठीक है। आपके इस कर्मवाद से हताश और निराश जीवन को बड़ी प्रेरणा मिलती है।

मैं आपसे जैन-दर्शन और जैन-धर्म की तथा उसके मुख्य सिद्धान्तों की चर्चा कर रहा था। जैन-दर्शन का जैन-धर्म का और जैन-संस्कृति का जो सबसे गम्भीर सिद्धान्त है, वह है 'द्रव्यानुयोग' का। द्रव्यानुयोग एक वह सिद्धान्त है जिसमें जैन-दर्शन के मूलभूत तत्त्वों पर विचार किया गया है, और चिन्तन किया गया है। जैन-दर्शन के अनुसार षड्द्रव्य सप्ततत्त्व अथवा नवपदार्थ ही द्रव्यानुयोग है। इसमें जीव अर्थात् आत्मा मुख्य है। आत्मा पर द्रव्यानुयोग में निश्चय-दृष्टि और व्यवहार-दृष्टि से गम्भीर विचार किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक आत्मा को बाहर से न कुछ लेता है और न बाहर से कुछ देता है। जो कुछ लेता है अपने अन्दर से ही लेता है और जो कुछ देता है अपने को ही देता है किसी अन्य को नहीं। क्योंकि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से न कुछ लेता है और न उसको कुछ देता है। यह है निश्चय-दृष्टि। इस निश्चय दृष्टि को सम्भवतः कुछ लोग समझ भी नहीं पाते और कुछ लोग समझकर भी इसका गलत प्रयोग कर सकते हैं। परन्तु इसमें निश्चय दृष्टि का अपना कोई दोष नहीं है। गलत प्रयोग किसी भी सिद्धान्त का किया जा सकता है। पर इतने मात्र से ही वह सिद्धान्त व्यर्थ और निरर्थक नहीं बन जाता है। निश्चय दृष्टि का सबसे बड़ा उपयोग अपने प्रसुप्त आत्म भाव को जागृत करने के लिए ही किया जाना चाहिए। जो आत्मा हताश और निराश है, व्यथित और पीड़ित है, उसे उत्साहित करना और उसकी ग्लानि को दूर करना यही निश्चय-दृष्टि का सबसे बड़ा उपयोग है। निश्चय-दृष्टि का सिद्धान्त प्रत्येक साधक को यह कहता है कि तू,

अपने आपमे परिपूर्ण है। तू, अपने आपमे महान् है और तू अनन्त काल से है और अनन्तकाल तक रहेगा। तू स्वय ही अपना हित कर सकता है और तू स्वय ही अपना अहित कर सकता है। दूसरा कोई न तेरा कल्याण कर सकता है और न तेरा अकल्याण ही कर सकता है। अपना उत्थान और पतन तेरे अपने हाथ मे है। क्योंकि एक आत्मा की चीज दूसरी मे जा नही सकती। उसकी चीज किसी दूसरी के अन्दर डाली नही जा सकती। द्रव्यानुयोग का सिद्धान्त हमे बतलाता है, कि विश्व की प्रत्येक आत्मा अनन्त शक्ति-सम्पन्न है, जब प्रत्येक आत्मा मे अपनी अनन्त शक्ति विद्यमान है, तब दीन-हीन बनकर दूसरे के सम्मुख हाथ पसारने से क्या लाभ ? जब तक कर्म का आवरण है, तब तक यह आत्मा अपने आपको पापी दीन-हीन समझता रहता है, परन्तु कर्म का आवरण दूर होते ही, इस आत्मा की हीनता और दीनता उसी प्रकार विलुप्त हो जाती है, जिस प्रकार रात्रि मे धरती और आकाश पर सर्वत्र फैला घोर अन्धकार, सूर्योदय होने पर विलुप्त हो जाता है। निश्चय-दृष्टि के अनुसार, पापी से पापी आत्मा मे भी अपार शक्ति और अपार सौन्दर्य भरा पडा है। किन्तु उस अनन्त सौन्दर्य और अनन्त शक्ति का साक्षात्कार तभी हो सकता है, जबकि कर्म का आवरण दूर हो जाए। कम के आवरण को दूर करने के लिए आत्मा को अपनी निज शक्ति का ही प्रयोग करना पडेगा। आत्मा से भिन्न अन्य कोई भी पदार्थ आत्मा को न बन्धन मे डाल सकता है और न उसे बन्धन-विमुक्त ही कर सकता है। आत्म-स्वरूप मे रमण करने वाला मस्त साधक अपनी मस्ती मे इस दिव्य गीत को अपनी मधुर स्वर-लहरी मे गाता रहता है—

> सखे ! मेरे बन्धन मत खोल,
> स्वय बँधा हूँ स्वय खुलूंगा,
> तू न बीच मे बोल।

इस गीत मे कवि ने भारत के सम्पूर्ण अध्यात्मवादी दर्शन को बन्द करके रख छोडा है। कवि कहता है—मैं आप ही स्वय बँधने वाला हूँ और मैं आप ही स्वय खुलने वाला हूँ। जब मुझे किसी ने बाँधा नही है, तब मुझे दूसरा कौन खोल सकता है ? इस दृष्टि विन्दु पर आकर जैन-दशन और वेदान्त-दर्शन एक मोर्चे पर समवेत स्वर से यह उद्घोषणा करते हैं, कि यह बन्धन, सदाकाल बन्धन नही रह सकता, इसे तोडा जा सकता है और इसे हटाया जा सकता है, फिर भले ही वह बन्धन कर्म का आवरण हो, अथवा माया और अविद्या का हो।

मैं आपके सामने जैन-दर्शन की और वेदान्त-दर्शन की चर्चा कर रहा था। वस्तुतः जैन-दर्शन की निश्चय दृष्टि ने और वेदान्त की पारमार्थिक दृष्टि ने हताश और निराश मानव जीवन को उत्साहित और प्रेरित करके अध्यात्मवादी मार्ग पर अग्रसर किया है। अध्यात्मवादी दर्शन यह कहता है कि अन्य कुछ समझो या न समझो यह तुम्हारी इच्छा की बात है परन्तु 'परमात्म विद्धि' आत्मा को अवश्य समझो। इस एक आत्मा के समझने से सब कुछ समझा जा सकता है। भारत का प्रत्येक गुरु अपने शिष्य से एक ही बात कहता है—तू, अपनी शक्ति का पता स्वयं लगा। मैं तो तेरे जीवन विकास में एक निमित्त मात्र हूँ उपादान तो तू स्वयं ही है। आत्मा की निज शक्ति को ही उपादान कहते हैं। प्रत्येक आत्मा अपने आप में परिपूर्ण है। केवल अन्दर में झाँकने की दृष्टि होनी चाहिए और अन्दर का पता लगाने के लिए, अन्दर की खोज चालू रहनी चाहिए। मैं कहा करता हूँ कि अन्दर में *अनन्तशक्ति का अजस्र स्रोत बह रहा है किन्तु उसे देखने और परखने* की दिव्य दृष्टि का हमारे पास अभाव है। यह दिव्य दृष्टि क्या है? परमभाव ग्राही और भूतार्थग्राही निश्चय नय को ही दिव्य दृष्टि कहा जाता है। वेदान्त में इसी को पारमार्थिक दृष्टि कहा गया है। जब तक अपने अन्दर ही अपने स्वरूप की खोज नहीं की जाएगी तब तक कुछ भी *अता-पता नहीं* लगेगा। यह आत्मा अनन्त-अनन्त काल से मोह-सुप्त रहा है। इसीलिए यह अपने स्वरूप को भूलकर बेभान पड़ा है। सबसे बड़ी साधना यही है कि इसकी मोह निद्रा को दूर कर दिया जाए। किन्तु मोह-निद्रा को दूर करने वाला कौन है? आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कौन उसकी मोह निद्रा को दूर कर सकता है? इस आत्मा की वही दशा है जो निर्जन वन में प्रसुप्त वन-राज केसरी सिंह की होती है। उसकी प्रसुप्त दशा में क्या स्थिति रहती है इस सम्बन्ध में एक रूपक है, जो इस प्रकार है।

कल्पना कीजिए, एक विजन वन में एक सिंह प्रसुप्त अवस्था में पड़ा हुआ है। वह निद्रा के अधीन हो चुका है, उस समय आप देखते हैं कि वन में क्या होता है? चारों ओर उत्पात मच जाता है। चारों ओर घोरोधुम शुरू हो जाता है। जब भूखे जंगल में वन का राजा सिंह अपनी मौज के आगे सोया पड़ा रहता है, उस समय उस जंगल के गीदड़ हिरन और अन्य छोटे मोटे जीव-जन्तु निश्चिन्त होकर इधर-उधर घूमने लगते हैं और मनचाहा हल्ला मचाते हैं। उस समय ऐसा मालूम पड़ता है कि जैसे सारे जंगल में राज्य में अराजकता छा गई हो। ऐसा लगता है कि जैसे वन के राजा सिंह

के जीवन का कोई अस्तित्व ही न रहा हो। वडी विचित्र स्थिति होती है, उस समय, जव कि वन का राजा सिंह निद्राधीन होकर प्रसुप्त पडा रहता है। और जव वन का राजा सिंह जागृत होता है, और जागृत होने पर एक गर्जना करता है और एक दहाड मारता है, तव सारा वन कांपने लगता है, पहाड कांपने लगते हैं, आस-पास के जितने भी प्राणी, जो कि अभी तक इधर-उधर दौड लगा रहे थे, वे भागकर इधर-उधर अपना सिर छुपाने की कोशिश करते हैं, सारे वन में सन्नाटा छा जाता है। बात क्या है? जब सिंह सो रहा था, तब भी तो वह सिंह ही था या गीदड और कुछ नही होगया था। और जब जाग उठा, तब भी सिंह ही है, और कुछ नही हो गया है। और ऐसा भी नही होता कि सिंह जब सोता है, तब उसके दो चार नख औ दांत गायब हो जाते हैं और जब जागता है, तब दो चार नख और दाँत नये पैदा हो जाते हैं। फिर भी सिंह के सोने और जागने मे कितना अन्तर है। निद्रा की अवस्था मे सिंह मे किसी भी प्रकार का भान नही रहता, जब कि जागृत अवस्था मे उसे अपनी शक्ति का भान रहता है। निद्रावस्था मे उसकी शक्ति प्रसुप्त हो जाती है और जागृत अवस्था मे उसकी शक्ति जाग उठती है। सिंह के जागृत होते ही वन की अराजकता फिर शान्ति मे बदल जाती है। फिर किसकी ताकत है, कि उस वन-राज के सामने कोई भी प्राणी उसकी शान्ति को भग कर सके। सिंह सो गया था, तो उसकी शक्ति भी सो गई थी और सिंह जागा तो उसकी शक्ति भी जागृत हो गई। जब शक्ति सो गई तो उसका मूल्य नही रहा और जब शक्ति जागृत हुई तो उसकी एक हुँकार से सारा वन प्रकम्पित हो उठा।

आत्मा के सम्बन्ध मे भी यही स्थिति है। जब साधक की आत्मा मोह-निद्रा के अधीन होकर सो जाती है, उस समय उसे अपनी अनन्त शक्ति का भान नही रहता। शक्ति का भान नही होना ही आत्मा का शक्ति हीन हो जाना है। अज्ञानता की स्थिति मे साधक अपने स्वरूप पर आक्रमण करने वाले काम एव क्रोध आदि विकारो का यथेष्ट प्रतिकार नही करने पाता। कुछ साधक कभी-कभी पूछा करते हैं, कि क्रोध आता है, क्या करें? क्रोध छूटता नही है। जीवन मे जो गलत आदत पड गई है, वह छूट नही पाती है। और तो क्या, एक साधारण सी बीडी पीने की अथवा तम्बाकू खाने की यदि आदत पड गई है, तो वह भी छूट नही पाती है। किसी को पान खाने की आदत पड जाती है, छोडते हैं, पर छूट नही पाती है। यह सब क्या है? जो आदत हमने स्वय ही डाली है, उसको हम स्वय क्यो नही छोड पाते? जब

कभी मानव-दौर्बल्य की इस प्रकार चर्चा होती है तो मैं यह कहता हूँ कि इन आदतों का एक दिन तुमने स्वयं ही तो डाला था तब आज उन्हें तुम छोड़ क्यों नहीं सकते हो। यह क्या बात है कि जिसे पकड़ा है, उसे छोड़ नहीं सकते। आवश्यकता है, केवल संकल्प-शक्ति की। मन के विकल्पों से मन की शक्ति क्षीण होती है और संकल्प से मन की शक्ति बढ़ती है। अपनी आत्मा की अनन्त शक्ति को जागृत करने के लिए, सर्वप्रथम अपने मन की संकल्प शक्ति को जागृत कीजिए। मनुष्य के जीवन की शक्ति का केन्द्र ही एक मात्र उसके मन का संकल्प है। जब मानव-मन का संकल्प प्रबुद्ध और वेगवान् हो जाता है तब बड़े-से-बड़ा कार्य भी उसके लिए आसान हो जाता है। उस समय एक आदत तो क्या हजार-हजार आदतें भी क्षण भर में ही समाप्त हो सकती है। आत्म-रूपी सिंह इस जीवन रूपी वन मे जब तक प्रसुप्त पड़ा रहता है, तभी तक काम क्रोध मद लोभ राग और द्वेष आदि के उपद्रव होते हैं किन्तु आत्म-रूपी वनराज के प्रबुद्ध होते ही न जाने ये सब कहाँ भाग जाते है। आत्मा में अनन्त बल है यह सत्य है, परन्तु कब ? जबकि वह जागृत और प्रबुद्ध हो। आत्मा की शक्ति तभी अपने विकारों से संघर्ष कर सकती है, जबकि आत्मा जागरण की वेला में स्थिर हो अपनी साधना-पथ पर मजबूती के साथ कदम बढ़ाए। यह दीनता यह हीनता और यह भिखमंगापन तभी तक है, जब तक आत्मा अपने आप पर आस्था नहीं कर पाता है और जब तक आत्मा अपने स्वरूप का परिबोध नहीं कर लेता है। आत्म-परिबोध के होने पर किसी भी आदत की यह ताकत नहीं है, कि वह हमारी इच्छा के विरुद्ध हमारे मन के क्षेत्र पर अपना अधिकार जमा रख सके। आवश्यकता केवल एक ही बात की है और वह यह कि आत्म रूपी वनराज एक बार अँगड़ाई लेकर इस जीवन रूपी वन में तन कर खड़ा हो जाए और अपनी एक घनघोर गर्जना कर दे तब आप देखेंगे कि विकल्प और विकारों के क्षुद्र जन्तु सब इधर-उधर भागते हैं, या नहीं ? यह आत्म बोध और आत्म-जागरण ही मन के विकल्प और विकारों से विमुक्ति का एक मात्र मार्ग है।

मैं आपसे यह कह कर रहा था कि त्याग और वैराग्य बाहर से लादने पर नहीं आता है, वह तो अन्तर के जागरण से ही आता है। जीवन में त्याग और वैराग्य का उदय कब होगा इसके लिए किसी तिथि का निर्धारण नहीं है। जब जागरण आ जाए तभी उसका उदय हो सकता है। हम देखते हैं, कि कुछ आत्माओं को उनके गुलाबी बचपन में ही वैराग्य का उदय

हो गया, कुछ आत्माओ मे उनके जीवन के वसन्त-काल मे वैराग्य का उदय हुआ और कुछ आत्माओ मे जीवन की सध्या मे पहुँचकर ही वैराग्य का उदय हुआ। ससार मे इस प्रकार की आत्माएँ भी हैं, जिनके जीवन-क्षितिज पर त्याग और वैराग्य के सूर्य का उदय कभी होता ही नही है, न बाल्यकाल मे, न यौवन मे और न जीवन की गोधूली-वेला मे ही। त्याग और वैराग्य का उदय किसी भी आत्मा की, किसी भी अवस्था विशेष से सम्बद्ध नही है, यह सब कुछ तो मनुष्य के मन के जागरण पर ही निर्भर है। ससार की अँधेरी गलियो मे भूली-भटकी आत्मा, जब जाग उठे, तभी उसके जीवन का सवेरा समझिए। मेरे कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि त्याग और वैराग्य की विमल भावना किसी के सिखाने और पढाने मात्र से नही आती है। वह आती है, मूलत अन्तर्ज्योति के प्रकट होने पर। हम देखते हैं, कि बहुत से साधक सन्मार्ग पर आते ही नही, और कुछ सन्मार्ग पर आकर भी भटक जाते हैं और बहुत से भटके हुए पुन शीघ्र ही स्थिर हो जाते हैं। और कुछ ऐसे भी होते हैं, जो एक बार भटकने के बाद जल्दी ही ठिकाने पर नही आते हैं। जीवन का यह विकास और ह्रास, जीवन का यह उत्थान और पतन, कही बाहर से नही आता, अन्दर से ही पैदा होता है। विवेक का प्रकाश जिस किसी भी आत्मा के घट मे प्रकट हो जाता है, फिर उसे न उपदेश की आवश्यकता रहती है और न मार्ग-निर्देशन की ही। वास्तव मे तो साधक को अपनी जिन्दगी की राह अपने आप ही बनानी पडती है। जिस व्यक्ति ने अपने गतव्य पथ का निर्माण स्वय अपने पुरुषार्थ से ही किया है, उसे उसके साधना-पथ मे किसी भी प्रकार का भय नही रहता है, इसी मे उसकी साधना की परिपूर्णता रहती है।

जैन-दर्शन मे अद्वैत-भावना का बडा ही महत्त्व है। अद्वैत-भावना का मूलाधार है, अहिंसा और समता। जब जीवन मे समत्व-योग आ जाता है, तब उसकी अद्वैत-भावना प्राण-प्राण मे प्रसार पा जाती है। उस समय प्रबुद्ध साधक अद्वैत-भावना मे स्थिर होकर जगत के अन्य प्राणियो से यही कहता है कि मैं हूँ सो तुम हो और तुम हो सो मैं हूँ। मेरी आत्मा मे जो गुण हैं, वे ही गुण तुम्हारी आत्मा मे भी हैं। स्वरूप की दृष्टि से मेरी आत्मा मे और तुम्हारी आत्मा मे अणुमात्र भी भेद नही है। यदि कुछ अन्तर हो सकता है, तो वह यही, कि मैं प्रबुद्ध हो चुका हूँ और तुम अभी प्रसुप्त पडे हो। प्रत्येक आत्मा को अपने आपको जगाना होगा। अपनी शक्तियो का प्रकाश स्वय करना होगा। मैं जहाँ पहुँचा हूँ, हर आत्मा वहाँ पहुँच सकता है।

मूल द्रव्य में तो वह वहाँ पहुँचा हुआ ही है, पर जब तक इस मोह-निद्रा एवं अज्ञान-निद्रा को नहीं छोड़ेंगे तब तक परम-सुखता की दिशा में कुछ होने वाला नहीं है। यह साम्राज्य यह ऐश्वर्य और यह वैभव इन्सान के मन को घेर लेते हैं। इनके लिए लड़ाई और झगड़े होते हैं। और तो क्या पिता और पुत्र भी इसके लिए लड़ पड़ते हैं भाई भाई भी इसके लिए मर मिटते हैं। आप देखते हैं, कि प्रतिदिन अखबारों में दुराचार पापाचार और मिथ्याचार की कहानियाँ प्रकाशित होती रहती हैं। उनको पढ़कर मन में विचार आता है, कि इस स्वार्थ लिप्त संसार का कल्याण कैसे होगा ? इन बहिर्मुख आत्माओं का उद्धार कैसे होगा ? परन्तु हमारा दर्शन हमें यह प्रेरणा देता है, कि संसार के दुराचार और पापाचार से घबड़ाने की और हार मान लेने की आवश्यकता नहीं है अन्धकार कितना भी प्रगाढ़ क्यों न हो और कितना भी दीर्घकालीन क्यों न हो वह प्रकाश की किरण के समक्ष टिक नहीं सकता इसी प्रकार आत्मा-ज्योति के समक्ष यह भयंकर से भयंकर पापाचार और दुराचार टिक नहीं सकते। भारतीय दर्शन के अनुसार विश्व की प्रत्येक आत्मा भले ही वह कहीं पर भी और किसी भी स्थिति में क्यों न हो सच्चिदानन्दघन है। कर्म-संयोग से और माया के संयोग से ही आत्मा अपने मूल स्वरूप को भूल कर संसार की अँधेरी गलियों में इधर-उधर भटक रहा है। कभी नरक में तो कभी स्वर्ग में कभी पशु पक्षी की योनि तो कभी मनुष्य गति में। अपने मूल रूप में आत्मा सदा स्थिर है सदा ज्ञानमय है और सदा आनन्दमय है। यह है भारतीय-संस्कृति का मूल स्वर और जिसका आधार है, भारत का अध्यात्मवादी दर्शन।

पाश्चात्य संस्कृति का स्वर हमारी संस्कृति से भिन्न है, क्योंकि उसका आधार है, उसका भौतिकवादी दर्शन। पाश्चात्य संस्कृति के विद्वान कहते हैं, कि आज का इन्सान पहले इन्सान न था वह हैवान था। विकास करते करते वह हैवान से इन्सान बन गया। पर इन्सान बनने पर भी उसमें हैवानियत के संस्कार कभी-कभी उभर आते हैं। यह संस्कार दब तो जाते हैं, किन्तु कभी नष्ट नहीं होते। डार्विन और लामार्क के विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार इन्सान पहले बन्दर था बन्दर से ही इन्सान बना है। यही कारण है कि इन्सान और बन्दर की आदतों में बहुत कुछ समानता है। यह उन लोगों का कथन और तर्क है, जो डार्विनवादी विकासवाद में विश्वास रखते हैं। उनका विश्वास है, कि मूल में आदमी आदमी नहीं है वह हैवान है। सभ्यता के विकास ने उसे इन्सान बना दिया है। लामार्कवादी और डार्विनवादी

सस्कृति के अनुसार इन्सानियत एव आदमियत वाहर की चीज है, और हैवानियत अन्दर की चीज है। पाश्चात्य सस्कृति का यह स्वर कितना वेसुरा है, कि वह इन्सान को मूल मे हैवान मानती है। इस सस्कृति के अनुसार जव हैवान से इन्सान वन सकता है, तो आज का इन्सान भविष्य मे इन्सान से और कुछ भी वन सकता है। इस प्रकार हम विचार करते हैं, कि पाश्चात्य सस्कृति की वात तर्कहीन और थोथी है।

भारतीय सस्कृति कहती है, अतीतकाल मे भी मनुष्य, मनुष्य ही था और सीमाहीन अनन्त भविष्य मे भी मनुष्य मनुष्य ही रहेगा। कर्मोदय के फल-स्वरूप वह इधर-उधर हो सकता है, परन्तु वर्तमान जीवन में मनुष्य से भिन्न वह न अन्य कुछ था और न अन्य कुछ हो सकेगा। उसके जीवन में जो पशुत्व के सस्कार उभर आते हैं, वे उसके अपने नही हैं, वैभाविक परिणति के कारण वाहर के वातावरण से ही वे उसके मन में वद्ध मूल हो गए हैं, किन्तु यह निश्चित है, जो वस्तु वाहर की है, जो विजातीय पदार्थ है, उसे एक दिन दूर किया जा सकता है। विजातीय तत्व को दूर करने का प्रयत्न ही वस्तुत साधना है। भारतीय सस्कृति इससे भी ऊँची एक वात और कहती है, वह मनुष्य को मनुष्य ही नही मानती, वह मनुष्य को परमात्मा और दिव्य आत्मा भी मानती है। इस वात को ध्यान में रखकर यदि हम विचार करें तो हमें मालूम होगा, कि हमारा जो सास्कृतिक चिन्तन है, वह आत्मा तक ही नही रहता, वल्कि परमात्मा तक पहुँच जाता है। भारतीय दर्शन का चिन्तन केवल इस भौतिक पिण्ड तक ही परिसीमित नही है उसकी सीमा चेतन और परमचेतन तक है। चेतन,केवल वद्ध चेतन रहने के लिए नही है, वह अवद्ध एव परम चेतन वनने के लिए है। प्रत्येक चेतन का यह अधिकार है, कि वह परम चेतन वन जाए। चेतन के परम चेतन बनने में, देश, काल और जाति के वन्धन स्वीकार नही किए गए। किसी भी देश का, किसी भी जाति का और किसी भी काल का चेतन अपनी साधना के वल पर परम चेतन वन सकता है। भारतीय सस्कृति का यह एक उदात्त और परम उज्ज्वल सिद्धान्त रहा है।

भारतीय तत्व-चिन्तको ने इस तथ्य को स्वीकार किया है, कि ससारी अवस्था मे आत्मा में जो विकार और विकल्प हैं, वे आत्मा के अन्दर के नही, वाहर के हैं, आत्मा की दो परिणति हैं, स्वभाव और विभाव। स्वभाव परिणति आत्मा को अन्तर्मुख करती है, मूल स्वरूप की ओर ले जाती है और विभाव परणिति आत्मा को वहिर्मुख वनाती है, वन्धन की ओर ले जाती है। वाह्य परि-

मति का ही यह सब विकल्प है, प्रपंच है। विभाव परिणति से जो कुछ परिवर्तन होता है, उसे हम निश्चय की भाषा में बाहर का मानते हैं, अन्दर का नहीं। यदि इस बात को जरा और स्पष्ट भाषा में कहें तो यह सब संयोगी भाव है। उदाहरण के रूप में देखिए, आकाश से पानी की बूंद जमीन पर आती है। आकाश की बूंद निर्मल और स्वच्छ है पर ज्यों ही वह धरती पर पड़ती है, गन्दा हो जाती है। वही बूंद जब सर्प के मुख में चली जाती है, तब भयंकर एवं घातक विष बन जाती है। वही बूंद जब किसी सीप के मुख में जाती है, तब सुन्दर मोती बन जाती है। बात क्या है ? बात यह है कि वह जल की बूंद अपने आपमें स्वच्छ है पर जैसा-जैसा वातावरण उसे मिला वैसी ही वह बनती गई। अच्छा वातावरण मिला तो अच्छी वस्तु बन गई और बुरा वातावरण मिला तो बुरी वस्तु बन गई। सीप के मुँह में जाकर वह मोती और सर्प के मुँह में जाकर वह विष बन गई। भारतीय दर्शन के अनुसार यही स्थिति आत्मा की है। मूलदृष्टि से आत्मा अपने आपमें विशुद्ध निर्मल और पवित्र है। परन्तु वैभाविक दृष्टि के कारण संयोग से उसमें विकार और विकल्प पैदा हो जाते हैं। वस्तुतः विकार और विकल्प कर्म संयोग-जन्य और माया जन्य ही हैं। मूल में आत्मा में न कोई विकल्प है, और न कोई विकृति ही। व्यवहार-नय से देखने पर वह आत्मा हमें अवश्य ही अपवित्र नजर आता है पर निश्चय-नय से देखने पर, यह आत्मा हमें पवित्र और निर्मल नजर आता है, इसमें कहीं पर भी विकल्प और विकार दृष्टिगोचर नहीं होते। भारतीय दर्शन और संस्कृति का तथा विशेषतः श्रमण संस्कृति का यह एक मूलभूत सिद्धान्त है, कि वह जिस किसी भी वस्तु का वर्णन करती है, तो उसके मूल स्वरूप को पकड़ने का प्रयत्न करती है।

मैं आपसे आत्मा के सम्बन्ध में विचार-चर्चा कर रहा था। आत्मा क्या है उसका स्वरूप क्या है ? इस तथ्य को समझने के लिए निश्चय दृष्टि से परमार्थ ग्राह नय से और भूतार्थ नय से विचार करने पर, यह कहा जा सकता है, कि संसार की प्रत्येक आत्मा अपने मूल स्वरूप में विशुद्ध और पवित्र है। शुद्ध निश्चयनय से विश्व का चेतन मात्र शुद्ध है। इस दृष्टि से देखने पर आत्मा में किसी भी प्रकार के विकल्प और विकार की प्रतीति नहीं होने पाती। इस दृष्टि से विचार करने पर फलित यह होता है, कि आत्मा की न बन्ध-दशा है और न मोक्ष-दशा ही। गुणस्थान और मार्गणा भी आत्मा के नहीं होती हैं। परन्तु यह सब कुछ तभी तक है, जब तक कि हम परमभावग्राही एवं शुद्ध निश्चय नय से आत्मा पर विचार करते हैं। व्यवहारनय से जब आत्मा पर विचार किया जाता है तब वहाँ आत्मा की बन्धदशा और आत्मा की मोक्ष-दशा तथा

गुणस्थान एव मार्गणा आदि सभी कुछ हमे दृष्टिगोचर होता है। व्यवहार नय से विचार करने पर ज्ञात होता है, कि आत्मा मे विकल्प भी हैं, और विकार भी हैं। ये सब दृष्टि का भेद है। यही भगवान् का अनेकान्त-मार्ग है। व्यवहार दृष्टि से चैतन्य ससार को देखो, तो सर्वत्र ससारी चैतन्य अशुद्ध और अपवित्र ही नजर आता है, शुद्ध निश्चयनय से विचार करें, तो ससार का चेतनमात्र पवित्र एव शुद्ध नजर आता है। याद रखिए, हमे व्यवहार और निश्चय दोनो मे सतुलन रखना है। वर्तमान मे एक ससारी आत्मा मे जो विकल्प हैं, विकार हैं, उनसे इन्कार नही किया जा सकता, परन्तु हमे यह विचार भी करना है, कि इस अशुद्ध रूप को ध्यान मे रखकर ही हमे बैठे नही रहना है, रोते नही रहना है। इसके विपरीत हमे यह भी विश्वास करना चाहिए कि यह विकार और विकल्प आत्मा के अपने नही हैं। अध्यात्मवादी दर्शन नीच से नीच, तुच्छ से तुच्छ आत्मा मे भी महानता का और पवित्रता का दर्शन करता है। अपनी आत्मा के प्रति ही नही, विश्व की प्रत्येक आत्मा के प्रति यह दृष्टिकोण रखना ही, अध्यात्मवादी दर्शन का मूल लक्ष्य है।

इसीलिए मैं आपसे बार-बार यह कहता हूँ कि अपने आपको देखो। अपनी अन्तरआत्मा को परखो। अपने को सदाकाल हीन और दीन समझना महापाप है। इसी प्रकार अन्य आत्माओ को भी मूलत हीन और दीन समझना महापाप है। अस्तु, अपने से भिन्न आत्माओ मे दोष मत देखो, उनके गुणो को ही ग्रहण करने का प्रयत्न करो। ससार के प्रत्येक व्यक्ति मे अच्छापन और बुरापन रहता है परन्तु बुरापन वास्तविक नही है, अच्छापन ही वास्तविक है। प्रत्येक व्यक्ति का मन एक दर्पण है, उसके सामने जैसा भी बिम्ब आता है, वही उसमे प्रतिबिम्बित हो जाता है। उसके सामने यदि एक योगी पहुँच जाता है, तो उसका प्रतिबिम्ब भी उसमे पडता है और यदि एक भोगी पहुँच जाता है, तो उसका प्रतिबिम्ब भी उसमे पडता है। आप उसके सामने जिस किसी भी रग का फूल रख देंगे, उसमे वैसा ही प्रतिबिम्ब हो जाएगा। आपका मन एक दर्पण है, उसके सामने आप जिस किसी भी रूप रग मे जाकर खडे होगे, आपका वैसा ही रग-रूप उसमे प्रतिबिम्बित हो जाएगा। आप वहाँ कैसा बन कर जाना चाहते हैं, यह आपके अपने हाथ मे है। आप अच्छे भी बन सकते हैं और आप बुरे भी बन सकते हैं। और जब अच्छे बन सकते हैं, और मूल मे अच्छे हैं ही, तब अच्छे क्यो न बनें? बुरे क्यो बनें।

अध्यात्म-साधना

साधक अपनी साधना से अपने साध्य की उपलब्धि करता है। शास्त्र में साधना के नाना रूप और नाना प्रकार वर्णित किए गए हैं। प्रत्येक साधक अपनी अभिरुचि और साथ ही अपनी शक्ति के अनुसार साधना का चुनाव करता है। किसी भी प्रकार की साधना को अङ्गीकार करने से पूर्व भली-भाँति यह विचार कर लेना चाहिए, कि इस साधना को मैं पूरी कर सकता हूँ या नहीं। जो साधक विवेक और बुद्धि के प्रकाश में साधना प्रारम्भ करते हैं, वे अपनी साधना में अवश्य ही सफल होते हैं इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है।

मैं आपसे साधना की बात कह रहा था। मैंने कहा कि शास्त्रों में साधना के अनेक रूप वर्णित किए गए हैं किन्तु मुख्य रूप में साधना के दो भेद हैं— एक गृहस्थ धर्म की साधना और दूसरी साधु धर्म की साधना। गृहस्थ जीवन के अविरत सम्यक् दृष्टि व्रती आदि अनेक रूप हैं और साधु-जीवन के भी जिन कल्प आदि अनेक रूप हैं। साधना की मूल धारा एक होते हुए भी आगे चलकर उसमें हजारों-हजार उपधाराएँ फूट पड़ती हैं। साधना कैसी भी क्यों न हो, चाहे वह गृहस्थ धर्म की हो अथवा साधु धर्म की हो एक बात साधक को

अवश्य ही सोचनी चाहिए कि उसे साधना का चुनाव अपनी अभिरुचि और अपनी शक्ति के अनुसार ही करना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति वलपूर्वक, हठ पूर्वक अथवा जवरदस्ती से आगे वढने की चेष्टा करता है, तो आगे चलकर साधना का प्राण तत्व उसमे से निकल जाता है और केवल लोक-दिखावा ही उसके पास रह जाता है। यश और प्रतिष्ठा प्राप्त करना ही उसके जीवन का लक्ष्य वन जाता है। जब साधना मे मन का रस नही रहता, जव साधना मे समत्वयोग नही रहता, तव वह साधना अन्दर-ही-अन्दर खोखली हो जाती है। साधना का प्राण-तत्व,जो आध्यात्मिक भाव है, वह उसमे नही रहने पाता। हमारी साधना का एक मात्र लक्ष्य है, अध्यात्म भाव। यह अध्यात्मभाव वही पर रह सकता है, जहाँ मन मे समाधि हो और जहाँ मन मे शान्ति हो। मन की समाधि और शान्ति वही रहती है, जहाँ जीवन मे समरसी भाव आ जाता है। यह समरसी भाव यदि साधु जीवन मे है, तो वह धन्य है और यदि यह समरसी भाव गृहस्थ जीवन मे है, तो वह भी वहुत सुन्दर है। मैं उस साधना को साधना नही मानता, जिसमे मन का योग तो न हो, केवल तन से ही जिसे किया जा रहा हो। जैन दर्शन मे उस साधना के लिए जरा भी अवकाश नही है, जिसमे मन का समरसी भाव न हो और जिसमे बुद्धि का समत्व-योग प्रस्फुटित होकर जीवन के धरातल पर न छलक आया हो।

जिस साधना का लक्ष्य अध्यात्मभाव नही होता है, वह साधना अधिक स्थायी एव स्थिर नही रह पाती है। जो व्यक्ति अपनी अध्यात्म-साधना के वदले मे थोडा-वहुत यश और प्रतिष्ठा प्राप्त करके ही सन्तुष्ट हो जाता है, उस व्यक्ति को विवेकशील नही कहा जा सकता। इसका अर्थ तो यह होता है, कि साधक अपनी अमूल्य साधना को कौडियों के मूल्य मे वेच डालता है। कल्पना कीजिए, यदि किसी व्यक्ति को कही पर वहुमूल्य चिन्तामणि रत्न मिल जाए, किन्तु दुर्भाग्य से वह उसके महत्त्व को एव मूल्य को नही समझ पाए। जिस व्यक्ति ने चिन्तामणि रत्न के महत्त्व को नही समझा है और उसके मूल्य का उचित अकन नही किया है, वह व्यक्ति बाजार मे जाकर यदि चिन्तामणि रत्न को देकर उसके बदले मे गाजर-मूली अथवा अन्य सडी गली तुच्छ वस्तु को ले लेता है, और उससे अपनी भूख को शान्त करता है, तो यह एक बहुत बडी ना-समझी का काम है। कहाँ गाजर मूली जैसी तुच्छ वस्तु और कहाँ महामूल्य-वान् चिन्तामणि रत्न ! जो व्यक्ति चिन्तामणि रत्न देकर वदले मे तुच्छ वस्तु खरीदता है, आप उस व्यक्ति को मूर्ख एव नासमझ कहते हैं। क्योकि आपकी समझ मे उसने यह समझ का काम नही किया है। उस व्यक्ति के इस कार्य को

आप मूर्खता-पूर्ण अज्ञान-पूर्ण और नासमझी का काम कहते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति की जीवन-गाथा को सुनकर आप उसकी हँसी और मजाक भी करते हैं, क्योंकि आपकी दृष्टि में एक बहुमूल्य वस्तु देकर एक तुच्छ वस्तु स्वीकार करना उचित नहीं लगता। परन्तु जरा सोच-विचार कर तो देखिए, कि क्या आप और हम भी इसी प्रकार की भूल नहीं करते हैं ?

शास्त्रकारों ने बताया है, कि जो साधक अपनी अध्यात्म साधना के बदले में संसार के सुख चाहता है अथवा स्वर्ग-सुख की अभिलाषा करता है या अन्य किसी भी प्रकार के सांसारिक सुख की कामना करता है, तो उसका यह कार्य भी उसी अज्ञान व्यक्ति के समान है जिसने अपनी अज्ञानतावश चिन्ता मणि रत्न देकर उसके बदले में गाजर मूली जैसी तुच्छ वस्तुओं को खरीद लिया है। अध्यात्म सुख के समक्ष यह मनुष्य के सुख और ये देव के सुख तुच्छ एवं हीन हैं। हमारी अध्यात्म साधना का लक्ष्य और ध्येय न यश है न प्रतिष्ठा है और न भौतिक भोगों का सुख ही है। यह साधना एक ऐसी साधना है कि इसकी तुलना में विश्व का समग्र वैभव संसार का समस्त सुख फीका पड़ जाता है। कहाँ अमृत का महासागर और कहाँ एक गन्दी नाली का प्रवहमान गन्दा पानी ? इन दोनों में किसी भी प्रकार की तुलना नहीं की जा सकती। और तो क्या विश्व का समस्त धन विश्व की समस्त सम्पत्ति और इन्द्र का समग्र साम्राज्य भी उसके समक्ष तुच्छ नहीं है।

संसार का साम्राज्य और संसार का भौतिक सुख अध्यात्म-साधना की तुलना में बहुत ही हीन कोटि का ठहरता है। भारतीय संस्कृति में इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि सम्राट और सन्त में से सन्त ही महान है। क्योंकि उसके पास आध्यात्मिकता है जीवन का समरसी भाव है और समत्वयोग की साधना का प्रबल बल है। सम्राट् भौतिक वैभव का प्रतीक है वह भौतिक शक्ति का प्रतीक है। सम्राट् के जीवन में समाधि और शान्ति का अभाव होता है। विशाल साम्राज्य के होते हुए भी अध्यात्म भाव के विकास की दृष्टि से वह एक भिखारी और कंगाल जैसा ही प्रतीत होता है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में सन्त के चरणों में मस्तक झुकाया जाता है। जनता के हृदय में सन्त के प्रति सहज आदर-बुद्धि होती है क्योंकि उसने अपने जीवन के कण-कण में अध्यात्म-साधना के भव्य भाव को रमा लिया है, पचा लिया है। इसी आधार पर मैं आपसे यह कह रहा था कि अध्यात्म-साधना के समक्ष भौतिक ऐश्वर्य निष्प्राण हो जाता है।

मुझे यहाँ पर जैन इतिहास की एक सुन्दर जीवन-गाथा का स्मरण हो

आया है । एक वार मगध-सम्राट श्रेणिक भगवान महावीर को वन्दन करने के लिए और उनके पवित्र दर्शन करने के लिए उनकी सेवा मे आया । राजा श्रेणिक ने आकर अत्यन्त भक्ति-भाव के साथ भगवान् को विधिपूर्वक वन्दन और नमस्कार किया । भगवान् महावीर के समीप ही उपविष्ट उनके प्रधान शिष्य गणधर गौतम को भी श्रेणिक ने भक्ति पूर्वक वन्दन किया । ज्यो ही राजा श्रेणिक गणधर गौतम को वन्दन करके खडे हुए, कि उनके मन मे एक तरग उठी, एक पवित्र विचार उत्पन्न हुआ, उनके प्रसुप्त मन मे एक जागृति आई । राजा श्रेणिक सोचने लगे मैं जव जव भी यहाँ पर आया हूँ, तव-तव मैंने भगवान् को और इन्द्रभूति गौतम आदि प्रमुख मुनिवरो को ही वन्दन किया है, शेष सन्तो को मैंने आज तक विधिपूर्वक वन्दन नही किया । भगवान के ये समस्त शिष्य त्याग-शील हैं, वैराग्यशील हैं, श्रुतधर हैं तथा ज्ञान और चरित्र की साधना करने वाले अध्यात्म-साधक हैं । तव फिर क्यो न मुझे विधिपूर्वक इन सवको आज वन्दन करना चाहिए ? मैं अवश्य ही आज समग्र सन्तो को विधिपूर्वक वन्दन और नमस्कार करूँगा । राजा श्रेणिक के मन की यह भावना असाधारण थी । क्योकि आज तक ऐसी पवित्र भावना का उदय राजा श्रेणिक के मानस मे नही हुआ था । आप जानते हैं, कि जव मानवीय मन मे कोई नयी तरग पैदा हो जाती है, तव उसके मन मे इतनी विलक्षण जागृति उत्पन्न हो जाती है, कि उसकी विलक्षणता का अकन ससार की साधारण आत्मा नही कर पाती । भाव की लहर और विचार की तरग जीवन मे इतना वडा परिवर्तन ला सकती है, कि जिसकी कल्पना करना भी आसान नही होता । इतनी वात अवश्य है, कि वह लहर और वह तरग मन की अतल गहराई से उठनी चाहिए । राजा श्रेणिक ने अपनी भावना के अनुसार समस्त सन्तो को भाव सहित और विधि पूर्वक वन्दन करना प्रारम्भ किया । उल्लास, हर्ष और प्रमोद के साथ वे इस अध्यात्म कार्य को काफी देर तक करते रहे । राजा श्रेणिक के मन मे आज एक विलक्षण समरसी भाव आ गया था, आज एक विलक्षण समत्व योग आ गया था ।

वन्दन करते-करते राजा श्रेणिक ऐसे सन्तो के समक्ष जाकर खडे हो गए, जो भूतकाल मे, ससारी अवस्था मे उनके पुत्र थे, उनके प्रपौत्र थे अथवा उनके सगे सम्बन्धी थे । वडी विचित्र स्थिति थी राजा श्रेणिक के जीवन की वह, जिसमे आज वे तैयार थे, उन साधुओ को वन्दन करने के लिए अथवा उन व्यक्तियो को भी वन्दन करने के लिए जो कभी स्वय राजा श्रेणिक के चरणो में अपना मस्तक रखते थे, जो कभी राजा के दास थे और चरण सेवक थे । वास्तव मे वात यह है, कि जब मन मे अध्यात्म भाव की तरग उठ खडी होती है, उस

समय यह नहीं देखा जाता कि यह मेरा पुत्र है यह मेरा पौत्र है यह मेरा सगा सम्बन्धी है अथवा मेरा सेवक है। साधुत्व भाव पुत्रत्व और पितृत्व से बहुत ऊँचा होता है। साधुत्व भाव के समक्ष संसार के किसी भी संस्कार में ठहरने की शक्ति नहीं है। राजा श्रेणिक और वह श्रेणिक जो मगध का सम्राट है, जिसके चरणों में मगध की कोटि-कोटि जनता नत मस्तक झुकने में गौरव का अनुभव करती है, आज वही सम्राट अपने पूर्वकालीन उन्हीं पुत्रों प्रपौत्रों और सेवकों के चरणों में नमस्कार कर रहे हैं, जिनका नमस्कार कभी वह स्वयं लेते थे। किन्तु मैंने कहा आपसे कि साधुत्व भाव के समक्ष अन्य सब भाव नगण्य हैं, उनका अपने आप में कुछ भी मूल्य नहीं है। राजा श्रेणिक का वन्दन और नमस्कार साधुत्व भाव को था अध्यात्म साधना को था त्याग और वैराग्य को था। भारतीय संस्कृति में त्याग के चरणों में वैभव ने सदा नमस्कार किया है। आचार की पवित्रता के समक्ष वैभव और विलास ने सदा अपने आपको झुकाया है। सच तो यह है, कि जिस समय राजा श्रेणिक सन्तों के चरणों में नमस्कार कर रहे थे उस समय उन्हें यह भान ही नहीं था कि मैं अपने पुत्रों को नमस्कार कर रहा हूँ, अथवा अपने सगे सम्बन्धियों एवं सेवकों को नमस्कार कर रहा हूँ। उस समय राजा श्रेणिक के मन में एक ही संकल्प था कि मैं साधुत्व भाव को नमस्कार कर रहा हूँ मैं त्याग और वैराग्य को वन्दन कर रहा हूँ।

श्रेणिक ने आज पहली बार सन्तों को हार्दिक भाव से वन्दन किया था। वन्दन करते समय उसके मन में अपार हर्ष था और वह सोचता था कि आज मैंने अपने कर्तव्य को पूरा किया है। किसी भी क्रिया में जब मन का योग मिल जाता है तब वह फलवती एवं अर्थवती बन जाती है। श्रेणिक के मन में जो हर्ष और उल्लास था वह उसके मुख पर अभिव्यक्त हो रहा था। परिश्रान्त हो जाने पर भी वह प्रसन्न भाव से वन्दन करता रहा। शरीर में थकावट भले ही आ गई थी किन्तु उसके मन में अभी भी स्फूर्ति विद्यमान थी। राजा श्रेणिक जिन साधुओं को वन्दन कर रहा था उनमें कुछ साधु ऐसे भी थे जो अपनी दीक्षा से पूर्व राजा श्रेणिक के यहाँ निम्न कोटि के दास एवं अनुचर थे। कुछ महलों में झाड़ू लगाते रहे होंगे कुछ हाथियों और घोड़ों की परिचर्या करते रहे होंगे। कुछ छत्रवाहक रहे होंगे तो कुछ चमर डुलाते होंगे। परन्तु त्याग की दृष्टि से आज राजा श्रेणिक उन्हीं को मस्तक झुका रहा था। श्रेणिक के मन में यह अहंकार नहीं आया कि यह कभी मेरे दास थे और मैं इनका स्वामी था। श्रेणिक ने सबको मस्तक झुकाकर करबद्ध

विधिवत् वन्दना की। उसके मन का सारा अहंकार गल गया था। श्रेणिक ने बहुत से सन्तों को वन्दन कर लिया था, कुछ सन्त अभी भी शेष रह गए थे, जिन्हें वह वन्दन नहीं कर पाया था। आखिर परिश्रान्त होकर श्रेणिक वापिस लौट आया, भगवान् के चरणों में। आज श्रेणिक को इस स्थिति में देखकर गणधर गौतम ने प्रश्न किया—"भगवन्। राजा श्रेणिक के मुख मण्डल पर आज भक्ति का अपूर्व तेज झलक रहा है, जिस मधुर भाव से आज राजा ने साधुजनों को वन्दन किया है, उसका क्या फल मिलेगा?" उक्त प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा—"गौतम। राजा श्रेणिक का पूर्व जीवन अच्छा नहीं रहा है, उस समय इसने सात नरकों के पाप का भार इकट्ठा कर लिया था। वह बन्धन टूटते रहे, केवल एक नरक का बन्धन शेष रह गया है। यदि कुछ देर तक और वह वन्दन करता रहता, तो यह पहली नरक का बन्धन भी शेष नहीं रह पाता। वन्दन में कर्म निर्जरा की अपूर्व शक्ति है।

भगवान् महावीर और गणधर गौतम की बात को सुन कर श्रेणिक को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने सोचा सात नरकों में से केवल एक नरक का बन्धन शेष रह गया है, उसे भी ध्वस्त कर क्यों न दूर कर दूं। श्रेणिक अपने स्थान से उठा और फिर वन्दन करने के लिए जाने लगा। श्रेणिक ने सोचा, कुछ साधु शेष रह गए हैं, जिन्हें मैं वन्दन नहीं कर पाया था, अब उन्हें भी वन्दन करलूं। श्रेणिक की इस भावना को जानकर, भगवान् ने कहा—"सम्राट! वह बात गई। वन्दन क्रिया में जो निष्काम भाव था, उसके स्थान पर अब सकाम भाव आ गया है। सकाम भाव से किए जाने वाले वन्दन का वह लाभ नहीं हो सकता। जिस समय तुमने पहले वन्दन किया था, उस समय तुम्हारे मन में किसी प्रकार का प्रलोभन नहीं था। उस समय तुम सर्वथा निष्काम भाव से वन्दन कर रहे थे, और वह जो निष्काम भाव की लहर थी, वह एक विलक्षण लहर थी। उस विलक्षण लहर ने तुम्हारे बन्धनों को तोड़ दिया था, परन्तु अब तुम सौदा करने जा रहे हो। पहले कुछ पाने की अभिलाषा न थी और अब बदले में कुछ पाने की अभिलाषा उत्पन्न हो चुकी है। अब तुम नरक दुःख के भय से प्रताड़ित हो। भय और प्रलोभन फिर भले ही वे कैसे ही हों, साधना के विष है।" इस प्रकार श्रेणिक भगवान् के वचन को सुनकर हाथ जोड़ कर विनम्रभाव से बोला—"भगवन्! मैं आपका सेवक हूँ, आपका भक्त हूँ। इतने वर्षों से मैं आपकी सेवा और भक्ति कर रहा हूँ, क्या फिर भी मुझे नरक में जाना पड़ेगा? आपका भक्त होकर मैं नरक में जाऊँ, यह आपके गौरव के लिए भी उचित न होगा।" विह्वल होकर श्रेणिक ने भगवान के चरण पकड़

लिए। दुःख आखिर दुःख ही होता है उससे बचने का प्रयत्न प्रत्येक व्यक्ति करता है। जिस समय मनुष्य दुःख विह्वल होता है, उस समय व्यक्ति धर्म दर्शन और संस्कृति सभी को भूल जाता है एक मात्र अनागत दुःख का प्रति कार करना ही उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है। राजा श्रेणिक के जीवन में भी यही सब कुछ घटित हुआ।

भगवान् महावीर ने सान्त्वना के स्वर में कहा— 'राजन्! इतने विह्वल क्यों बनते हो। जो दृढ़ कर्म सघन एवं सचिक्कण हैं, उनसे तब तक मुक्ति नहीं मिल सकती जब तक कि उसके फल को भोग न लिया जाए। जिस कर्म को तुमने बांधा है, उसका फल भी तुम्हें ही भोगना होगा। सुख और दुःख का निबद्ध भोग अवश्य ही भोगना पड़ता है। कितने भाग्यशाली हो तुम कि सात नरकों के बन्धन में से केवल एक ही नरक का बन्धन शेष रह गया है। निश्चय ही दुःख के महासागर को पार करते-करते तुम उसके किनारे पर अटक गए हो। चिन्ता मत करो यह बन्धन भी तुम्हारा शेष नहीं रहेगा परन्तु यह कर्म अपना फल दिए बिना दूर न हो सकेगा। भगवान् की इस बात को सुनकर विनम्र भाव से श्रेणिक बोला—"भगवन्! मेरा उद्धार तो आपको करना ही होगा। आपका भक्त होकर मैं नरक में जाऊं यह कैसे हो सकता है? जिस प्रकार माता पिता के सामने बालक जब हठ पकड़ लेता है, तब उसे समझाने के सारे प्रयत्न व्यर्थ हो जाते हैं। यही स्थिति राजा श्रेणिक की थी। वह हठ पकड़ कर बैठ गया। भगवान् ने उसके आग्रह को देखकर परितोष की दृष्टि से नरक के बन्धन से बचने के लिए चार बातें बतलाईं— 'अपनी दासी कपिला से दान करवाना अपने राज्य में रहने वाले काल सौकरिक कसाई से एक दिन की हिंसा बन्द करवा देना एक नवकारसी तप करना और राजगृह में रहने वाले प्रसिद्ध श्रावक पूनिया की एक सामायिक खरीद लेना।

पहली तीन बातें राजा ठीक तरह पूरी न कर सका था फिर भी उसने चौथी बात पूरी करने का निश्चय किया। राजा श्रेणिक ने अपने मन में सोचा पूनिया श्रावक मेरे राज्य का व्यक्ति है, मेरी प्रजा है। वैसे भी उसके साथ मेरा काफी परिचय है। मैंने सुना है, कि वह प्रतिदिन सामायिक करता है अस्तु उसके पास सामायिक काफी संख्या में जमा हैं। एक दिन की सामायिक दे देना उसके लिए कौन बड़ी बात है, जितना भी धन वह चाहेगा उतना ही देकर मैं एक सामायिक अवश्य खरीद लूंगा।

एक दिन राजा श्रेणिक स्वयं पूनिया श्रावक के घर पहुँचा और देखा कि

पूनिया श्रावक अपनी सामायिक की साधना मे लीन है। पूनिया श्रावक जब सामायिक की साधना से निवृत्त हुआ, तब उसने देखा कि मगध-सम्राट् श्रेणिक उसके घर पर आए हुए है। पूनिया श्रावक ने श्रेणिक का अभिवादन किया और बडे आदर के साथ आसन पर बैठाया, फिर विनम्र भाव से बोला—"मेरा परम सौभाग्य है, कि आज आप मेरे द्वार पर पधारे, मैं आपकी क्या सेवा करूँ।" राजा ने अपने आने का प्रयोजन बतलाते हुए कहा—"मैं आज एक विशेष प्रयोजन लेकर आपके पास आया हूँ। आप भगवान महावीर के उत्कृष्ट भक्त हैं और मैं भी भगवान महावीर का एक तुच्छ सेवक हूँ। आपका और मेरा यह धार्मिक बन्धुभाव है, आप प्रतिदिन सामायिक करते हैं, एक दिन की सामायिक मैं खरीदना चाहता हूँ और इसके बदले मे जितना भी धन आपको चाहिए, आप मुझसे ले सकते है।" राजा की इस बात को सुनकर पूनिया श्रावक गम्भीर हो गया और मन्द मुस्कान के साथ बोला—"मैंने कभी सामायिक का व्यापार नही किया है, अत मुझे नही मालूम कि एक सामायिक का क्या मूल्य होता है ? जिस किसी ने भी आपको सामायिक खरीदने का परामर्श दिया है, आप उसी से पूछें, कि सामायिक का क्या मूल्य होता है ?"

राजा श्रेणिक ने अपने मन मे सोचा, "यह बात बन जाएगी। मालूम होता है कि पूनिया अपनी सामायिक देने के लिए तैयार है, अब केवल सामायिक की कीमत निर्णय करने का ही काम रह गया है।"

राजा श्रेणिक तुरन्त भगवान की सेवा मे पहुँचा। भगवान को वन्दन और नमस्कार करके बोला—"भगवन्! आपकी कृपा से सामायिक खरीदने का प्रश्न प्राय हल हो गया है। अब तो केवल इतना ही शेष रहा है, कि सामायिक का मूल्य क्या है, इसका निर्णय आप कर दें।" भगवान् ने शान्त स्वर मे कहा—"श्रेणिक! सामायिक एक अध्यात्म साधना है। वह अपने मे एक अमूल्य वस्तु है, मूल्य भौतिक पदार्थ का हो सकता है, अभौतिक पदार्थ का नही। फिर भी यदि तुम सामायिक खरीदना चाहते हो, उसकी कीमत मैं तुम्हे क्या बतलाऊँ। तुम्हारे सम्पूर्ण राज्य का धन सामायिक की कीमत तो क्या चुका सकेगा, जितना तुम्हारे निधि मे और तुम्हारे राज्य मे धन है, उतना धन तो उसकी दलाली भी पूरी न कर सकेगा। यदि धरातल से लेकर चन्द्रलोक तक स्वर्ण का ढेर लगा दिया जाए, तब भी आध्यात्मिक साधना के एक क्षण की दलाली का मूल्य नही दिया जा सकता, असली मूल्य की तो बात ही क्या ? श्रेणिक! और तो क्या, समस्त ससार का धन भी यदि एकत्रित कर लिया जाए, तब भी उससे सामायिक खरीदी नही जा सकती। सामायिक एक

अध्यात्म-साधना है, वह व्यापार की वस्तु नहीं है। न तुम उसे खरीद सकते हो और न पूनिया उसे बेच ही सकता है।" राजा श्रेणिक भगवान के कथन के गूढ़ रहस्य को समझ चुका था। विनम्र होकर बोला— 'भगवन्! आपका कथन सत्य भूत एवं यथार्थ है। अध्यात्म साधना अध्यात्मक साधना है उसे न बेचा जा सकता है और न खरीदा जा सकता है। मेरी बुद्धि का भ्रम आज आपके उपदेश से दूर हो गया है।

यह कथानक हमें आध्यात्मिक वैभव के समक्ष भौतिक वैभव की नगण्यता बताता है और यह भी बताता है कि मनुष्य स्वयं अपने पुरुषार्थ से जो कुछ साधना पर पाता है वही उसकी अपनी साधना है। दूसरे की साधना किसी दूसरे के काम नहीं आ सकती। यह कथानक साधना के एक और अंग पर भी प्रकाश डालता है। वह अंग है साधना में निष्काम भाव का होना। राजा श्रेणिक जब तक सन्तों को शुद्ध भाव से वन्दन करता रहा कर्म-क्षय होता रहा और ज्यों ही सकाम भावना आई भय एवं प्रलोभन का भाव जागृत हुआ फिर उसी वन्दन क्रिया में वह आनन्द वह माधुर्य वह शक्ति और वह स्वारस्य नहीं रहा। अतएव साधना के क्षेत्र मे आपको जो भी कुछ करना हो निष्काम भाव से कीजिए। मन मे किसी प्रकार का स्वार्थ रख कर मत चलिए, जिस साधना के पीछे कामना हो अभिलाषा हो वस्तुत उसे अध्यात्म साधना कहा ही नही जा सकता। अध्यात्म-साधना में समत्व योग की आवश्यकता है। मन के और बुद्धि के संतुलन की और सावधानी की अपेक्षा है।

साधक अपने मन के खेत में कामना का बीज डालता है तो उसे अध्यात्म फल कैसे प्राप्त हो सकता है? किसान अपने खेत को जोतकर और साफ करके उत्तम बीज डालता है, और जो घास-फूस व्यर्थ में पैदा हो जाता है उसे दूर करके पौधों की रक्षा करता है, तभी अच्छी फसल पैदा होती है, साधक के मन के खेत की भी यही स्थिति है। मन के खेत में असावधानी अथवा प्रमाद से काम-क्रोध आदि विकार का घास-पात उत्पन्न हो जाता है यदि साधक उसे दूर न हटाए, तो उसके मन की खेती की फसल अच्छी नहीं हो सकती। मनुष्य का मन एक ऐसी भूमि है, कि उसमें विचार भी उत्पन्न हो सकते हैं और उसमे विकार भी उत्पन्न हो सकते है। यदि विवेक न रखा जाए, तो मानव मन में विकार ही उत्पन्न होगे उसमे उत्तम विचार उत्पन्न कैसे हो सकता है? मन की भूमि एक ऐसा खेत है, इसमें संसार-अभिवृद्धि का बीज भी बोया जा सकता है और धर्म ध्यान का बीज भी बोया जा सकता है। यह साधक पर निर्भर है, कि वह अपने मन के खेत मे विचारों को उत्पन्न होने दे अथवा

विकारो को उत्पन्न होने दे। विचार से विकास होता है और विकार से विनाश होता है। यदि इस सिद्धान्त को ध्यान मे रखा जाए, तो मनुष्य बहुत से पापो से और विकारो से बच सकता है। शास्त्रकारो ने बताया है—

"मन एव मनुष्याणा कारण बन्ध-मोक्षयो ।
बन्धाय विषयासक्त मुक्त्यै निर्विषय मन ॥"

मनुष्य का मन ही बन्धन का कारण है और मनुष्य का मन ही मुक्ति का कारण है। जब मनुष्य का मन विकल्प और विकारो से भर जाता है, तब वह उसे बन्धन मे डाल देता है और जब मनुष्य के मन मे शुद्धोपयोग की धारा प्रवाहित होती है, तब वह मुक्ति की ओर अग्रसर होता है। बन्धन और मुक्ति दोनो हमारे मन मे हैं। हम अपने विकारो के कारण ही बन्धन मे बँधते हैं और हम अपने स्वच्छ विचारो के कारण ही बन्धनो से मुक्त हो जाते हैं। जीवन की प्रत्येक क्रिया मे, फिर भले ही वह बडी हो अथवा छोटी हो, विवेक और विचार की बडी आवश्यकता रहती है। विवेकशील व्यक्ति पतन के अधकार मे से भी उत्थान के प्रकाश को खोज लेता है।

मैं आपसे विकार की बात कर रहा था। एक सज्जन ने मुझसे पूछा, कि "विकार कितने हैं ?" मैंने कहा—"विकारो का लेखा जोखा लगाना साधारण बात नही है। एक-एक मनुष्य के मन में हजारो, लाखो, करोडो और असख्यात विकार होते हैं ? उन सबसे लडना न सम्भव है और न शक्य है। प्रतिक्षण मनुष्य के मन मे विकारो का एक तूफान उठ रहा है, विकारो का एक झँझावात चल रहा है और विकारो का ज्वार-भाटा उभर रहा है। मन के असख्यात विकारो से पृथक-पृथक रूप मे न लडा जा सकता है और न उन पर विजय प्राप्त की जा सकती है। उन्हें जीतने का एक ही तरीका है, उन पर विजय प्राप्त करने का एक ही उपाय है। यदि उस उपाय से उन पर विजय प्राप्त की जाए, तो मनुष्य को शीघ्र ही सफलता मिल सकती है। विकारो से लडने की एक कला है, उस कला के अपरिज्ञान से ही जीवन मे हजारो समस्याएँ उठ खडी होती हैं। विकारो से लडने की एक कला है, यह मैंने आपसे कहा है। आप सोचते होंगे कि वह कला कौन-सी है, जिसके परिज्ञान से हम अपने विकारो पर विजय प्राप्त कर सकें। उस कला का प्रतिपादन करना ही शास्त्र का एक मात्र उद्देश्य है।

प्राचीन काल मे युद्ध का एक सिद्धान्त था, कि 'हत सैन्यमनायकम्' इसका अर्थ है—जिस सेना का सेनापति मर जाता है, वह सेना नष्ट हो जाती है। बात यह सही है, कि जब मार्ग-दर्शक नही रहा और जब सेना का सचालन

करने वाला सेनापति ही नहीं रहा तब सेना युद्ध के क्षेत्र में कैसे खड़ी रह सकती है। शक्ति सेना में नहीं रहती वह रहती है सेनापति में। जब सेनापति मर गया तब नेतृत्व के अभाव में वह सेना शक्ति रहते हुए भी लड़ने में असमर्थ हो जाती है। यही सिद्धान्त हमारे मानसिक जगत पर लागू होता है। एक एक मनुष्य के मन में असंख्यात विकल्पों की सेना रहती है किन्तु उन सबका सेनापति एक ही है। वह सेनापति है—मोह। यदि मोह को नष्ट कर दिया जाए तो अन्य विकल्पों की विशाल सेना भी मन के युद्ध क्षेत्र में खड़ी नहीं रह सकती। जिस सेना का सेनानी ही समाप्त हो गया तो फिर वह सेना युद्धस्थल में खड़ी नहीं रह सकती वह पराजित होती है और भाग खड़ी होती है। इसी प्रकार जितने कर्म हैं जितने दोष हैं उन सब दोषों का राजा अथवा सेनापति मोह है। शेष सब विकार इस मोह के नेतृत्व में ही आगे बढ़ते हैं और पल्लवित होते हैं। राग और द्वेष भी इसी मोह से सम्बन्धित हैं। जब किसी वस्तु के प्रति हमारे मन में लगाव पैदा होता है तो हम उसे राग कहते हैं और जब किसी वस्तु के प्रति बिलगाव पैदा होता है, तो हम उसे द्वेष कहते हैं। शास्त्रकारों का कथन है, कि सबसे बड़ी लड़ाई और सबसे पहली लड़ाई, जो साधक को लड़नी है वह अपने मोह से लड़नी है क्योंकि समग्र दोषों का मूल केन्द्र यह मोह ही है। उस पर विजय प्राप्त कर ली तो सारी साधना नियमित ढंग से चलती रहेगी। फिर दुनिया की कोई ताकत नहीं कि आपकी साधना को गलत राह पर मोड़ सके। हम जहाँ कहीं भी गए हैं, वहीं पर हमें शरीर मिला है, इन्द्रियाँ मिली हैं और संसार के पदार्थ मिले हैं, उन पदार्थों पर हमारी आसक्ति रही है इस आसक्ति को तोड़ना ही सबसे बड़ी साधना है। इस आसक्ति को तोड़ने के दो उपाय हैं—अभ्यास और वैराग्य। निरन्तर प्रयत्न करना यही अभ्यास है और विषयों से विरक्ति रखना यही वैराग्य है। बिना वैराग्य के संसार के पदार्थों की आसक्ति से छुटकारा नहीं मिल सकता। साधारण मनुष्य की बात क्या इन्द्र और चक्रवर्ती जैसी शक्ति भी आसक्ति के चंगुल में फँसी रहती है। मनुष्य तुच्छ पदार्थों के लिए मचलता है, किन्तु उसे यह पता नहीं है कि इन्द्र का ऐश्वर्य और चक्रवर्ती का भोग भी संसार में स्थिर नहीं रहता है। इस स्थिति में किस पदार्थ को अपना समझा जाए और किस पदार्थ की प्राप्ति पर अहंकार किया जाए। मनुष्य का अहंकार सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि यह लक्ष्मी यह वैभव और यह विलास कभी स्थिर नहीं रहा है और कभी स्थिर नहीं रहेगा। जो आया है, वह अवश्य ही जाएगा।

मैं आपसे संसार के पदार्थों की बात कह रहा था। संसार के पदार्थ क्या

है, उनका क्या स्वरूप है ? यह एक गम्भीर विषय है। भारत के तत्वदर्शी विचारको ने कहा है, कि ससार का एक भी पदार्थ हमारा अपना नही हो सका है। जो अपना नही है, उसे अपना मानना यही सबसे भयकर भूल है। मनुष्य अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए अशन, वसन और भवन का सग्रह करता है। उसने जो कुछ इधर-उधर से बटोरा है, उस पर वह अपनेपन की मुद्रा लगाना चाहता है। यह जीवन क्या है, जल बुद्बुद के समान क्षण भगुर इन्सान अपनी जिन्दगी के पचास-साठ वर्षो मे न्याय से अथवा अन्याय से जो ...र पाता है, अन्त मे वह उसे यही छोडकर विदा हो जाता है। जिन ...को वह जीवन भर अपना मानता रहा, उन पर प्रेम करता रहा, ... वे भी उसका साथ न दे सके। उन सबको यही छोडकर उसे अकेले ही विदा होना पडा। यह है, ससार की वास्तविक स्थिति। ससार के ...दाथ की आसक्ति की जाए और किस पदाथ से मोह किया जाए और ... के किस पदार्थ को अपना माना जाए ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। ...ह शरीर भी हमारा अपना नही है, तब इस शरीर को सजाने वाले ...र और वस्त्र हमारे अपने कैसे हो सकेंगे ? मोह मुग्ध आत्मा ससार के ...रम सत्य को समझ नही सकता।

एक बार मुझे एक डाक्टर मिले। उन्होंने कहा, कि यह औषधि ले लो। ...समय मैं बगाल की विहार-यात्रा कर रहा था और कुछ अस्वस्थ था। मैंने डाक्टर से पूछा—"औषधि तो मैं ले लूंगा, किन्तु पहले यह बतलाइए जो औषधि आप मुझे दे रहे हैं, उसमे कोई ऐसी वस्तु तो नही है, जो ...े नियम के विरुद्ध हो।"

डाक्टर बोला—"क्या अभिप्राय है आपका ?' मैंने अपनी बात को स्पष्ट ...ते हुए कहा—कि 'जिस दवा मे मास शराब आदि अशुद्ध एव त्याज्य ...एँ मिली रहती हैं, उसे हम ग्रहण नही कर सकते।"

मेरी बात को सुनकर डाक्टर हँसा और कहने लगा—"महाराज! आप बडी दूर की बातें सोचते है, हम तो शरीर को सबसे अधिक महत्व देते शरीर से बढकर अन्य कुछ नही है। इस शरीर की रक्षा के लिए मास ... शराब तो क्या अन्य बुरी से बुरी वस्तु भी ग्रहण करनी पडे, तो हम कर ...ते हैं। शरीर है तो सब कुछ है, नही तो कुछ भी नही।"

मैंने डाक्टर से कहा—महत्व शरीर का नही है, शरीर रूपी मन्दिर मे ...ने वाला आत्म देवता ही सबसे बडा है। आत्म-देव के अस्तित्व से ही, ...र' शरीर है अन्यथा यह शव है। शरीर एक साधन हो सकता है, किन्तु

करने वाला सेनापति ही नहीं रहा तब सेना युद्ध के क्षेत्र में कैसे खड़ी रह सकती है। शक्ति सेना में नहीं रहती वह रहती है सेनापति में। जब सेनापति मर गया तब नेतृत्व के अभाव में वह सेना शक्ति रहते हुए भी लड़ने में असमर्थ हो जाती है। यही सिद्धान्त हमारे मानसिक जगत पर लागू होता है। एक एक मनुष्य के मन में असंख्यात विकल्पों की सेना रहती है किन्तु उन सबका सेनापति एक ही है। वह सेनापति है—मोह। यदि मोह को नष्ट कर दिया जाए तो अन्य विकल्पों की विशाल सेना भी मन के युद्ध क्षेत्र मे खड़ी नहीं रह सकती। जिस सेना का सेनानी ही समाप्त हो गया तो फिर वह सेना युद्धस्थल में खड़ी नहीं रह सकती वह पराजित होती है और भाग खड़ी होती है। इसी प्रकार जितने कर्म हैं, जितने दोष हैं उन सब दोषों का राजा अथवा सेनापति मोह है। शेष सब विकार इस मोह के नेतृत्व में ही आगे बढ़ते हैं और पल्लवित होते हैं। राग और द्वेष भी इसी मोह से सम्बन्धित हैं। जब किसी वस्तु के प्रति हमारे मन में लगाव पैदा होता है तो हम उसे राग कहते हैं और जब किसी वस्तु के प्रति विलगाव पैदा होता है, तो हम उसे द्वेष कहते हैं। शास्त्रकारों का कथन है, कि सबसे बड़ी लड़ाई और सबसे पहली लड़ाई जो साधक को लड़नी है, वह अपने मोह से लड़नी है क्योंकि समग्र दोषों का मूल केन्द्र यह मोह ही है। उस पर विजय प्राप्त कर ली तो सारी साधना नियमित ढंग से चलती रहेगी। फिर दुनिया की कोई ताकत नहीं कि आपकी साधना को गलत राह पर मोड़ सके। हम जहाँ कहीं भी गए हैं, वहीं पर हमें शरीर मिला है, इन्द्रियाँ मिली हैं और संसार के पदार्थ मिले हैं, उन पदार्थों पर हमारी आसक्ति रही है इस आसक्ति को तोड़ना ही सबसे बड़ी साधना है। इस आसक्ति को तोड़ने के दो उपाय हैं—अभ्यास और वैराग्य। निरन्तर प्रयत्न करना यही अभ्यास है और विषयों में विरक्ति रखना यही वैराग्य है। बिना वैराग्य के संसार के पदार्थों की आसक्ति से छुटकारा नहीं मिल सकता। साधारण मनुष्य की बात क्या इन्द्र और चक्रवर्ती जैसी शक्ति भी आसक्ति के चंगुल में फँसी रहती है। मनुष्य तुच्छ पदार्थों के लिए भागता है, किन्तु उसे यह पता नहीं है, कि इन्द्र का ऐश्वर्य और चक्रवर्ती का भोग भी संसार में स्थिर नहीं रहता है। इस स्थिति में किस पदार्थ को अपना समझा जाए और किस पदार्थ की प्राप्ति पर अहंकार किया जाए। मनुष्य का अहंकार सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि यह लक्ष्मी यह वैभव और यह विलास कभी स्थिर नहीं रहा है और कभी स्थिर नहीं रहेगा। जो आया है, वह अवश्य ही जाएगा।

मैं आपसे संसार के पदार्थों की बात कह रहा था। संसार के पदार्थ क्या

है, उनका क्या स्वरूप है ? यह एक गम्भीर विषय है। भारत के तत्वदर्शी विचारको ने कहा है, कि ससार का एक भी पदार्थ हमारा अपना नही हो सका है। जो अपना नही है, उसे अपना मानना यही सबसे भयकर भूल है। मनुष्य अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए अशन, वसन और भवन का सग्रह करता है। उसने जो कुछ इधर-उधर से बटोरा है, उस पर वह अपनेपन की मुद्रा लगाना चाहता है। यह जीवन क्या है, जल बुद्बुद के समान क्षण भगुर इन्सान अपनी जिन्दगी के पचास-साठ वर्षों मे न्याय से अथवा अन्याय से जो सग्रह कर पाता है, अन्त मे वह उसे यही छोडकर विदा हो जाता है। जिन पदार्थों को वह जीवन भर अपना मानता रहा, उन पर प्रेम करता रहा, आखिर वे भी उसका साथ न दे सके। उन सबको यही छोडकर उसे अकेले ही यहाँ से विदा होना पडा। यह है, ससार की वास्तविक स्थिति। ससार के किस पदार्थ की आसक्ति की जाए और किस पदार्थ से मोह किया जाए और ससार के किस पदार्थ को अपना माना जाए ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। जब यह शरीर भी हमारा अपना नही है, तब इस शरीर को सजाने वाले अलकार और वस्त्र हमारे अपने कैसे हो सकेंगे ? मोह मुग्ध आत्मा ससार के इस चरम सत्य को समझ नही सकता।

एक बार मुझे एक डाक्टर मिले। उन्होंने कहा, कि यह औषधि ले लो। उस समय मैं बगाल की विहार-यात्रा कर रहा था और कुछ अस्वस्थ था।

मैंने डाक्टर से पूछा—"औषधि तो मैं ले लूंगा, किन्तु पहले यह बतलाइए कि जो औषधि आप मुझे दे रहे है, उसमे कोई ऐसी वस्तु तो नही है, जो हमारे नियम के विरुद्ध हो।"
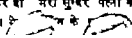
डाक्टर बोला—"क्या अभिप्राय है आपका ? ' मैंने अपनी बात को स्पष्ट करते हुए कहा—कि ' जिस दवा मे मास शराब आदि अशुद्ध एव त्याज्य वस्तुएँ मिली रहती हैं, उसे हम ग्रहण नही कर सकते।"

मेरी बात को सुनकर डाक्टर हँसा और कहने लगा—"महाराज ! आप तो बडी दूर की बातें सोचते हैं, हम तो शरीर को सबसे अधिक महत्व देते हैं। शरीर से बढकर अन्य कुछ नही है। इस शरीर की रक्षा के लिए मास और शराब तो क्या अन्य बुरी से बुरी वस्तु भी ग्रहण करनी पडे, तो हम कर सकते हैं। शरीर है तो सब कुछ है, नही तो कुछ भी नही।"

मैंने डाक्टर से कहा—महत्व शरीर का नही है, शरीर रूपी मन्दिर मे रहने वाला आत्म देवता ही सबसे बडा है। आत्म-देव के अस्तित्व से ही, शरीर'शरीर है अन्यथा यह शव है। शरीर एक साधन हो सकता है, किन्तु

वह हमारे जीवन का साध्य नहीं बन सकता। इसलिए शरीर ही सब कुछ नहीं है, बल्कि शरीर में रहने वाला यह चैतन्य देव ही सब कुछ है। जितनी चिन्ता हम शरीर की करते हैं, उतनी आत्मा को कहाँ कर पाते हैं? यह शरीर तो जड़ है, कभी बनता है और कभी बिगड़ता है, किन्तु चैतन्य देव आत्मा जो न कभी बना है और न कभी बिगड़ेगा मरण होगा वही हमारे जीवन का साध्य होना चाहिए। जब हम शरीर पर आसक्ति करते हैं तभी हम ऐसा कहते हैं, कि *यह शरीर ही सब कुछ है। यह अविवेक ही वस्तुतः हमारे* पतन का मुख्य कारण है। आसक्ति को दूर करना ही हमारे जीवन की साधना है।

डाक्टर ने मेरी इन सब बातों को गम्भीरता के साथ सुना और अन्त में बोला कि 'बात आपकी ठीक है। चैतन्य देव ही हम सबका साध्य होना चाहिए। उसके रहने पर ही शरीर का अस्तित्व है। अब मैं आपको ऐसी दवा दूँगा जिसमें कोई अपवित्र वस्तु मिली हुई न होगी।" डाक्टर मेरे अभिप्राय को समझ चुका था।

मैं आपसे मोह और आसक्ति की बात कह रहा था। जिस समय मनुष्य के मन में मोह अथवा आसक्ति उत्पन्न होती है, उस समय वह न्याय-अन्याय कुछ नहीं देखता। मनुष्य की आसक्ति का सबसे बड़ा केन्द्र है—सम्पत्ति और धन। धन और वैभव के लिए मनुष्य संसार का बड़े से बड़ा पाप कर सकता है। धन के लिए वह हिंसा कर सकता है धन के लिए वह असत्य बोल सकता है और धन के लिए वह चोरी भी कर सकता है। कांचन और कामिनी—ये दोनों संसार के सबसे बड़े बन्धन हैं। संसार में जितने भी संघर्ष होते हैं जितने भी युद्ध होते हैं वे सब कांचन और कामिनी के लिए ही होते हैं। मुझे एक बार पेशावर का रहने वाला एक व्यक्ति मिला। बात वह उस समय की है जबकि देश का बँटवारा हो चुका था। भारत का एक भाग पाकिस्तान के रूप में आ चुका था। एक दिन वह व्याख्यान में आया और बड़ी भावुकता से व्याख्यान सुनता रहा। व्याख्यान की समाप्ति पर वह मेरे समीप आया और बोला— महाराज! मैं बड़े कष्ट में हूँ। बड़े सद्भाग्य से आप जैसे सन्तों के मुझे दर्शन हुए हैं। मैंने पूछा— 'क्या कष्ट है आप पर 'अश्रु पूर्ण नेत्रों से मेरी ओर देखते हुए उसने कहा— 'महाराज! मेरे ऊपर बड़ा अन्याय और बड़ा अत्याचार हुआ है। मेरे ही सामने पाकिस्तानी गुण्डों ने मेरे पिता को कत्ल कर दिया मेरी माँ की हत्या कर दी मेरी सुन्दर पत्नी को मेरे सामने बेइज्जती की और उठा कर ले गए। [illegible] के [illegible] देखते हुए बलात्कार किया गया। मेरे भरे पूरे हुए

कुछ भी तो नही बचा । आज भूखो मरता हूँ । कोई थोडी बहुत सहायता कर दे तो बडी कृपा हो ।"

उसकी बातो को सुनकर मेरा मन दु ख और ग्लानि से भर गया । मैंने कहा—"यह सब कुछ अच्छा नही हुआ । कोई भी भावना-शील व्यक्ति इस पापाचार की बात सुनकर दु खित हुए बिना नही रह सकता । पर मैं तुमसे एक बात पूछना चाहता हूँ, कि जब तुम्हारी प्रियपत्नी और बहिन पर यह अन्याय और अत्याचार हो रहा था, तब तुमने प्रतिकार क्यो नही किया ? अपने प्राणो को बचा कर वहाँ से क्यो भाग खडे हुए ? प्राणो के प्रति इतना व्यामोह ? धिक्कार है, इस जीवन को । आखिर तुम्हारे इस कायर जीवन का क्या उपभोग होगा । तुम्हारे माता-पिता की हत्या तुम्हारे सामने हुई । तुम्हारी पत्नी का अपहरण तुम्हारे सामने हुआ । तुम्हारी आँखो के सामने तुम्हारी बहन की बेइज्जती होती रही, फिर भी तुम्हे जोश नही आया ? उन निर्मम और निर्दय लोगो से न्यायोचित सघर्ष करने की भावना तुम्हारे मन मे पैदा नही हुई ? तुम्हारे मन मे भावना पैदा हुई, केवल अपने क्षणभगुर तुच्छ जीवन के रक्षण की । इससे कही अधिक अच्छा होता, कि तुम उस निर्मम और निर्दय अत्याचार से जूझ पडते, किन्तु तुम्हारे जीवन के व्यामोह ने तुम्हे ऐसा नही करने दिया । खेद है, आज उन मृत आत्माओ के ऊपर होने वाले अत्याचारो की कहानी सुना-सुनाकर अपना पेट पाल रहे हो । अब भी शरीर का मोह छोडो और अपने अन्त पुरुषार्थ को जागृत करो ।"

मैं आपसे कह रहा था कि जीवन का मोह सबसे भयकर होता है । जीवन के व्यामोह मे से ही हजारो-हजार पाप फूट पडते हैं । आखिर, जीवन का व्यामोह करके हम इससे क्या लाभ उठाएँगे ? यदि हमने जीवन मोह से मुक्त हो, इसे परमार्थ के मार्ग पर न लगाया तो ? जीवन की सार्थकता जीवित रहने मे नही है, उसकी सार्थकता है—अध्यात्म साधना मे, परोपकार मे और दूसरो की सहायता करने मे । यदि आप अपने जीवन मे किसी दु खी के आँसुओ को न पोछ सके, तो आपके जीवन की कोई उपयोगिता नही है । इन्सान की इन्सानियत इसी मे है, कि वह इन्सान के काम आए ।

जीवन का मोह मनुष्य को गलत रास्ते पर ले जा सकता है । जीवन से प्रेम करना अलग वस्तु है और जीवन से मोह करना अलग बात । जब व्यक्ति अपने जीवन के प्रति मोह करने लगता है, तब वह अपने कर्तव्य को भूल जाता है । कर्तव्य का बोध तभी होता है, जबकि वह भय रहित हो, उसके मानस मे किसी प्रकार का भय न हो । भयाकुल व्यक्ति किसी भी प्रकार का सत्कर्म नही कर सकता । शास्त्रकारो ने बताया है, कि भय

मन का एक रोग है, जब तक यह मन में रहता है, तब तक व्यक्ति किसी भी प्रकार का सत्कर्म करने में समर्थ नहीं हो पाता। भय चाहे किसी भी प्रकार का क्यों न हो हमारी साधना में एक प्रकार का विघ्न ही है। प्रत्येक साधक को भय से विमुक्त होने का ही प्रयत्न करना चाहिए। महाकवि गटे ने एक बहुत सुन्दर बात कही है Do the thing you fear and the death of fear is certain गेटे कहता है कि अपने मन के भय को जीतने के लिए इससे सुन्दर अन्य कुछ भी उपाय नहीं हो सकता कि तुम वही कार्य करो जिससे तुम भयभीत होते हो। यह निश्चित है कि निर्भयता के सतत अभ्यास एवं साधना से एक दिन तुम्हारे मन का भय अवश्य ही नष्ट हो जाएगा। जीवन विनाश का भय अथवा मरण का भय संसार में सबसे बड़ा भय माना जाता है। भगवान् महावीर की वाणी बुद्ध की वाणी और उपनिषदों का अध्यात्म संगीत हमें यही सिखाता है कि हम जीवन और मरण से तटस्थ एवं निर्भय होकर रहें। यदि जीवन में निर्भयता नहीं आई तो हम जिन्दगी के किसी भी मोर्चे पर अड़कर खड़े नहीं हो सकते। आत्मा की अमरता का सिद्धान्त हमें यह मधुर प्रेरणा देता है कि हमें भयंकर से भयंकर संकट काल में यहाँ तक कि मृत्युकाल में भी अपनी शाश्वत अमरता में विश्वास होना चाहिए। यदि आत्मा की अनन्त अमरता में विश्वास हो जाता है तो फिर जीवन में किसी भी प्रकार का भय शेष नहीं रहने पाता। इसीलिए मैं आपसे कहता हूँ, कि निर्भय बनो और अपने जीवन में जो भी कुछ करो उस निर्भयता के साथ करो।

यहाँ पर मुझे एक कथानक का स्मरण हो आया है। एक गाँव था क्षत्रियों का और उसके पास में ही एक दूसरा गाँव था कोलियों का। दोनों में परस्पर लूटमार चलती रहती थी। जब भी जिसका दाव लगता वही दूसरे को लूट लेता था किन्तु क्षत्रिय अधिक ताकतवर थे अतः अन्ततः उनका ही पलड़ा भारी रहता था। एक दिन कोलियों ने विचारा कि ये क्षत्रिय लोग हमें सदा तंग करते एवं लूटते रहते हैं। तब क्यों न सामूहिक रूप में एक बार आकस्मिक आक्रमण करके हमेशा के लिए इन्हें ठीक कर दिया जाए। वे लोग आपस में विचार करने लगे कि हमला कब किया जाए? कैसे किया जाए? क्षत्रियों पर आक्रमण करना आसान न था। फिर भी यह सोचा गया कि रोज-रोज मरने की अपेक्षा यदि एक ही दिन निबट लिया जाए तो अच्छा रहेगा। वे सब लोग एकत्रित होकर रात्रि के अँधेरे में क्षत्रिया के ग्राम के बाहर एकत्रित हो गए। विचार किया कि अभी तो रात्रि का प्रारम्भ है,

क्षत्रिय लोग जाग रहे होंगे, अत जब रात्रि अधिक बीत जाए और सब सो जाएँ, तभी आक्रमण करना ठीक होगा। मनुष्य का यह स्वभाव है कि जहाँ बल से काम नही होता, वहाँ वह छल से काम करना चाहता है। गाँव के बाहर जंगल मे, वे सब लोग एक स्थान पर ठहर कर, गहरी रात्रि होने की प्रतीक्षा करने लगे। वे सब पक्ति बनाकर सिपाहियो के समान अपने-अपने मोर्चे पर डट गए। तेजोहीन लोगो के सकल्प अधिक देर तक जागृत नही रहते। उन्हे यहाँ बैठे-बैठे नीद के झौंके आने लगे, और धीरे धीरे सब पैर पसार कर सो गए, खर्राटे लेने लगे, परन्तु सबसे अगली पक्ति वालो को भय के कारण नीद नही आ रही थी, वे सोचने लगे कि यदि कही मालूम हो गया और क्षत्रियो ने ही हम पर आक्रमण कर दिया, तो सबसे पहले हम ही मरेंगे। अत वे चुपके से उठे और सबसे पीछे की पक्ति मे जाकर सो गए। इसके बाद दूसरी पक्ति वाले उठे और देखा कि हमसे आगे सोने वाले कहाँ चले गए ? तलाश करने पर पता लगा, कि वे सबसे पीछे जा कर सो गए हैं। दूसरी पक्ति के लोगो ने भी यही सोचा, कि यदि क्षत्रियो ने हम पर आक्रमण कर दिया तो हम मारे जाएँगे, अत वे भी अपनी जीवन-रक्षा के लिए पीछे की सबसे अन्तिम पक्ति के बाद जाकर सो गए। इस प्रकार अगली पक्ति के लोग धीरे-धीरे पीछे खिसकते रहे। ठीक समय पर क्षत्रिय लोगो के गाँव पर आक्रमण करने की अपेक्षा, वे लोग अपने जीवन की रक्षा करने के लिए बराबर पीछे की ओर हटते रहे। परिणामत पीछे सरकते-सरकते सब लोग अपने उसी गाँव मे पहुँच गए, जहाँ से वे आक्रमण करने के लिए चले थे।

इस कथानक मे कुछ व्यग्य हो सकता है, मजाक हो सकता है, लेकिन मैं समझता हूँ कि जीवन के क्षेत्र मे कायर व्यक्ति हर मोर्चे पर ऐसा ही सोचते हैं और ऐसा ही करते हैं। जीवन-मोह मे से ही इस प्रकार पीछे हटने की भावना उत्पन्न होती है। युद्ध की बात ही नही, दान, सेवा और परोपकार आदि के रूप मे जीवन के हर मोर्चे पर मनुष्य पीछे ही हटना चाहता है, वह आगे नहीं बढना चाहता। यदि कोई व्यक्ति दान लेने के लिए अथवा कुछ सहायता प्राप्त करने के लिए किसी के पास जाता है, तो वह यही कहता है, कि इस चिट्ठे पर पहले अमुक व्यक्ति से लिखवा लीजिए, उसके बाद मैं लिखूँगा अथवा पिता पुत्र का बहाना करता है और पुत्र पिता का। और यदि दोनो ही पकड मे आ जाते हैं, तो बचने के लिए मुनीमजी का पल्ला पकडते हैं और कहते हैं कि मुनीमजी से पूछेंगे, इस प्रकार धन का मोह उसे

दान नहीं करने देता। दान करने का अवसर मिलने पर भी व्यक्ति धन-मोह के कारण दान नहीं कर पाता किसी की सहायता नहीं कर पाता।

मैं आपसे पूछता हूँ कि दान करना अथवा किसी की सहायता करना अच्छा काम है अथवा बुरा काम है? यदि अच्छा काम है, तो आप दूसरे की ओर न देखकर उस पुण्यमय अवसर का आप स्वयं ही लाभ क्यों नहीं उठाते? आश्चर्य इस बात का है, कि जिस काम को आप अच्छा समझते हैं फिर उसके करने में आनाकानी क्यों करते हैं तथा इधर-उधर क्यों देखते हैं? इसका अर्थ यही है, कि या तो आपने उस कार्य को अच्छा नहीं समझा है अथवा किसी प्रकार का भय आपको शुभ कार्य करने से रोकता है। सत्कर्म में तो मनुष्य को सबसे पहले भाग लेना चाहिए। एक सेनापति थे उनका यह स्वभाव था कि मार्ग में जब कोई सैनिक या असैनिक उन्हें मिल जाता तो वे सर्वप्रथम हाथ जोड़ कर नमस्कार करते। उनका एक दूसरा मित्र था वह भी सेना में काम करता था किन्तु पद की अपेक्षा वह उस सेनापति से छोटा था। एक बार वे दर्शन करने आए तो चर्चा चलने पर छोटे सेनापति ने अपने बड़े सेनापति के सम्बन्ध में मुझसे कहा कि 'महाराज! हमारे सेनापति बहुत अच्छे व्यक्ति हैं, वे बहुत ही विनम्र और मिलनसार हैं। हमारे सेनापति की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है, कि वे सबसे बड़े हैं, पर सबसे पहले नमस्कार करते हैं।" इस पर मैंने अन्तर्दृष्टि जानने के विचार से पूछा कि 'आप ऐसा क्यों करते हैं? अपने से बड़े व्यक्ति को तो नमस्कार करना ठीक है किन्तु अपने से छोटे व्यक्ति को और वह भी पहले नमस्कार करना इसमें आपका क्या हेतु है? उसने बड़ी विनम्रता के साथ कहा— 'आप कहते हैं, सो ठीक है, मेरे साथियों में से भी बहुत से साथी मुझसे यही कहते हैं कि आपको पहले नमस्कार नहीं करना चाहिए। दूसरे लोग पहले आपको नमस्कार कर लें तभी आपको बदले में नमस्कार करना चाहिए। उसने अपनी बात को जरा और आगे बढ़ाते हुए कहा— महाराज श्री! आप ही बतलाइए कि नमस्कार करना अच्छा काम है अथवा बुरा काम है? यदि यह काम अच्छा है तो एक सैनिक का कर्तव्य है, कि अच्छे कामों में वह अपने आपको सबके आगे रखे। यदि यह सत्कर्म है, तो उसमें मैं अपना पहला नम्बर क्यों न लूँ, पीछे का नम्बर क्यों लूँ? जो शुभ अवसर हमें मिलता है उसका हमी पहले लाभ क्यों न उठाएँ?"

सेनापति की बात सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने अपने मन में सोचा सेनापति होते हुए भी इसके विचार कितने उज्ज्वल और स्वच्छ हैं।

वात भी ठीक है, जव किसी कर्म को हमने सत्कर्म मान लिया, तव उसके करने मे हमे स्वय ही पहल करनी चाहिए।

मैं आपसे यह कह रहा था कि मनुष्य के मन का व्यामोह उसे जीवन के मोर्चे पर खडा नही रहने देता। वहुत से मनुष्य इसलिए सत्कर्म नही करते, कि समाज के लोग उसकी आलोचना करेंगे। समाज के लोगो की आलोचना के भय से वह अपने सत्कर्म को छोड वैठता है। प्रतिष्ठा की आसक्ति भी जीवन-विकास मे एक वहुत बडी वाधा है। आदर-सत्कार पाने की मनुष्य के मन मे तीव्र अभिलाषा रहती है। प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि मेरा आदर हो, मेरा सत्कार हो और लोग मेरा सम्मान करते रहे। प्रत्येक व्यक्ति इस क्षणभगुर ससार मे अपने आपको अजर अमर वनाने की अभिलाषा रखता है। वह यह नही सोच पाता, कि इस विनाशशील ससार मे कौन अजर-अमर होकर रहा है। एक वार की वात है, कि मैं शिवालक प्रदेश मे एक ऊचे पर्वत पर वने किसी पुराने किले को देखने के लिए गया था। मैंने यह सुना था कि यह एक बहुत पुराना किला है और इतिहास की दृष्टि से इसका वहुत वडा महत्व है। दिमाग मे कुछ पुरानी चीजो को देखने की उत्सुकता रहती है। पहाड की चढाई करके मैं उस किले मे पहुँचा। मैंने वहाँ देखा कि उसकी टूटी दीवारो और बिखरे पत्थरो पर आगन्तुक लोगो ने अपने नाम लिख रखे हैं। किसी ने पेंसिल से, किसी ने पेन से, किसी ने कोयले और किसी ने अपने चाकू की नोक से ही वहाँ पर अपना नाम अकित किया है। मैंने सोचा कि अपने नाम को स्थायी करने की कितनी तीव्र अभिलाषा मनुष्य के मन मे रहती है। यह वात किले की ही नही है, धर्मशाला और अन्य सार्वजनिक स्थानो की भी यही दशा रहती है, कि आने वाले लोग उस पर अपना नाम लिख डालते हैं। जब कभी मैं ऐसे स्थानो को देखता हूँ तव सोचा करता हूँ कि ये लोग अपने नाम को लिखकर ससार मे अमर बनने की कितनी बडी कामना लिए हुए है। ये लोग यह नही सोचते, कि जव इन किले वनाने वालो के नाम ही ससार मे शेष नही रहे, तो इन मृत कलेवरो पर लिखे गए हमारे नाम ससार मे कैसे शेष रहेंगे।

हम देखते हैं कि कही पर जीवन का मोह, कही पर धन की आसक्ति और कही पर यश एव प्रतिष्ठा का व्यामोह मनुष्य को उसकी साधना मे सफल नही होने देता। मोह और भय को दूर करने का एक मात्र साधन वैराग्य ही है। जब तक मनुष्य के मन मे वैराग्य की तीव्र ज्योति नहीं जगेगी, तब तक वह अपनी साधना मे सफलता प्राप्त नही कर सकता।

●

विकल्प से विमुक्ति

जीवन एक सागर के तुल्य है जिसमें रत्न भी होते हैं और कंकड़ भी होते हैं। सागर के अन्दर में रत्न भरे होते हैं, इसी आधार पर उसे रत्नाकर कहा जाता है। सागर का जल खारा होता है, इसलिए उसे लवणाकर भी कहा जाता है। रत्नाकर कहने से उसके गुणों की अभिव्यक्ति होती है और लवणाकर कहने से दोषों की अभिव्यक्ति की जाती है। यही बात जीवन के सम्बन्ध में कही जाती है। सर्व साधारण मनुष्य के जीवन में गुण भी होते हैं और दोष भी होते हैं। मानव-जीवन के दोषों की परिगणना नहीं की जा सकती। यह सत्य है, किन्तु मनुष्य की आत्मा में गुण भी असीम होते हैं। साधारण जन-जीवन क्या है? वह न एकान्त गुणमय है और न एकान्त दोषमय है। गुण और दोष दोनों का समन्वय ही प्रस्तुत जीवन होता है। जीवन को समझने के लिए और जीवन के रहस्य का परिज्ञान करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके शुभ और अशुभ दोनों पक्षों का निर्णय करें। यदि दोषों का परिज्ञान नहीं होगा तो उसका परित्याग भी कैसे हो सकेगा। जैन दर्शन के अनुसार जिस वस्तु का परित्याग किया जाता है, उसका परिज्ञान भी आवश्यक माना गया है। यह ठीक है, कि दोषों को समझ कर उन्हें हमें ग्रहण नहीं करना है, ग्रहण तो गुणों का ही होना चाहिए। गुणों का ग्रहण और दोषों का परिहार,

यही साधक जीवन का उद्देश्य एव लक्ष्य होना चाहिए, तभी जीवन स्वस्थ और सुन्दर वन सकेगा अन्यथा जीवन की अनन्त निधि मे से हम कुछ भी प्राप्त नही कर सकेंगे।

जीवन की समृद्धि की आधार-शिला नैतिकता है। कुछ लोग सोचते हैं कि नैतिकता से हमारा जीवन चल नही सकता, किन्तु मेरे विचार मे सत्य यह है, कि अनैतिकता हमारे जीवन का ध्येय वन नही सकता। मनुष्य अपने आपको समृद्ध और सुखी वनाने के लिए कितनी भी अनैतिकता का आचरण करे, कन्तु यह उसके मन की भ्रान्ति है, कि अनैतिकता से वह समृद्ध हो रहा है। भारतीय सस्कृति के अनुसार अनैतिकता समृद्धि की आधार शिला कभी नही वन सकती। मानवीय-जीवन मे कभी कार्य-कारण-भाव अन्यथा नही हो सकता। जैसा कारण होगा, वैसा ही कार्य होगा। यह एक सिद्धान्त है, कि नैतिकता से सुख मिलता है और अनैतिकता से दु ख। इसके विपरीत यदि अनैतिकता से भी सुख मिलता है, तो वडी गडवडी की वात होगी। यह तो वही वात हुई कि व्यक्ति ववूल का वृक्ष वोए और आम तोडने की इच्छा करे अथवा दलदल मे ईट का मकान खडा करने की परिकल्पना करे। हम देखते हैं, कि विना आध्यात्मिकता और नैतिकता के कभी किसी को सुख नही मिला। मनुष्य वही कुछ पाता है, जो कुछ वह अपने जीवन की भूमि में वपन करता है। आप किसी भी पार्थिव वस्तु को ले लीजिए, यदि आप ठीक प्रकार से खोज करेंगे, तो मानसिक जगत में आपको उसकी आधारभूत प्रक्रिया अवश्य मिल जाएगी। उदाहरण के लिए आप एक वीज को ही लीजिए। आपने वीज लिया और भूमि में दवा दिया। वह अदृश्य हो जाता है। यथार्थ मे वह अदृश्य होकर भी अदृश्य नही होने पाता। समय पाकर और अनुकूल सयोग पाकर वह अकुर के रूप मे फूट पडता है, फिर उसका पौवा वनता है, अन्त मे वह एक विशाल वृक्ष वन जाता है, फिर उसमें पुष्प और फल लगते हैं। एक छोटे से वीज ने हजारो-हजार सुरभित और सुन्दर पुष्पो को जन्म दिया, और हजारो-हजारो मधुर और रुचिर फलो को उत्पन्न किया। ठीक इसी क्रम से हमारी मानसिक प्रक्रिया भी होती है। हमारे विचार वीज हैं, मानस-भूमि में वोए जाने से वे उगते हैं और विकास को प्राप्त होते हैं, फिर अच्छे और वुरे कार्यों के रूप मे पल्लवित, पुष्पित और फलित होते हैं। यदि हमने अपनी मानस-भूमि मे सुख के सुन्दर वीज वोए हैं, तो हमे सुख ही सुख मिलेगा, दु ख नही। इसके विपरीत मनुष्य ने यदि अपनी मनोभूमि मे दु ख और क्लेश के वीज वोए हैं, तो उसे सुख, शान्ति और सन्तोष कैसे उपलब्ध हो सकता है? भारत के अध्यात्मवादी दर्शन का यह एक शाश्वत सिद्धान्त है, कि मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसका

फल भी उसे उसी रूप में प्राप्त होता है। एक पाश्चात्य विद्वान ने भी अपने एक ग्रन्थ में इसी सिद्धान्त की अभिव्यक्ति की है कि As you think so you become. जैसा तुम सोचोगे वैसा ही तुम बन सकोगे। वस्तुतः प्रत्येक मनुष्य अपने विचारों का प्रतिफल होता है। आज जो कुछ हम हैं, वह सब कुछ हमारे पूर्व विचारों का फल है।

मैं आपसे जीवन की बात कह रहा था। जीवन क्या है? जीवन एक ऐसी चादर है, जो काले और सफेद धागों से बनी है। हमें करना यह है, कि उसके सफेदपन को सुरक्षित रखें और उसके कालेपन को मिटाने का प्रयत्न करें। जीवन की चादर में जो सफेदी है, वह गुण है और जो कालापन है, वह दोष है। जीवन के जितने दोष हैं उन सबमें सबसे भयंकर दोष है—मिथ्यात्व का और नास्तिकता का। साधक को अन्य दोषों की अपेक्षा अपने सबसे प्रबल और सबसे भयंकर दोष मिथ्यात्व से ही संघर्ष करना है क्योंकि अन्य समग्र दोषों की जन्म भूमि भी यही है। मिथ्यात्व को जब तक दूर नहीं किया जाएगा तब तक आत्मा में एक भी सद्गुण पनप नहीं सकेगा। प्रश्न यह है, कि मिथ्यात्व क्या है? और उसका स्वरूप क्या है? उत्तर में अध्यात्म-शास्त्र का कथन है कि अपने आप पर *विश्वास न करना ही सबसे भयंकर मिथ्यात्व है। कितनी विचित्र बात है कि* दुनिया का इन्सान दुनियाँ की हर चीज पर तो विश्वास कर लेता है किन्तु अपनी आत्मा पर वह विश्वास नहीं कर पाता। वह अपने धन पर विश्वास कर सकता है, वह अपने परिजन पर विश्वास कर सकता है और वह अपने इस भौतिक तन पर भी विश्वास कर सकता है, किन्तु अपनी अमर आत्मा पर उसका विश्वास नहीं होता। यही सबसे बड़ा मिथ्यात्व है और यही सबसे बड़ी नास्तिकता है। भौतिकता से हट कर जब तक आध्यात्मिकता पर *श्रद्धा नहीं जमेगी तब तक जीवन-कल्याण नहीं हो सकेगा। मिथ्यात्व* का अर्थ यह है, कि साधक की दृष्टि सत्य पर जम नहीं पाती है और वह अपने कदम को स्थिर कर नहीं पाता है। वह कभी-कभी ऐसी गलत भूमिका पर पहुँच जाता है, जो उसके जीवन का मार्ग नहीं होती और जो उसके जीवन का साधन नहीं होती किन्तु भ्रान्ति से उसे मार्ग और साधन समझ लेना और असाध्य को साध्य समझ लेना यह भी मिथ्यात्व का एक रूप है। जो धर्म है उसे अधर्म समझ लेना और अधर्म को धर्म समझ लेना यह भी मिथ्यात्व का *एक प्रकार है। जो देव है, उसे देव न समझना और अदेव में देव बुद्धि कर* लेना यह भी मिथ्यात्व का एक भेद है। इस प्रकार मिथ्यात्व का एक विकल्प नहीं है हजारों लाखों और करोड़ों यहाँ तक कि असंख्य विकल्प हो सकते हैं। जब तक यह मिथ्यात्व का विकल्प नहीं टूटेगा तब तक हमारी साधना

का कुछ भी सार निकल नही सकेगा। उन सभी क साधक मत समझो, जो आज साधक का बाना पहन कर साधना के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं। जो स्थानक या मन्दिर आदि मे जाते हैं और वहाँ जाकर अपनी-अपनी परपरा के अनुसार धर्म क्रिया करते हैं, वे सभी भक्त नही हो सकते। बाइबिल मे भी इस सम्बन्ध मे कहा गया है कि "All are not saints that go to Church" जो अपने घर से निकल कर चर्च की ओर आगे बढ रहे हैं, उन सभी को सन्त समझने की भूल मत करो। जैन-दर्शन के अनुसार साधक का बाना पहनने मात्र से ही कोई साधक नही बन जाता। जैन-दर्शन के अनुसार साधक बनने की सबसे आवश्यक और सबसे पहली शर्त यह है, कि उसके मिथ्यात्व का विकल्प दूर हो जाना चाहिए। जब मिथ्यात्व का विकल्प दूर हो जाएगा, तभी वह अपने ध्येय, साध्य और लक्ष्य का निश्चय कर सकेगा। यदि साध्य स्थिर नही हुआ, तो साधना किसकी होगी और कैसे होगी ?

कल्पना कीजिए, एक यात्री है जो अपने पथ पर चला जा रहा है। बडी तेजी के साथ वह अपने रास्ते पर आगे बढ रहा है। अपने रास्ते पर बढते हुए उसे इतना भी अवकाश नही, कि वह इधर-उधर तो झाँक कर देख ले। आपने आगे बढकर उस यात्री से पूछा, कि "आप कहाँ से आ रहे हैं और कहाँ जा रहे है ? आपका लक्ष्य क्या है और आपको कहाँ पहुँचना है ?" आपके प्रश्न के उत्तर मे यदि वह यात्री आपसे यह कहे कि "यह तो मुझे मालूम नही कि मैं कहाँ से आ रहा हूँ और मुझे कहाँ पहुँचना है, मेरा लक्ष्य क्या है ?" उसके उत्तर को सुनकर आप क्या सोचते हैं ? मेरे विचार मे आप यही सोच सकते हैं, कि यह एक पागल व्यक्ति है, जिसे अपने गन्तव्य स्थान का परिबोध भी नही है। उसके मन की थाह पाने के लिए आपने एक प्रश्न और पूछ लिया, कि फिर इतनी दौड-धूप किसलिए कर रहे हो ? आपके प्रश्न के उत्तर मे यदि वह यह कहता है कि बस, यूं ही कर रहा हूं, तो उसकी इस बात पर आपको हँसी आ जाती है। आपने हँसी को रोक कर और गम्भीर बनकर फिर एक प्रश्न और पूछ लिया कि "जिस मार्ग पर तुम बढे चले जा रहे हो, वह माग सही है, अथवा गलत ?" आपके प्रश्न के उत्तर मे यदि वह यही कहे कि मुझे मालूम नही है, तो आप उसे पक्का पागल समझ लेते हैं। भला जिस यात्री की यात्रा का न कोई लक्ष्य है और न कोई उद्देश्य है तथा जिसे न कोई मार्ग का परिज्ञान ही है, उसे यात्री नही कहा जा सकता, उसे तो भटकने वाला ही कहा जा सकता है। मिथ्या दृष्टि और नास्तिक व्यक्ति अध्यात्म-शास्त्र के अनुसार, यात्री नही होता, भटकने वाला ही होता है। यात्री वह होता है, जिसका अपना एक लक्ष्य होता है, एक साध्य होता है और जिस

पथ पर बढ़ बढ़ रहा है, उस पथ का सम्यक् परिबोध होता है। यह तभी सम्भव है, जबकि साधक को सत्य-दृष्टि की उपलब्धि हो जाए। सत्य-दृष्टि के अभाव में समग्र साधना अर्थहीन होती है। यह कितनी अजीब बात है कि हम साधना तो करें किन्तु साधना के लक्ष्य का न हमें परिबोध हो और न उस पर हमारा अटल विश्वास हो। याद रखिए, आपको जो कुछ पाना है अपने अन्दर से पाना है। बाहर में कुछ भी नहीं है, और बाहर में यदि कुछ है, तो वह अपना नहीं है। आत्मा का लक्ष्य एक मात्र आत्मा ही है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ का अणुमात्र भी अपना नहीं हो सकता। मुझे आशा है कि आप मेरी बात समझ गए होंगे कि आत्मा का लक्ष्य क्या है? आत्मा का लक्ष्य आत्मा के बाहर तो होगा नहीं आत्मा का लक्ष्य न स्वर्ग का सुख है और न इस लोक का भौतिक सुख ही है। आत्मा का एकमात्र लक्ष्य आत्म विशुद्धि ही हो सकता है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा का लक्ष्य मिथ्यात्व आदि विकल्पों से विमुक्त होना ही हो सकता है। स्वर्ग के सुख और इस लोक के सुख तुच्छ हैं सहज अध्यात्म सुख के समक्ष वे हीन कोटि के हैं। याद रखिए, सुख-दुःख का खेल इसी जन्म और इसी जीवन का नहीं है बल्कि अनन्त जन्म और अनन्त जीवन का यह आदि-हीन खेल है। प्रत्येक आत्मा इस संसार के रंगमंच पर आकर सुख दुःख के खेल खेलता है। कभी वह दुःख का पार्ट अदा करता है और कभी सुख का पार्ट अदा करता है। जीवन में न जाने कितनी बार उसे सुख-दुःख के झूले पर झूलना पड़ा है। यहाँ तक कि यदि किसी को चक्रवर्ती का ऐश्वर्य और इन्द्र की विभूति भी उपलब्ध हो जाए, फिर भी उसकी अपनी अन्तरात्मा को उससे क्या मिलेगा? यह जड़-जगत का खेल जड़ जगत में ही समाप्त हो जाता है। जल-बुद बुद जल में जन्मा और जल में ही विलीन हो गया। यही स्थिति संसार के सभी भौतिक पदार्थों की है। इसी आधार पर मैं आपसे यह कह रहा था कि संसार का भौतिक सुख आत्मा का अपना स्वरूप नहीं है और जो कुछ आत्मा का अपना स्वरूप नहीं है वह आत्मा का साध्य एवं लक्ष्य भी नहीं बन सकता। आत्म-विशुद्धि ही आत्मा का अपना लक्ष्य है। यह विशुद्धि क्या है? मिथ्यात्व आदि विकल्पों का टूट जाना नष्ट हो जाना अथवा क्षीण हो जाना। एक मिथ्यात्व के विकल्प के दूर होते ही हजारों-हजार विकल्प अपने आप ही दूर हो जाते हैं।

मैं आपसे यह कह रहा था कि जब तक आत्मा में आत्म-बुद्धि नहीं होगी तब तक जीवन की विशुद्धि सम्भव नहीं है। शरीर में आत्म-बुद्धि होना ही सबसे बड़ा क्लेश और सबसे बड़ा दुःख है। शरीर को आत्मा समझने वाला

व्यक्ति अपने जीवन का कल्याण कैसे कर सकता है ? जो व्यक्ति अपने तन मे आत्म-भाव लेकर खडा है, हजार वर्ष की साधना भी उसके जीवन मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही कर सकती। देहात्मभाव ही सबसे दु खद विकल्प है, जीवन का सबसे बडा दोष है। जब तक यह है, तब तक ससार के ऐश्वर्य मे और विश्व की विभूति मे आसक्ति-भाव अवश्य ही रहेगा। स्वर्ग और नरक के रगीन स्वप्न भी उसके मानसिक पटल से ओझल नही हो सकते। स्वर्ग और नरक के बीच मे न जाने कितने काल से यह आत्मा परिभ्रमण कर रहा है। वस्तुत देहात्म बुद्धि वाले व्यक्ति के मन मे मुक्ति की कभी अभिलाषा ही जागृत नही होती। ससार के भोग और विलास मे आसक्त आत्मा ससार के बन्धन को बन्धन ही नहीं समझता, फिर उसके हृदय में मुक्ति की अभिलाषा कैसे जागृत हो ? सयम और त्याग का मूल्य भी तभी हो सकता है, जब कि मिथ्यात्व का विकल्प टूट चुका हो। यदि मिथ्यात्व का विकल्प विद्यमान है, तो तप और जप से किसी प्रकार का लाभ नही हो सकता। आचार का और सयम की साधना का तभी कुछ महत्व सिद्ध हो सकता है, जब कि मिथ्यात्व का दोष आत्मा मे न रहे। आत्मा को आत्मा न समझने वाला दोष मिथ्यात्व ही है। सम्यक् दृष्टि आत्मा जो कुछ भी छोटी-बडी साधना कर पाता है, वह मोक्ष का अग बन जाती है। इसके विपरीत मिथ्या दृष्टि आत्मा की बडी से बडी साधना भी परिणाम मे अर्थहीन होती है। लोग कहते हैं, कि मुक्ति कैसे प्राप्त हो ? मैं कहता हूँ, कि मुक्ति प्राप्त नही करनी है, वह तो प्राप्त ही है। प्राप्त तो वह हो जो अप्राप्त है, किन्तु जो प्राप्त है उसका प्राप्त करना क्या ? मुक्ति कही बाहर मे नही है, जिसे प्राप्त किया जाए। स्व स्वरूप की उपलब्धि ही जब मुक्ति है, और वह मूल पारिणामिक भाव से स्वत सिद्ध है ही, तब उसे प्राप्त करने का प्रश्न ही खडा नही होता। केवल एक ही प्रयत्न हमे करना है और वह यह कि स्व स्वरूप के आवरण रूप मिथ्यात्व के विकल्प को हम दूर कर दें। जब समग्र भाव से मिथ्यात्व का विकल्प दूर हो जाता है, तब मुक्ति की उपलब्धि मे भी कुछ विलम्ब नही होता। याद रखिए, मुक्ति माँगने से नही मिलती . वह कोई भौतिक पदार्थ नही है, जिसकी भीख मागी जा सके। स्व स्वरूप का अनुसधान ही मुक्ति की साधना है और स्व स्वरूप की उपलब्धि ही अर्थात् साक्षात्कार ही वस्तुत मुक्ति है। स्वरूप को प्राप्त नही करना है, वल्कि अव्यक्त से व्यक्त करना है, प्रकट करना है। कल्पना कीजिए किसी के घर के आँगन मे अखूट खजाना गडा हो, किन्तु उसके ज्ञान के अभाव मे वह दरिद्र और कगाल बना रहता है, पर जैसे ही उसे यह बोध हो जाए कि मेरे घर के आँगन मे अखूट निधि गडी है, तब वह अपने आपको दरिद्र

और कंगाल समझने की भूल नहीं कर सकता। यही बात आत्मा के सम्बन्ध में भी है। मिथ्यात्व के कारण आत्मा के अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन और अनन्त सुख एवं अनन्त शक्ति का परिबोध नहीं होने पाता। पर जैसे ही मिथ्यात्व का विकल्प दूर होता है, वैसे ही आत्मा अपने आपको दरिद्र और भिखारी समझने की भूल छोड़ देता है। आत्मा अनन्त गुणों का एक महासागर है उसमें अनन्त निधि है, उस अनन्त निधि को पाने का हमारा सहज स्वभाव है। बस इस सहज भाव को ही हमें प्रकट करना है। उत्पन्न नहीं करना है, बल्कि प्रकट करना है। सहज भाव का प्रकट हो जाना ही मिथ्यात्व रूप विकल्प का टूट जाना और नष्ट हो जाना है।

मैं आपसे कह रहा था कि साधना प्रारम्भ करने से पहले साधना में आने वाले विकल्पों के विघ्नों को दूर कर देना चाहिए। कल्पना कीजिए कि धन भी एक विकल्प है और पुण्यरूप धर्म भी एक विकल्प है। धर्म विकल्प है इसका अर्थ केवल इतना ही समझिए कि जो कुछ जीवन मे अमुक अपेक्षा के साथ जप और तप दया दान आदि किया जाता है, वह व्यवहार धर्म है, एक पुण्य विकल्प है, किन्तु अशुभ नहीं शुभ विकल्प है। धन के अशुभ विकल्प को तोड़ने के लिए तप एवं दान रूप शुभ विकल्प की आवश्यकता है। धन का विकल्प धर्म से ही तोड़ा जा सकता है। जिस व्यक्ति के जीवन में धन ही धन का विकल्प रहता है, वह धन के पीछे पागल हो जाता है। धन उसके जीवन म साधन नहीं रहता बल्कि साध्य बन जाता है और साधन का साध्य बन जाना ही सबसे बुरी बात है। धन पर नियंत्रण करने के लिए, धर्म की आवश्यकता है। कल्पना कीजिए, किसी के पास सुन्दर कार हो किन्तु उसमें ब्रेक न हो तब वह कार किस काम की होती है? ब्रेकहीन कार मे सदा खतरा ही बना रहता है। इसी प्रकार किसी के पास सुन्दर अश्व हो किन्तु उसके पास लगाम न हो तो वह अश्व अपने सवार को कही भी और कभी भी गिरा सकता है। जिस प्रकार कार का आनन्द लेने के लिए ब्रेक की आवश्यकता है और घुड़सवारी का आनन्द लेने के लिए लगाम की आवश्यकता है उसी प्रकार धन की आसक्ति पर नियंत्रण करने के लिए धर्म की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में एक पाश्चात्य विचारक ने कहा है, कि A man without religion is a horse without a bridle " इसका अभिप्राय यही है, कि धर्महीन व्यक्ति की स्थिति वही है, जो लगाम हीन एक घोड़े की होती है। जिस प्रकार लगामहीन घोड़ा खतरनाक होता है उसी प्रकार धर्महीन व्यक्ति भी दूसरे के जीवन के लिए भयंकर सिद्ध होता है। दूसरे के जीवन के लिए ही नहीं बल्कि स्वयं अपने जीवन के लिए भी वह एक

भयकर अभिशाप ही बन जाता है। भारतीय सस्कृति मे धर्मयुक्त धन को बुरा नही कहा गया है किन्तु धर्म हीन धन को अवश्य ही जीवन-विनाशक माना गया है। धर्म के साथ आने वाला और धर्म के साथ ही जाने वाला धन जीवन को विकृत नही कर सकेगा। इसलिए धन की आसक्ति के विकल्प को तोडने के लिए न्यायनीति तथा उपकार आदि धर्म की साधना का विकल्प परमावश्यक माना गया है। अशुभ विकल्प को दूर करने के लिए शुभ विकल्प अच्छा है, किन्तु निर्विकल्प अवस्था उससे भी बढकर है।

मैं आपसे मोक्ष की बात कह रहा था। मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध मे मैंने आपको सक्षेप मे कुछ बताया भी है। वास्तव मे बात यह है, कि मोक्ष के वास्तविक स्वरूप को शब्दो मे व्यक्त करना सम्भव नही है। वह तो एक अनुभव का विषय है। फिर भी दर्शन की भाषा मे कहा जाए, तो आत्मा का अपना मूल शुद्ध स्वरूप ही मोक्ष है। और जो अपना स्वरूप है, कभी नष्ट नही हो सकता, वह सदा त्रिकालाबाधित होता है। आवरण के नीचे गुप्त रहना, अलग चीज है और सर्वथा अभाव का भाव होना अलग वस्तु है। अभाव का भाव न कभी हुआ है, और न कभी होगा। इसीलिए मैंने कहा था, मुक्ति का प्राप्त होना क्या, अनादि से स्वय सिद्ध अपने स्वरूप को प्रकट करना ही मुक्ति है। वह स्वरूप अब भी है, किन्तु अज्ञात है, और जो ऐश्वर्य एव वैभव अज्ञात है, उसके होते हुए भी मनुष्य कगाल है।

मुझे यहाँ पर एक घटना का स्मरण हो आया है। एक सेठ था, वह बहुत बडा धनी था। उसके घर मे लक्ष्मी का मनचाहा आवास था। उसके बाप दादाओ की सम्पत्ति भी प्रचुर मात्रा मे उसके पास थी, और उसने स्वय भी खूब धन कमाया था। उसके पास भौतिक वैभव के रूप मे सब कुछ होने पर भी वह सुखी न था। बात यह थी कि उपभोग की वस्तु तो उसके पास बहुत थी, किन्तु उनका उपभोक्ता घर मे कोई न था। इतनी बडी सम्पत्ति होते हुए भी सेठ के कोई लडका नही था। आखिरकार बुढापे मे आते-आते सन्तान के दर्शन हुए, पुत्र मिला। पुत्र तो मिल गया, किन्तु बढते हुए बुढापे के कारण स्वय रोगो से आक्रान्त हो गया। मन मे उसके बडी वेदना रहने लगी। विचार करता था, कि पुत्र मिलने की खुशी भी न मना सका और अब ससार से विदा होने का समय आ गया है। भाग्य की बात है, कि कुछ काल बाद ही सेठ का देहान्त हो गया और उसके कुछ दिनो बाद ही सेठानी का भी देहान्त हो गया। अब घर मे क्या बचा ? विशाल सम्पत्ति, सुख के प्रचुर साधन और उनका उपभोक्ता वह पुत्र रत्न। आप समझते है, कि धनवान व्यक्ति के सम्बन्धी, भले ही वे कितनी दूर के ही क्यो न हो, किन्तु निकट के बन जाते

हैं। दरिद्र व्यक्ति के निकट के सम्बन्धी भी दूर के हो जाते हैं। सेठ और सेठानी के स्वर्गवास के बाद सब सम्बन्धी एकत्रित हुए और परस्पर विचार करने लगे कि सेठ के पुत्र का लालन-पालन किस प्रकार किया जाए? सब रिश्तेदार अपने आपको सेठ का निकटतम सम्बन्धी बताने का प्रयत्न कर रहे थे। पुत्र ने भी सोचा माँ-बाप मर गए तो क्या मेरी देख भाल करने वाले और बहुत से माँ-बाप पैदा हो गए हैं। सेठ का वह पुत्र खूब धन खर्च करने लगा और खुले हाथों लुटाने लगा। घर की लक्ष्मी के साथ वह खुलकर खेला। यह तो आप जानते ही हैं, कि सबके दिन समान नहीं रहते भाग्य चक्र को घूमते देर ही क्या लगती है। उस विशाल सम्पत्ति को कुछ तो सेठ के पुत्र ने बरबाद कर दिया और कुछ रिश्तेदारों ने छीना झपटी कर ली। अब स्थिति यह हो गई कि धीरे-धीरे सब रिश्तेदार खिसकने लगे। घर में रह गया अकेला सेठ का पुत्र। घर तो वही रहा किन्तु उस घर की चमक-दमक सब समाप्त हो गई। उस सूने घर में सेठ का पुत्र अकेला पड़ा रहता घर वही था किन्तु धन के अभाव में सब स्थिति बदल चुकी थी। अब सेठ का पुत्र रात और दिन इसी चिन्ता में लगा रहता था कि यह जीवन अब कैसे चलेगा? यह जीवन अब कैसे अपने को इस संसार में स्थिर रख सकेगा? सेठ के पुत्र ने आज पहली बार यह अनुभव किया कि धन के साथी संसार में बहुत हैं, किन्तु धन के अभाव में इस संसार में कोई भी किसी का नहीं है।

सम्पत्ति और विपत्ति जीवन की दो स्थिति हैं। इन दोनों में क्या अन्तर है? बहुत कुछ और कुछ भी नहीं। आत्म-साधक के लिए सम्पत्ति और विपत्ति में कुछ भी भेद नहीं है किन्तु संसार में आसक्त व्यक्ति के लिए सम्पत्ति और विपत्ति में बहुत बड़ा अन्तर है। एक कवि ने सम्पत्ति और विपत्ति की बड़ी सुन्दर परिभाषा की है। कवि कहता है कि सम्पत्ति क्या है— 'सम्पति में कांय-कांय विपति में भांय भांय। आगे कवि कहता है—"कांय-कांय भांय भांय ऐसी सब दुनिया। कवि के कहने का अभिप्राय यह है कि जब किसी मनुष्य के पास सम्पत्ति रहती है तब उसे खाने वाले बहुत से इकट्ठे हो जाते हैं और चारों ओर भीड़ का कोलाहल होता रहता है। और जब उसी व्यक्ति पर विपत्ति आ जाती है तो सब भांय भांय हो जाते हैं अर्थात् दूर भाग जाते हैं। सब ओर सूना-सूना हो जाता है। सम्पत्ति में खाने के लिए सब एकत्रित हो जाते हैं और विपत्ति में कुछ देना न पड़ जाए, इस भय से दूर भाग जाते हैं। बस इतना ही अन्तर है सम्पत्ति और विपत्ति में।

मैं आपसे सेठ के पुत्र की बात कह रहा था। जब उसके पास सम्पत्ति थी, सब खाने वालों की भीड़ उसके पास एकत्रित हो गई थी और जब विपत्ति में

उसके जीवन मे प्रवेश किया, तव सव दूर भाग गए। एक दिन ऐसा भी आया, कि सेठ के पुत्र को खाने के लिए कुछ भी न मिल सका। किसी तरह एक दिन तो व्यतीत हो गया, किन्तु दूसरे दिन तो भूख ने विकराल रूप धारण कर लिया, घर मे कुछ न था, यह सत्य है, किन्तु घर के वाहर भी उसके लिए कुछ न था। जिसके लिए घर मे कुछ नही होता है, उसे वाहर मे भी कुछ नही मिल सकता। सेठ के पुत्र के जीवन मे जहाँ पहले सर्वत्र सद्भाव था, आज वहाँ सर्वत्र अभाव ही अभाव दृष्टिगोचर होता है। सेठ के पुत्र ने विचार किया, कि इस घर मे पडे-पडे समस्या का हल नही है। किसी से कुछ माँगू, यह भी मेरे कुल और वश के लिए उचित नही है। अव पेट की ज्वाला को शान्त करने के लिए मजदूरी करने के सिवाय और दूसरा कोई चारा मेरे पास नही है। किन्तु दूसरे ही क्षण उसके मन मे विचार उठता है, कि इस नगर मे मजदूरी करना भी आसान नही है। कुल और वश की लाज रखना मेरा परम कर्त्तव्य है। खाट पर पडे-पडे वह यह सव कुछ सोच रहा था। सहसा उसका हाथ उसके गले मे पडे तावीज पर जा पडता है। विचार किया, मेरे माता-पिता इतने वडे धनी और इतने अधिक वुद्धिमान थे, तो इसमे अवश्य ही मेरे लिए कुछ वाँध गए हैं। दूसरे क्षण ही उसके मन मे विचार आया कि इस तावीज मे क्या रखा है। यह तो वच्चो के गले मे केवल इसलिए डाल दिया जाता है कि उन्हे नजर न लग जाए। किन्तु दरिद्र व्यक्ति को दरिद्रता की अवस्था मे, कूडे कचडे मे भी धन सम्पत्ति नजर आने लगती है। सेठ के पुत्र ने विचार किया, भले ही इस तावीज मे कुछ न हो, इसे खोल कर देखने मे आपत्ति भी क्या है ? तावीज को गले से निकाला और उसके ताँवे के खोल को दूर किया, तो उसके अन्दर चाँदी का दूसरा खोल निकला, उसे भी तोडा तो तीसरा खोल स्वर्ण का निकला। सेठ का पुत्र अपने मन मे विचार करने लगा, निश्चय ही मेरे पिता वडे बुद्धिमान थे। सम्भवत मेरे दुर्दिनो के लिए ही उन्होने यह सव कुछ रख छोडा है। चाँदी को और सोने को वेचकर कुछ दिन गुजारा चल सकता है। फिर मन मे विचार उठा कि इस सोने के खोल को भी तोड करके क्यो न देखा जाए, उसे भी उसने तोड कर देखा, कि सफेद रुई मे कुछ गोल-गोल लिपटा हुआ है। खोल कर देखा तो अन्दर से चमकता हुआ हीरा निकला। अव तो उसकी खुशी का कोई पार न रहा। अपने पिता की बुद्धिमत्ता पर उसका हृदय श्रद्धा से भर गया। वह अपने मन मे विचार करता है, कि निश्चय ही मेरे पिता वडे बुद्धिमान थे। आने वाली विपत्ति के कुचक्र से उद्धार करने के लिए ही उन्होने यह सब कुछ किया। सेठ के पुत्र की भूख वढती जा रही थी, चाँदी, सोना और हीरा उसे मिल गया था, किन्तु इससे भूख तो दूर नही की जा सकती

थी। भूख तो रोटी से ही दूर की जा सकती है। अन्न से बढ़कर मानव-जीवन में जीवन को स्थिर रखने के लिए अन्य कोई साधन नहीं है। इसीलिए भारत के एक ऋषि ने कहा है— 'अन्नं वै प्राणाः।'"

सेठ का पुत्र उस हीरक कणी को लेकर बाजार की ओर चल पड़ा। बाजार में चलते-चलते उसे स्मरण आया कि इसी बाजार में एक जौहरी का घर है, जो उसके पिता के घनिष्ठ मित्र हैं। वह उन्हीं के घर पर पहुँचा। उस जौहरी ने उसे देखकर पहचान लिया और कहा कि आज बहुत दिनों के बाद आए हो, क्या बात है बहुत दुबले-पतले हो गये हो? पहले स्नान करो और फिर तुम और हम साथ-साथ भोजन करेंगे। जौहरी के इन शब्दों में एक जादू था एक माधुर्य था और एक अद्भुत आकर्षण। उसने ऐसा प्रेम या तो अपने पिता से पाया था या फिर आज उनके मित्र से पा रहा है। सेठ के पुत्र को आज एक पिता का हृदय मिला था। स्नेह रस से भरे शब्दों को सुनकर वह पुलकित हो उठा। आज उसने यह अनुभव किया कि संसार में सभी स्वार्थी नहीं होते हैं, कुछ परमार्थी भी होते हैं। सेठ के पुत्र ने उस जौहरी से विनम्र शब्दों में कहा— 'नहीं भोजन मैं नहीं करूँगा।" भोजन की आवश्यकता होने पर भी लज्जावश उसने इन्कार कर दिया। कुल और वंश का अभिमान मनुष्य को भूखे रहने के लिए बाध्य भले ही कर दे किन्तु किसी के सामने हाथ पसारने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। जौहरी ने उस सेठ के पुत्र को अपना ही पुत्र समझ कर कहा— 'अरे भाई इसमें क्या बात है, मेरे लिए तुम पुत्र के समान हो और पिता के घर पुत्र को खाना खाने में क्या आपत्ति हो सकती है? आज तो तुम्हें यहाँ खाना खाना ही पड़ेगा। तुम अपनी इच्छा से भोजन नहीं करते हो तो मेरी इच्छा से ही कर लो। माना कि तुम्हें भूख नहीं है, तो आज बिना भूख के ही मेरे कहने से खा लो। सेठ का पुत्र लज्जा से इतना अभिभूत हो चुका था कि उसके मुँह से एक भी शब्द नहीं निकला और वह भोजन करने के लिए बैठ गया।

भारतीय संस्कृति का यह एक शाश्वत सिद्धान्त है, कि घर पर आए हुए का। न की सेवा अवश्य करो। अभ्यागत एवं अतिथि संसार का सबसे बड़ा देवता है। कम से कम जल भोजन और बैठने के लिए उसे आसन तो अवश्य ही देना चाहिए। घर पर आए हुए अतिथि की सेवा का महत्त्व बताते हुए महर्षि मनु ने तो एक बहुत बड़ी बात कही है। मनु का कथन है कि किसी के द्वार पर यदि अतिथि आए और घर आने वाला अतिथि उस गृहस्थ के घर से निराश लौट जाए, तो वह उस गृहस्थ के पुण्य के फल को लेकर चला जाता है। कोई किसी के पुण्य के फल को ले सकता है अथवा नहीं ले सकता यह

एक तर्क और विवाद का विषय है। किन्तु मनु के कथन का अभिप्राय इतना ही है, कि घर पर आए हुए अतिथि की सेवा अवश्य करो। जैन-परम्परा मे अतिथि-सेवा का अत्यधिक महत्व बताया गया है। श्रावक के द्वादश व्रतो मे द्वादश व्रत है—अतिथि-सविभाग। इसका अर्थ है कि—जो कुछ तुमने प्राप्त किया है, उसमे अतिथि का भी सविभाग रखो। जरा ध्यान से सुनिए और पढिए, भगवान महावीर ने अतिथिदान शब्द का प्रयोग नहीं किया, बल्कि अतिथि-सविभाग का प्रयोग किया है। दान मे और 'सविभाग' शब्द मे बहुत बडा अन्तर है। दान मे दया की भावना रहती है और सविभाग मे बराबर के अधिकार की भावना रहती है। कल्पना कीजिए, एक पिता के चार पुत्र हैं और चारो का बँटवारा हो रहा है। पिता की मृत्यु के बाद चारो भाइयो ने पिता की सम्पत्ति के चार विभाग कर लिए। चारो ने अपना-अपना भाग ग्रहण कर लिया। तो क्या चारो ने एक दूसरे को वह दया से दान दिया है ? नही, इसे दान नही कहा जाता, इसे भाग और अपना अधिकार कहा जाता है। जैसा अधिकार अपनी पिता की सम्पत्ति मे सब भाइयो का होता है, वैसा ही अधिकार उस अतिथि का भी समझो, जो आपके द्वार पर आ गया है। भगवती सूत्र मे वर्णन आता है, कि श्रावक अपने घर के द्वार को सदा खुला रखते हैं। न जाने किस समय उनके द्वार पर अतिथि आ जाए। द्वार पर आए हुए अतिथि को जो कुछ दिया जाता है, उसे भगवान महावीर ने दान की सज्ञा न देकर 'सविभाग' कहा है। भगवान महावीर ने कहा है—"असविभागी न हु तस्स मोक्खो।" जो व्यक्ति असविभागी है, अपनी सम्पत्ति मे अतिथि का सविभाग नही करता, निश्चय ही उस व्यक्ति की मुक्ति कभी नही हो सकती। भगवान महावीर ने जो कहा है—वैसा ही वैदिक परम्परा का एक ऋषि भी कहता है—"अघ स केवल भुङ्क्ते।" भोजन की वेला मे घर पर आए हुए अतिथि को जो अपने भोजन मे से कुछ देता नही है, वह व्यक्ति भोजन नही करता, बल्कि पाप का भक्षण करता है। पाठक समझ गए होगे, कि वैदिक सस्कृति मे और जैन-सस्कृति मे अतिथि-सेवा का कितना बडा महत्व है। आप अपने घर पर आए हुए अतिथि को क्या देते हैं, इसका कोई महत्व नही है। महत्व वस्तु का नही, मनुष्य के हृदय के भाव का होता है। यदि आपने स्नेह भरे हृदय से अतिथि को सूखे चने ही दिए हैं, तो उनका भी बडा महत्व है, और यदि आपने भावना शून्य हृदय से अतिथि को मधुर पक्वान्न भी खिलाया है, तो उसका कोई महत्व नही है। अतिथि सेवा मे मूल्य वस्तु का नही होता, भावना का ही होता है।

एक बार जब कि मैं देहली मे था। बात बहुत पुरानी है, उस युग की, जब

थी। भूख तो रोटी से ही दूर की जा सकती है। अन्न से बढ़कर मानव-जीवन में जीवन को स्थिर रखने के लिए अन्य कोई साधन नहीं है। इसीलिए भारत के एक ऋषि ने कहा है— अन्नं वै प्राणाः।"

सेठ का पुत्र उस हीरक कणी को लेकर बाजार की ओर चल पड़ा। बाजार में चलते-चलते उसे स्मरण आया कि इसी बाजार में एक जौहरी का घर है, जो उसके पिता के घनिष्ठ मित्र हैं। वह उन्हीं के घर पर पहुँचा। उस जौहरी ने उसे देखकर पहचान लिया और कहा कि आज बहुत दिनों के बाद आए हो, क्या बात है बहुत दुबले-पतले हो गये हो? पहले स्नान करो और फिर तुम और हम साथ-साथ भोजन करेंगे। जौहरी के इन शब्दों में एक जादू था एक माधुर्य था और एक अद्भुत आकर्षण। उसने ऐसा प्रेम या तो अपने पिता से पाया था या फिर आज उनके मित्र से पा रहा है। सेठ के पुत्र को आज एक पिता का हृदय मिला था। स्नेह रस से भरे शब्दों को सुनकर वह पुलकित हो उठा। आज उसने यह अनुभव किया कि संसार में सभी स्वार्थी नहीं होते हैं, कुछ परमार्थी भी होते हैं। सेठ के पुत्र ने उस जौहरी से विनम्र शब्दों में कहा— नहीं भोजन मैं नहीं करूंगा। भोजन की आवश्यकता होने पर भी लज्जावश उसने इन्कार कर दिया। कुल और वंश का अभिमान मनुष्य को भूखे रहने के लिए बाध्य भले ही कर दे किन्तु किसी के सामने हाथ पसारने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। जौहरी ने उस सेठ के पुत्र को अपना ही पुत्र समझ कर कहा— 'अरे भाई इसमें क्या बात है, मेरे लिए तुम पुत्र के समान हो और पिता के घर पुत्र को खाना खाने में क्या आपत्ति हो सकती है? आज तो तुम्हें यहां खाना खाना ही पड़ेगा। तुम अपनी इच्छा से भोजन नहीं करते हो तो मेरी इच्छा से ही कर लो। माना कि तुम्हें भूख नहीं है, तो आज बिना भूख के ही मेरे कहने से खालो।" सेठ का पुत्र लज्जा से इतना अभिभूत हो चुका था कि उसके मुँह से एक भी शब्द नहीं निकला और वह भोजन करने के लिए बैठ गया।

भारतीय संस्कृति का यह एक शाश्वत सिद्धान्त है, कि घर पर आए हुए अतिथि की सेवा अवश्य करो। अभ्यागत एवं अतिथि संसार का सबसे बड़ा देवता है। कम से कम जल भोजन और बैठने के लिए उसे आसन तो अवश्य ही देना चाहिए। घर पर आए हुए अतिथि की सेवा का महत्व बताते हुए महर्षि मनु ने तो एक बहुत बड़ी बात कही है। मनु का कथन है कि किसी के द्वार पर कोई अतिथि आए और वह भूखा प्यासा अतिथि उस गृहस्थ के घर से निराश लौट जाए, तो वह उस गृहस्थ के पुण्य के फल को लेकर लौट जाता है। कोई किसी के पुण्य के फल को ले सकता है अथवा नहीं ले सकता यह

एक तर्क और विवाद का विषय है। किन्तु मनु के कथन का अभिप्राय इतना ही है, कि घर पर आए हुए अतिथि की सेवा अवश्य करो। जैन-परम्परा मे अतिथि-सेवा का अत्यधिक महत्व बताया गया है। श्रावक के द्वादश व्रतो मे द्वादश व्रत है—अतिथि-सविभाग। इसका अर्थ है कि—जो कुछ तुमने प्राप्त किया है, उसमे अतिथि का भी सविभाग रखो। जरा ध्यान से सुनिए और पढिए, भगवान महावीर ने अतिथिदान शब्द का प्रयोग नही किया, बल्कि अतिथि-सविभाग का प्रयोग किया है। दान मे और 'सविभाग' शब्द मे बहुत बडा अन्तर है। दान मे दया की भावना रहती है और सविभाग मे बराबर के अधिकार की भावना रहती है। कल्पना कीजिए, एक पिता के चार पुत्र हैं और चारो का बँटवारा हो रहा है। पिता की मृत्यु के बाद चारो भाइयो ने पिता की सम्पत्ति के चार विभाग कर लिए। चारो ने अपना-अपना भाग ग्रहण कर लिया। तो क्या चारो ने एक दूसरे को वह दया से दान दिया है? नही, इसे दान नही कहा जाता, इसे भाग और अपना अधिकार कहा जाता है। जैसा अधिकार अपनी पिता की सम्पत्ति मे सब भाइयो का होता है, वैसा ही अधिकार उस अतिथि का भी समझो, जो आपके द्वार पर आ गया है। भगवती सूत्र मे वर्णन आता है, कि श्रावक अपने घर के द्वार को सदा खुला रखते हैं। न जाने किस समय उनके द्वार पर अतिथि आ जाए। द्वार पर आए हुए अतिथि को जो कुछ दिया जाता है, उसे भगवान महावीर ने दान की सज्ञा न देकर 'सविभाग' कहा है। भगवान महावीर ने कहा है—"असविभागी नहु तस्स मोक्खो।" जो व्यक्ति असविभागी है, अपनी सम्पत्ति मे अतिथि का सविभाग नही करता, निश्चय ही उस व्यक्ति की मुक्ति कभी नही हो सकती। भगवान महावीर ने जो कहा है—वैसा ही वैदिक परम्परा का एक ऋषि भी कहता है—"अध स केवल भुङ्क्ते।" भोजन की वेला मे घर पर आए हुए अतिथि को जो अपने भोजन मे से कुछ देता नही है, वह व्यक्ति भोजन नही करता, बल्कि पाप का भक्षण करता है। पाठक समझ गए होगे, कि वैदिक सस्कृति में और जैन-सस्कृति मे अतिथि-सेवा का कितना बडा महत्व है। आप अपने घर पर आए हुए अतिथि को क्या देते हैं, इसका कोई महत्व नही है। महत्व वस्तु का नही, मनुष्य के हृदय के भाव का होता है। यदि आपने स्नेह भरे हृदय से अतिथि को सूखे चने ही दिए हैं, तो उनका भी बडा महत्व है, और यदि आपने भावना शून्य हृदय से अतिथि को मधुर पक्वान्न भी खिलाया है, तो उसका कोई महत्व नही है। अतिथि सेवा मे मूल्य वस्तु का नही होता, भावना का ही होता है।

एक बार जब कि मैं देहली मे था। बात बहुत पुरानी है, उस युग की, जब

कि देश में स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन पूरे वेग से चल रहा था। यद्यपि उस समय भारत स्वतन्त्र नहीं था किन्तु भारत के नेता अपने देश की स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कर रहे थे। सीमान्त गाँधी अब्दुल गफ्फार खाँ उस समय देहली में आए हुए थे। एक सज्जन उन्हें स्थानक में ले आए। उस समय उपस्थित सज्जनों में अतिथि-सेवा का प्रसंग ही चल रहा था। भारतीय संस्कृति के अनुसार अतिथि सेवा का क्या महत्त्व है, यह मैं बतला रहा था। उसी संदर्भ में सीमान्त गाँधी ने भी अपने प्रदेश की एक परम्परा सुनाई और कहा कि हमारे उधर गरीबी बहुत होती है। इतनी अधिक गरीबी होती है कि इधर के लोग उसका अनुमान नहीं लगा सकते। बेहद गरीबी होने पर भी एक पठान अपने घर पर आए हुए मेहमान की सेवा करना नहीं भूलता। किसी पठान के घर पर जब कोई मेहमान आता है, तब उसके लिए दस्तरखान बिछाते हैं।। उस पर भोजन-सामग्री रख दी जाती है, फिर ऊपर से उसे एक स्वच्छ वस्त्र से ढक दिया जाता है। यह सब कुछ तैयारी हो जाने पर मेजबान मेहमान को बुला कर लाता है। मेजबान मेहमान से भोजन करने से पूर्व हाथ जोड़ कर कहता है कि 'कृपा करके आप इस दस्तरखान पर जो सामग्री रखी है, उस भोजन सामग्री की तरफ ध्यान मत दीजिए, कृपा के लिए आप मेरे चेहरे की ओर देखिए। कहने का अभिप्राय यह, कि दस्तरखान पर कोई सुन्दर सामग्री नहीं है, यह तो एक साधारण भोजन है, किन्तु मेरे मुख की ओर देखो कि मैं किस प्रेम और श्रद्धा के भाव से और किस आदर-भाव से आपके सामने भोजन प्रस्तुत कर रहा हूँ। मेरे इस भोजन को आप मत देखिए, किन्तु आप यही देखिए कि किस प्रेम और हृदय के किस स्नेह से आपको भोजन दिया जा रहा है। पठान-संस्कृति का निश्चय ही यह सिद्धान्त बहुत ऊँचा है। मेजबान के शब्दों में उसकी इन्सानियत बोलती है। पठान-संस्कृति भी भारत की ही एक आर्य संस्कृति है।

दान में वस्तु नहीं देखी जाती। देने वाले की भावना देखी जाती है। देने वाले की भावना यदि उज्ज्वल और पवित्र है, तो अल्प वस्तु अथवा तुच्छ वस्तु का दान भी महान् फल प्रदान करता है। इसके विपरीत यदि दी जाने वाली वस्तु अधिक मूल्यवान है किन्तु भावनापूर्वक नहीं दी गयी है तो उसका कुछ भी मूल्य नहीं होता। इसीलिए भारतीय संस्कृति में यह कहा गया है कि किसी प्रकार के सद् कर्म को करने से पूर्व यह देखो कि उसके पीछे भावना क्या है? भावना से और मधुर विचार से किया गया प्रत्येक सत्कर्म जीवन के उत्थान और कल्याण के लिए होता है। अतिथि-सत्कार हो अथवा किसी दीन अनाथ की सहायता हो सर्वत्र भावना का ही अधिक मूल्य है।

मैं आपसे सेठ के पुत्र की बात कह रहा था। उसके पिता के मित्र जौहरी ने उसको बडे प्रेम से भोजन कराया और फिर बहुत ही मधुर स्वर मे यह पूछा-'आज बहुत दिनो बाद इधर आए हो, इतने दिनो तक कहाँ पर रहे ? कभी-कभी मिलने के लिए तुम्हें अवश्य आना चाहिए। मेरे घर पर आने मे तुम्हे किसी भी प्रकार का सकोच करने की आवश्यकता नही है। जितना प्रेम मैं अपने पुत्र से करता हूँ, उतना ही प्रेम मैं तुमसे भी करता हूँ। जिस प्रकार एक पुत्र को अपने पिता के घर पर आने मे किसी प्रकार का सकोच नही होता है, उसी प्रकार तुम्हे भी मेरे घर पर आने मे सकोच नही होना चाहिए।' सेठ के पुत्र ने विनम्र भाव से कहा 'आपकी मुझ पर बडी कृपा है। आपके इस प्रेम और मधुर स्नेह को मैं अपने जीवन मे कभी भूल नही सकूँगा।' फिर सेठ के पुत्र ने अपने जीवन की वह सारी कहानी कह सुनाई, जो धन के अभाव मे उसके जीवन मे घटित हुई थी। सेठ के पुत्र ने बडे ही करुण स्वर मे यह कहा—"जब तक धन था सब मुझमे प्रेम करते थे, किन्तु अब कोई भी रिश्तेदार मेरे समीप नही आता। मैं अब किसी धन्धे या व्यापार मे लगना चाहता हूँ। मुझे विश्वास है कि आपका मार्ग-दर्शन ही मेरे मार्ग को प्रशस्त करेगा।" यह कह कर सेठ के पुत्र ने तावीज मे से निकले हीरे को जौहरी के सामने रखा और कहा कि "इसके अतिरिक्त मेरे पास अन्य कुछ सम्पत्ति नही है, जो कुछ है सो यही है। इसका जो भी मूल्य हो उसी के अनुसार आप मुझे कुछ धन्धा बताएँ जिसे मैं कर सकूँ, यही मैं आपसे चाहता हूँ।"

जौहरी ने बहुत ही प्रेम भरे शब्दो मे सेठ के पुत्र को कहा—"क्या तुम्हे यह मिल गया ? कहाँ मिला तुम्हे यह ? तुम्हारे पिता ने यह हीरा मेरी दुकान से ही खरीदा था। इसका बहुत बडा मूल्य है और इसको खरीदने के लिए तुम्हारे पिता ने इतना मूल्य चुकाया था, कि मैं तुम्हारे सामने उस मूल्य की बात कहूँ, तो तुम्हे विश्वास आए या नही, मुझे सन्देह है। मैं यह सोचता रहता था, कि वह हीरा आखिर कहाँ गया ? तुम तो बच्चे थे। तुम्हे तो मालूम भी नही था कि कोई हीरा भी खरीदा गया था। मैंने भी तुमसे चर्चा इसलिए न की थी कि उस हीरे की बात को सुनकर तुम्हें मन मे अधिक पीडा होगी, क्योकि उसका पता तो था नही। तुम्हारी सारी सम्पत्ति लुट गई तो कोई चिन्ता की बात नही। यह हीरा बचा रह गया, यही बहुत कुछ है, बल्कि सब कुछ है।" सेठ के पुत्र ने जब तावीज के सम्बन्ध मे बताया तो जौहरी ने कहा—"तुम्हारे पिता बडे ही बुद्धिमान थे; कि उन्होंने इसे तावीज मे रखकर तुम्हारे गले मे लटका दिया, जिससे किसी को पता न चले। इससे भी अधिक

बुद्धिमानी यह की कि उसका सबसे ऊपरी खोल तांबे का बनाया जिससे किसी के मन में उसे देखकर उसके प्रति लोभ भी जागृत न हो। आगे अपनी बात को जारी रखते हुए जौहरी ने कहा— 'तुम चाहो तो इसका मूल्य ले सकते हो और किसी भी प्रकार का व्यापार करना चाहो तो तुम्हें व्यापार भी कराया जा सकता है। यह हीरा तुम्हारे पास है तो सब कुछ तुम्हारे पास है। सेठ के पुत्र ने व्यापार प्रारम्भ किया और फिर अल्प काल में ही अपार धन पैदा कर लिया।

कहानी परिसमाप्त हो गई किन्तु उसके भाव को समझने का प्रयत्न कीजिए। मनुष्य-जीवन में सब कुछ खोकर भी यदि व्यक्ति अन्त में सँभल जाता है और मूल स्थिति को पा लेता है तब भी उसका कुछ बिगड़ता नहीं है। दूसरी ओर सेठ के पुत्र के पास अमूल्य हीरा होने पर भी वह अपने आपको निर्धन क्यों समझने लगा था ? इसका उत्तर यही है, कि उसको उसे परिज्ञान न था। पास में हीरा होने पर भी वह अपने आपको गरीब और असहाय समझकर पीड़ित होता रहा किन्तु हीरे का परिज्ञान होते ही उसकी पीड़ा और दरिद्रता सब दूर हो गई। प्रत्येक व्यक्ति स्वस्वरूप का हीरा लिए हुए है, उसे कहीं बाहर से नहीं पाना है। जो कुछ है, पास ही है।

पास ही रे हीरे की खान
खोजता कहाँ उसे नादान।

संसार में प्रत्येक आत्मा के पास अनन्त चैतन्य रूप शुद्ध स्व स्वरूप का हीरा विद्यमान है, किन्तु उसे उसका पता न होने के कारण पीड़ित और व्यथित हो जाना पड़ता है। यदि संसारी आत्मा को यह परिबोध हो जाए, कि मैं दीनहीन नहीं हूँ, मैं आत्मा हूँ, स्वभावतः परमात्म शक्ति हूँ, तो फिर उसे किसी प्रकार की पीड़ा और व्यथा हो ही नहीं सकती। संसार में जितना भी कष्ट दुःख एवं क्लेश है, वह सब अज्ञान का है। अज्ञान के नष्ट होते ही और ज्ञान के उदय होते ही संसारी आत्मा की समस्त पीड़ा दूर हो जाती है। सब कुछ खोकर भी यदि आत्मरूप हीरे को बचा लिया है, तो वस्तुतः हमारा कुछ भी नहीं बिगड़ा है। इसके विपरीत आत्मा को भूलकर और सब कुछ को धार रख कर भी हम घाटे में नहीं टोटे में ही रहते हैं। अतः मैं कहता हूँ कि सब कुछ खोकर भी यदि आत्मा को जान लिया है और आत्म स्वरूप को पा लिया है, तो हमने सब कुछ जान लिया है, और हमने सब कुछ पा लिया है।

परन्तु यह स्थिति तभी आएगी जब कि मानव के मन का मिथ्यात्व का विकल्प दूर हो जाएगा। मैं आपसे कह रहा था कि आत्मा में हजारों-हजार

प्रकार के विकल्प हैं और उन विकल्पो मे सबसे भयकर विकल्प है, मिथ्यात्व का। जब तक मिथ्यात्व का विकल्प रहेगा, तब तक न आत्मा का परिबोध होगा और न परमात्मा का ही परिबोध हो सकेगा। वस्तुत मिथ्यात्व रूप विकल्प के कारण ही, यह आत्मा अपने स्वरूप को भूला हुआ है। जिस दिन और जिस क्षण अपने मन के मिथ्यात्व रूप विकल्प को आप दूर कर सकेंगे, उसी दिन और उसी क्षण आपको आपका आत्मरूप हीरा मिल जाएगा। जिसे आत्मा का साक्षात्कार हो गया, फिर परमात्मा बनते भी उसे क्या देर लगती है। याद रखिए, आप किसी भी प्रकार की साधना क्यो न करते हो, जब तक मिथ्यात्व का विकल्प दूर नही हो जाता है, तब तक न श्रावक-जीवन की साधना सफल हो सकती है और न साधु-जीवन की ही साधना सफल हो सकती है।

जीवन का रहस्य

जीवन एक रहस्य है। जीवन के रहस्य को बिना समझे हम अपने जीवन की किसी भी साधना में सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। केवल साँस ले लेना ही जीवन नहीं है, सच्चा जीवन वही है, जो किसी उद्देश्य के लिए जीवित रखा जाता है। जीवन की परिभाषा करना बड़ा कठिन है। जीवन इतना विराट और इतना विशाल है, कि उसे शब्दों के बन्धन मे बाँधा नहीं जा सकता। जीवन का रहस्य और जीवन की परिभाषा को जितना समझने का प्रयत्न किया गया है उतना ही और वह अधिक गहन गहनतर होता गया। वास्तव में बात यह है, कि जीवन को किसी एक दृष्टिकोण से देखना जीवन के प्रति एक बहुत बड़ा अन्याय है। देखने वालों ने जीवन को जितने दृष्टिकोण से देखा है, उतने ही रूपों में जीवन का स्वरूप प्रकट हुआ है। देखने वाले की जैसी दृष्टि रही उसके जीवन का वैसा ही स्वरूप बन गया। जीवन के विषय में प्राचीन साहित्य में विविध मन्तव्य उपलब्ध होते हैं। किसी ने जीवन को प्राणमय कहा है, किसी ने जीवन को ज्ञानमय कहा है, किसी ने जीवन को भौतिक कहा है और किसी ने जीवन को अध्यात्म कहा है। कुछ भी हो सब कथन जीवन के एक-एक अंश को लेकर ही प्रवृत्त हुए हैं। जीवन के सर्वांगीण विचार को लेकर चलने वाला इनमें से एक भी विचार नहीं है। जीवन को एकान्त भौतिक समझना भूल है और जीवन को एकान्त अध्यात्म समझना यह भी

भूल है। जीवन मे कुछ ऐसा भाग है, जो प्रतिक्षण वदलता रहता है, और जीवन मे कुछ ऐसा भाग भी है, जो कभी वदलता नही, शाश्वत रहता है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है, कि जीवन कुछ भौतिक भी है और जीवन कुछ आध्यात्मिक भी है। इस दृष्टि से मैं आपसे यह कह रहा था, कि जीवन-रहस्य को समझना सरल एव आसान नही है। जीवन एक शक्ति है, जीवन एक आस्था है और जीवन एक अभिव्यक्ति है, उस अमर तत्त्व की, जिसे शास्त्रकार विविध नामो से सम्बोधित करते हैं। जीवन को समझना सवसे वडी कला है। इस कला को जिसने समझ लिया, वस्तुत जीवन का रहस्य उसी ने प्राप्त किया है।

मनुष्य का जीवन दो भागो मे विभक्त होता है—अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग। वहिरङ्ग जीवन अन्तरग जीवन से प्रभावित होता है। वहिरग जीवन का प्रभाव भी अन्तरग जीवन पर पडता है। विचार ही आचार वनता है और फिर आचार ही विचार वन जाता है। विचार और आचार का समन्वय करना, यही जीवन का सवसे वडा रहस्य है।

वात यह है, कि जव हम जीवन के सम्वन्ध मे विचार करते हैं, तव हमे ऐसा प्रतीत होता है, कि हमने जीवन को समझ लिया है, किन्तु जीवन को समझना आसान काम नही है। भारतीय साहित्य में और भारतीय सस्कृति में जीवन के सम्वन्ध मे जो कुछ कहा गया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है, कि जीवन को जितनी गहराई से देखा जाता है, जीवन उतना ही अधिक गहरा हो जाता है। योग दर्शन मे बताया गया है, कि जीवन वही है, जैसा हम उसके सम्वन्ध मे सोचते हैं और विचार करते हैं। व्यक्ति जैसा सोचता है, उसके सामने वैसा ही ससार आकर खडा हो जाता है। योग दर्शन के अनुसार जीवन और जगत मन की वृत्तियो का खेल है। भारत के अन्य विचारको ने भी जीवन के सम्वन्ध मे बहुत कुछ कहा है और वहुत कुछ लिखा है। उस सवको यहाँ पर कहने का न प्रसग है और न आवश्यकता ही है। हमे यहाँ पर यह विचार करना है कि जो कुछ और जैसा कुछ जीवन हमे मिला है, उसका उपयोग एव प्रयोग किस प्रकार किया जाए, जिससे कि हम अपने जीवन के लक्ष्य को अल्प श्रम से शीघ्र प्राप्त करने में सफल हो सकें।

जैन दर्शन के अनुसार जीवन की सफलता आचार, सयम और चारित्र के पालन मे ही है। जैन दर्शन मे और विशेषत जैन आगम ग्रन्थो मे सर्वत्र यही कहा गया है, कि सयम और चारित्र ही जीवन की मूल शक्ति है। चारित्र की अर्थात् सयम की जव व्याख्या एव परिभाषा होने लगी, तव उन्होने कहा, कि उसके दो रूप हैं—एक रूप वह है, जो हमे बाहर मे दिखाई देता है।

एक व्यक्ति सामायिक करता है, दूसरा व्यक्ति तपस्या करता है, तीसरा व्यक्ति दान करता है। इस प्रकार अनेक प्रकार के क्रिया काण्ड जो बाहर में हमें दिखलाई देते हैं, वे कहाँ से दिखाई देते हैं? इन्द्रियों से दिखाई देते हैं, यदि यह कहा जाए, तो प्रश्न यह है कि आँखें कहाँ तक पहुँच पाती हैं आँखों की देखने की ताकत कितनी दूर तक है? इस सम्बन्ध में कहा गया है कि इन्द्रियाँ केवल मूर्त द्रव्यों तक ही जा सकती हैं अमूर्त द्रव्यों को नहीं पकड़ सकतीं। इन्द्रियों की सत्ता है, मूर्त तक। मूर्त का अर्थ है, जिसमें रूप है, जिसमें रस है, जिसमें गन्ध है और जिसमे स्पर्श है। जैन परिभाषा के अनुसार जिसमें ये चारों चीजें मिलें उसे मूर्त एवं पुद्गल कहा जाता है। इस पुद्गल को ग्रहण करना यहीं तक इन्द्रियों की शक्ति है। इन जड़ पुद्गलों तक ही इन्द्रियों की गति है उनके आगे तक इन्द्रियों की पहुँच नहीं है। हम जो कुछ देखते हैं वह भी पुद्गल है। हम जो कुछ सुनते हैं वह भी पुद्गल है। हम जो कुछ चखते हैं, वह भी पुद्गल है। हम जो कुछ सूँघते हैं, वह भी पुद्गल है और हम जो कुछ छूते हैं, वह भी पुद्गल है। इस प्रकार इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ ग्रहण किया जाता है वह सब पुद्गल है, वह सब मूर्त है। इन्द्रियाँ मूर्त को ही ग्रहण कर सकती हैं, अमूर्त को नहीं। अमूर्त को देखने की शक्ति किसी भी इन्द्रिय में नहीं है। हमारी साधना के जितने भी बाह्य उपकरण हैं—आसन वस्त्र अथवा माला आदि ये सब मूर्त हैं। ये सब पुद्गलमय हैं। इन सबसे परे एक शक्ति है जिसे आत्मा एवं जीव कहा जाता है। वह आत्मा अथवा चैतन्य शक्ति इस तन से इस मन से और इन इन्द्रियों से विलक्षण है। तन मन और इन्द्रिय ये सब पुद्गलमय हैं किन्तु इन सबसे विलक्षण आत्मा एवं चैतन्य शक्ति अमूर्त है। इस अमूर्त चैतन्य को ही अध्यात्म-तत्त्व कहा जाता है। मैंने आपसे अभी कहा था कि हमारे जीवन के दो रूप हैं, एक वह जिसे हम इन्द्रिय के द्वारा पकड़ सकते हैं। बाह्य नाम और रूपात्मक जितना भी जगत है वह सब पुद्गलमय होने के कारण इन्द्रियग्राही हो सकता है, किन्तु आत्मा एवं चैतन्य शक्ति जीवन का एक वह रूप है जिसका अनुभव तो किया जा सकता है, किन्तु जिसे इन्द्रियों अथवा मन के द्वारा पकड़ा नहीं जा सकता। इसीलिए हम शक्ति की इन्द्रियातीत अवस्था कहते हैं। आत्मा एक वह तत्त्व है जो समस्त इन्द्रियों से अतीत है और तो क्या मनुष्य के मन से भी अतीत है।

अब प्रश्न यह है, कि शास्त्र में जिसे संयम अथवा चारित्र कहा गया है वह मूर्त है अथवा अमूर्त है? जैन दर्शन के अनुसार चारित्र दो प्रकार का है—द्रव्य चारित्र और भाव-चारित्र। द्रव्य चारित्र चारित्र के बाह्य उपकरणों को

कहते हैं, किन्तु भाव-चारित्र तो आत्मा का ही एक परिणाम है अथवा आत्मा का एक गुण है। आत्मा का परिणाम कहे अथवा गुण कहे, बात एक ही है। आत्मा का गुण अथवा आत्मा का परिणाम अमूर्त ही हो सकता है, मूर्त नही। क्योकि आत्मा स्वय अमूर्त है, तो अमूर्त के गुण भी अमूर्त ही होगे, मूर्त नही। जिस प्रकार दर्शन आत्मा का गुण है, ज्ञान आत्मा का गुण है, उसी प्रकार चारित्र भी आत्मा का गुण है। चारित्र आत्मा का एक वह गुण है, जिसे इन्द्रियाँ ग्रहण कर नही सकती और मन भी जिसे पकड नही सकता। मैंने आपसे अभी कहा था, कि जो पदार्थ स्वय अमूर्त है उसका गुण भी अमूर्त ही होगा। यह कभी नही हो सकता, कि गुणी स्वय तो अमूर्त रहे और उसका गुण मूर्त बन जाए। आत्मा जब स्वय अमूर्त है, तो उसके अनन्त गुण भी अमूर्त ही हैं। कुछ विचारक हैं, जो आत्मा के दर्शन एव ज्ञान आदि गुणो को तो अमूत मानते हैं, किन्तु चारित्र को वे मूर्त कहते हैं। केवल इस आधार पर कि वह क्रियात्मक होता है, किन्तु क्रियात्मक होने मात्र से ही कोई वस्तु मूर्त नही बन जाती है। चारित्र भी जब आत्मा का गुण है, तब वह मूर्त कैसे हो सकता है? आत्मा का गुण भी कहना और मूर्त भी कहना, यह तर्क सगत नही है।

मैं समझता हूँ, मेरा अभिप्राय आपने समझ लिया होगा, साथ मे आपने यह भी समझा होगा, कि सयम और चारित्र का क्या स्वरूप है? यह आत्मा का निज गुण है, अत इन्द्रियो की पकड मे नहीं आ सकता। चारित्र अनुभूति का विषय है, क्योकि वह आत्म रूप है। मैंने आपसे अभी यह कहा था, कि हमारे जीवन के दो रूप है—एक बाह्य और दूसरा अन्तरग। बाह्य रूप क्रिया काण्ड है, इसलिए वह दिखलाई पडता है। धर्म के उपकरण पुद्गलमय हैं, इसलिए उन्हे इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। बाह्य साधन अन्तरग को जानने मे निमित्त बनता है, यह सत्य होते हुए भी, यह नही कहा जा सकता कि बाह्य रूप ही अन्तरग रूप बन जाता है। द्रव्य चारित्र भाव चारित्र का साधन है, किन्तु अध्यात्म साधना का साध्य एक मात्र भाव चारित्र ही है। सयम और चारित्र क्या है? इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है, कि आत्मा का जो अन्तर्मुख रहने का स्वभाव है, वस्तुत वही सयम एव चारित्र है। स्वय का स्वय मे रमण करना, यही भाव चारित्र है। अपने आप मे तन्मय हो जाना, स्वय का स्वय मे लीन हो जाना, निज का निज मे रमण करना अध्यात्म-दृष्टि से यही सयम है और यही चारित्र है। आत्मा की अन्तर्मुखी अवस्था ही सयम है, क्योकि इसमे विषयाभिमुखी इन्द्रियो को समेट कर और विषयाभिमुखी मन का निरोध करके, स्व स्वरूप की उपलब्धि का प्रयत्न किया जाता है।

स्व स्वरूप की उपलब्धि का प्रयत्न ही चारित्र एवं संयम है। वस्तुतः राग और द्वेष ही हमारे चित्त को विक्षुब्ध बनाते हैं। राग-द्वेष के वशीभूत होकर जब चित्त विक्षुब्ध हो जाता है, तब वह आत्ममुखी न होकर इन्द्रियमुखी बन जाता है। इसी को असंयम अथवा अचारित्र कहा जाता है। अपने निज स्वभाव में स्थिर रहना संयम है और बाह्य पदार्थों में संलग्न रहना जो बाह्य पदार्थ अपने नहीं है, उन्हें अपना समझकर उनकी ममता में बंधना ही सबसे बड़ा असंयम है। यह असंयम ज्ञान स्वरूप आत्मा का अपना स्वभाव कभी नहीं हो सकता।

मैं आपसे संयम और चारित्र की बात कह रहा था। चारित्र आत्मा का निज गुण है, किन्तु जब चारित्र में राग और द्वेष का अंश मिल जाता है, तब वह बन्धन का कारण बन जाता है। विचार कीजिए कि आप कहीं जा रहे हैं, आपके मार्ग में फूलों का एक बाग आ गया बाग में रंग-बिरंगे फूल हैं, जिनकी महक दूर से ही मनुष्य को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है, आँखों से आप फूलों के रंग को देख रहे हैं और नाक से उनकी महक का आनन्द ले रहे हैं, अभिप्राय यह है, कि आप एक ऐसे वातावरण में पहुँच गये जिसे आप बहुत पसन्द करते हैं। एक से एक सुन्दर फूल को देखकर आप प्रसन्न हो जाते हैं। आपकी मनोवृत्ति इतनी अधिक चपल हो उठती है, कि आप सब कुछ भूलकर अपने आपको उसी वातावरण मे तल्लीन कर लेते हैं। उस बाग के प्रति आपके मन मे एक प्रकार का लगाव उत्पन्न हो गया जिसे धार्मिक भाषा में राग कहा जाता है। उस राग रंग में आप इतने अधिक मस्त हो गए, कि आप अपनी यात्रा को भूल गए, अपने कर्तव्य को भूल गए, सम्भवतः किसी रोगी की सेवा करना आपके लिए आवश्यक था उसे भी आप भूल गए। ये सब क्या है? यह राग भाव है। जिस समय मनुष्य के हृदय में राग का उदय होता है, उस समय वह सब कुछ भूल बैठता है। उसे यह स्मरण भी नहीं रहता है कि मैं कहाँ पर हूँ और मेरा क्या कर्तव्य है? बाग मे पहुँचकर आपके हृदय में जिस राग भाव का उदय हुआ था उससे आप केवल अपनी यात्रा ही नहीं भूले अपितु अन्य अनेक अनर्थ भी उससे पैदा हो गए। आपने अपनी मन पसन्द का एक फूल तोड़ लिया यद्यपि आप यह भलीभाँति जानते हैं, कि फूल तोड़ना मना है फिर भी आप राग के वशीभूत होकर अपने मन पसन्द फूल तोड़ लेते हैं। राग भाव के कारण बाग के स्वामी के आदेश का भंग करना पड़ा और फूल की चोरी करनी पड़ी। जहाँ राग होता है, वहाँ एक पाप नहीं अनेक पाप एकत्र हो जाते हैं। सबसे पहले राग से आपकी यात्रा स्थगित की फिर कर्तव्य

का विस्मरण कराया, आदेश का भग कराया और अन्त मे चोरी करने के लिए भी आपको वाध्य कर दिया। जिस समय तक आपके हृदय मे राग-भाव नही था, आप वडे आनन्द से यात्रा कर रहे थे और अपने लक्ष्य की ओर आगे वढ रहे थे, किन्तु राग-भाव के आते ही पथभ्रष्ट हो गए। रागभाव के उद्रेक से मनुष्य की ज्ञानशक्ति एव विवेक-शक्ति कुण्ठित हो जाती है। कषाय भाव के वशीभूत होकर यह आत्मा भयकर से भयकर पाप को करने के लिए तैयार हो जाता है। पापाचार और भ्रष्टाचार को भी वह अपना कर्त्तव्य समझने लगता है, यही रागी आत्मा की सवसे भयकर भूल है। जिस समय आत्मा रागान्ध हो जाता है, उस समय आँखे होते हुए भी वह कुछ देख नही पाता और कान होते हुए भी वह कुछ सुन नही पाता। इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण करें, यहाँ तक किसी प्रकार का पाप नही है, परन्तु जव मन उसमे राग-द्वेष की वृत्ति उत्पन्न कर देता है, तव आत्मा वन्धन वद्ध हो जाता है।

प्रश्न किया जा सकता है, कि राग कहाँ से आया ? राग कही वाहर से नही आया, वह तो अन्तर मे प्रसुप्त पडा था, निमित्त मिलते ही प्रवुद्ध हो उठा। जिस समय मन के सरोवर मे राग की तरगें उत्पन्न हो जाती हैं, उस समय आत्मा अपने स्वरूप मे स्थिर नही रह पाता। वह इन्द्रियो और मन की वृत्ति मे रम जाता है। अपने स्वरूप को भूल कर जिस समय आत्मा विभाव-दशा मे पहुँच जाता है, उस समय वह अपनी इन्द्रियो का और मन का स्वामी न रहकर दास वन जाता है। वाह्य पदार्थ मे आत्मा को वाँधने की शक्ति नही है, आत्मा का राग और आत्मा का द्वेष ही उसे वाधता है।। कर्म-वन्ध क्या है ? यह भी एक प्रश्न है, जिसका समय-समय पर तत्व-चिन्तको ने उत्तर दिया है। कर्म का वन्ध बिना राग और द्वेष के नही होता है। जैन दर्शन के अनुसार राग-द्वेष ही कर्म-वन्ध के मूल कारण हैं। राग और द्वेष हो, पर कर्म बन्ध न हो, यह कभी सम्भव ही नही है। कारण के होने पर कार्य अवश्य ही होता है। इसके विपरीत यदि राग और द्वेष नही है, तव आप कही पर भी रहें और कही पर भी जाएँ, आपको कर्म का वन्धन नही हो सकता। जैन दर्शन मे कर्म के आठ भेद माने गए हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय। ये आठ कर्म हैं जो प्रतिक्षण आत्मा के साथ सम्वद्ध रहते हैं। इस अष्ट-विध कर्म का मूल कारण राग और द्वेष ही है। इन आठ कर्मो मे सर्वाधिक प्रवल एव भयकर मोहनीय कर्म है। मोहनीय कर्म से ही राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। मोहनीय कर्म के अतिरिक्त शेष जितने कर्म हैं, वे स्वय बन्धन होते हुए भी आत्मा को वन्धन मे नही डालते हैं। ये भोग्य कर्म हैं, भविष्य के लिए बन्धक कर्म नही है। बन्धक कर्म केवल एक

मोह है। मोह के साथ ही अन्य कर्म भी शक्तिशील रहते हैं। मोहनीय कर्म का अभाव होते ही शेष कर्म भी शक्ति-हीन बन जाते हैं। मोहनीय कर्म का अभाव होते ही उसके अन्तमुहूर्त बाद ही ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का भी अभाव हो जाता है। फिर चार अघाती कर्म ही शेष रह जाते हैं जिनका प्रभाव आत्मा पर नहीं पड़ता। कर्म-शास्त्र के इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा को बन्धन में डालने वाला कर्म मोहनीय कर्म ही है। मोहनीय कर्म के कारण ही आत्मा की संयम शक्ति एवं आत्मा की दर्शन शक्ति पर आवरण आता है। मोहनीय कर्म के कारण ही आत्मा की अन्य शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं। इसका अर्थ इतना ही है कि सुख मे सुख-बुद्धि और दुःख में दुःख-बुद्धि भी राग और द्वेष के कारण ही होती है। मोहनीय कर्म सबसे अधिक प्रबल कर्म माना जाता है।

मैं आपसे कर्म-बन्धन की बात कह रहा था। आत्मा को बन्धन में डालने वाला कौन सा कर्म है? क्या ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्म आत्मा को बन्धन में डालता है? नहीं इन कर्मों में आत्मा को कर्म-बन्धन में डालने की शक्ति नहीं है। कल्पना कीजिए, आपके सामने एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसे अभी तक आपने पढ़ा नहीं है। जिस ग्रन्थ का आपने अध्ययन किया है उस ग्रन्थ का ज्ञान तो आपके पास है, किन्तु जिस ग्रन्थ का अभी तक आपने अध्ययन नहीं किया उस ग्रन्थ का अज्ञान भी आपके पास है, किन्तु इतने मात्र से ही आप बन्धन में नहीं पड़ जाते। जब तक उस अज्ञान के साथ राग और द्वेष नहीं होगा तब तक वह अज्ञान आपको बाँध नहीं सकता। एक व्यक्ति अन्धा है उसे वस्तु के रूप का ज्ञान नहीं होता है। क्या वह रूप ज्ञान के न होने से कोई नया कर्म बाँध रहा है? इसी प्रकार बहरा व्यक्ति भी केवल शब्द श्रवण के अभाव से कर्म बन्धन नहीं करता है। यही बात दर्शन और अन्तराय के सम्बन्ध में है। कल्पना कीजिए, अन्तराय कर्म-वश किसी वस्तु की प्राप्ति नहीं है क्या इतने से कोई नया कर्म बंधता है? किसी वस्तु के मिलने पर आपको सुख होता है और किसी वस्तु के मिलने पर आपको दुःख होता है। सुख और दुःख क्या है? सुख और दुःख वेदनीय कर्म का फल ही तो है। सुख आने पर भी यदि आपके मन में समभाव बना रहता है और दुःख आने पर भी आपके मन में अक्षोभ भाव बना रहता है तब आपको किसी भी प्रकार का बन्धन नहीं हो सकता। परन्तु जब लाभ और अलाभ तथा सुख और दुःख के साथ राग और द्वेष का सम्बन्ध जोड़ दिया जाता है, तब वे सब आपको बाँध सकते हैं। यही बात आयुष्य कर्म नाम कर्म और गोत्रकर्म के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यह तो सत्य है, कि कर्म का भोग अवश्य भोगना पड़ता है। किन्तु जब

भाव के साथ भोगने पर कर्म का क्षय हो जाता है और विषम भाव के साथ भोगने पर कर्म का नवीन बन्ध हो जाता है। भोग अवश्यभावी अवश्य है, किन्तु भोग को भोगने की भी एक कला है। वह कला है, एकमात्र समत्व-योग। दुःख आने पर व्याकुल मत बनो और सुख आने पर अहंकार मत करो। इसी सिद्धान्त को समत्व-योग कहा गया है। जब तक जीवन में समत्व योग नहीं आएगा, कर्म की परम्परा का अन्त भी तब तक नहीं आ सकेगा। मिथ्या-दृष्टि का भोग बन्ध के लिए होता है और सम्यक् दृष्टि का भोग निर्जरा का हेतु बनता है। इस कथन का यही रहस्य है, कि सम्यक् दृष्टि आत्मा समत्व योग की भावना में अपने जीवन को सन्तुलित रखने का प्रयत्न करता है। अतः जितना-जितना वह समत्व-योग साध पाता है, उतना-उतना कर्मबन्ध से परे होता जाता है। मेरे कथन का अभिप्राय यह है, कि आठ कर्मों में से शेष सात कर्म बन्धन के हेतु तभी होते हैं, जब कि भोग काल में मोहनीय कर्म का उनके साथ योग रहता है।

मैं आपसे मोहनीय कर्म के सम्बन्ध में कह रहा था, कि आठ कर्मों में से यह सबसे प्रबल कर्म है। मोह आत्मा का विभाव है, जिसके कारण आत्मा अपने स्वभाव में स्थिर नहीं रह पाता। संसार के प्रत्येक निम्न भूमिका के जीवों में मन्द अथवा तीव्र रूप में मोह सत्ता अवश्य ही रहती है। एक भी संसारी आकुल आत्मा ऐसा नहीं है, जिसमें मोह न हो। जब आत्मा में से मोह का सर्वथा अभाव हो जाता है, उस समय उस आत्मा को वीतराग अथवा जिन कहा जाता है। आत्मा की यह विशुद्ध स्थिति है। परन्तु जब तक मोह की सत्ता विद्यमान है, तब तक यह आत्मा रागी कहलाता है, बद्ध कहा जाता है।

संसारी अवस्था में क्या ऐसी भी दशा हो सकती है, जब कि आत्मा में मोह क्षोभ न रहता हो। जैन दर्शन के अनुसार एकादश आदि अग्रिम गुण स्थानों में ही यह स्थिति आती है। प्रथम गुणस्थान से लेकर दशम गुण स्थान तक किसी न किसी रूप में मोह की सत्ता रहती ही है। जिस प्रकार एक व्यक्ति मदिरा-पान करके बे-भान हो जाता है, उसे अपने स्वरूप का परिज्ञान नहीं रहता, उसी प्रकार मोह के करण यह आत्मा बे-भान हो जाता है, अपने स्वरूप को भूल जाता है। साधक की अध्यात्म-साधना का लक्ष्य है, मोह पर विजय प्राप्त करना और राग एवं द्वेष को जीतना। जीवन की पवित्रता तभी स्थिर रह सकती है, जब कि मोह क्षीण हो जाए अथवा उपशान्त हो जाए। जब तक मोहनीय कर्म का पूर्णरूपेण उदयभाव रहता है, तब तक आत्मा न अपने स्वरूप में रहता है और न किसी प्रकार के चारित्र एवं संयम का ही

अशुभ। राग कभी शुद्ध नहीं होता क्योंकि राग बन्ध का कारण होता है, यदि शुभ राग है, तो वह भी बन्ध का कारण है और यदि अशुभ राग है, तो वह भी बन्ध का कारण है। शुभ और अशुभ दोनों अवस्थाओं में ही आत्मा का बन्ध होता है, किन्तु जहाँ शुद्ध अवस्था है वहाँ बन्ध नहीं होता। जहाँ शुद्ध अवस्था होती है, वहाँ कर्मों का बन्ध नहीं होता बल्कि निर्जरा होती है। मैं आपसे मोह की बात कह रहा था। मोह शुभ हो सकता है, अशुभ हो सकता है प्रशस्त हो सकता है और अप्रशस्त हो सकता है, किन्तु कभी भी शुद्ध नहीं हो सकता। शुभ और अशुभ के उदय से ही बन्ध होता है। शुभ के उदय से बन्ध भी शुभ होता है और अशुभ के उदय से बन्ध भी अशुभ होता है किन्तु जितने जितने अंश में शुभ या अशुभ का उदय रहता है, उतने-उतने अंश में कर्म का शुभ या अशुभ बन्ध अवश्य रहता है। आत्मा की सर्वथा शुद्ध अवस्था तभी सम्भव है, जब कि मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाय। शुद्ध अवस्था ही साधक की साधना का एक मात्र लक्ष्य है और वह शुद्ध अवस्था बिना समत्व योग के आती नहीं है।

लोग यह कहते हैं कि धर्म कहाँ है और अधर्म कहाँ है? धर्म संसार की किसी भी वस्तु-विशेष में नहीं रहता है। धर्म रहता है, विवेक में। संसार में कदम-कदम पर धर्म है और संसार में कदम-कदम पर अधर्म भी है। मनुष्य की प्रत्येक चेष्टा में पुण्य की धारा पाप की धारा और धर्म की धारा प्रवाहित हो सकती है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि यह विवेक रखा जाए, कि हम किस कार्य को किस प्रकार कर रहे हैं? संसार में सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। धन वैभव भोग विलास पूजा और प्रतिष्ठा इन का मिलना कठिन नहीं है। आत्मा को ये अनन्त बार मिले हैं और अनन्त बार मिल सकते हैं। एक विवेक ही ऐसा तत्व है, जो आत्मा को आसानी से नहीं मिल सकता। विवेक प्राप्त हो जाने पर फिर यह आत्मा कर्म-बन्धन से शीघ्र ही छुटकारा प्राप्त कर सकता है। कुछ लोग यह विचार करते हैं, कि साधु जीवन की धारा शुद्ध पवित्र धारा है, किन्तु मैं यह कहता हूँ कि साधु जीवन में भी यदि राग और द्वेष विद्यमान हैं, तो उसका जीवन भी शुभ और अशुभ धाराओं में विभक्त हो सकता है। गुरु और शिष्य का सम्बन्ध एक पवित्र सम्बन्ध माना जाता है परन्तु यदि वहाँ पर भी समभाव नहीं है अथवा समत्व योग नहीं है तो वह पवित्र नहीं रह सकता। गुरु यदि यह सोचे कि मैं अपने शिष्य को अधिक बड़ा दूँगा तो वह मेरे हाथ से निकल जाएगा फिर वह स्वतन्त्र बन जाएगा। उस समय मेरी सेवा कौन करेगा कौन मुझे आहार [illegible] ला कर देगा इसलिए शिष्य को बढ़ाना उचित

नही है, उसे अज्ञानी रखना ही ठीक है, ताकि वह एक दास के समान हमेशा गुलाम बना रहे। यदि किसी गुरु के मन मे अपने शिष्य के प्रति इस प्रकार की दूषित भावना रहती है, तो निस्सन्देह यह एक प्रकार की अप्रशस्त एव अशुभ भावना है। इसके विपरीत यदि गुरु अपने शिष्य के प्रति यह भावना रखता है, कि मैं अपने शिष्य को अधिकाधिक ज्ञान दूं, ताकि वह योग्य बन सके, विद्वान बन सके। वह अपना और समाज का नाम चमका सके। उसका यश यदि बढ़ता है, तो साथ मे सघ का यश भी बढेगा। इस प्रकार की भावना को अमुक अश मे पूर्वापेक्षया शुभ और प्रशस्त कहा गया है। किन्तु इससे भी ऊँची एव भावना है, जिसे आत्म कल्याण की भावना कहा जाता है। जब गुरु यह सोचता है, कि मेरा यह शिष्य स्वय अपना भी कल्याण करे और दूसरो के कल्याण मे भी वह निमित्त बने। मैंने इसके जीवन का भार अपने ऊपर लिया है, उस स्थिति मे मेरा यह कर्त्तव्य हो जाता है, कि ऐसा मार्ग बतलाऊँ जिससे इसकी आत्मा का कल्याण हो। इस प्रकार की भावना को अमुक अश मे शुभाश रहते हुए भी विशुद्ध एव पवित्र भावना कहा जाता है। वस्तुत गुरु-शिष्य का सम्बन्ध इसी भावना पर आधारित रहना चाहिए। मनुष्य के मन की भावना तीन धाराओ मे होकर प्रवाहित होती है—शुभ, अशुभ और शुद्ध। शुभ और अशुभ की धारा मोह-जन्य है और शुद्ध धारा मोह के अभाव की सूचक होती है। कोई भी कर्त्तव्य जब विकल्प-रहित केवल प्राप्त कर्त्तव्य की पूर्ति के रूप मे होता है, तब वह शुद्ध होता है।

मैं आपसे यह कह रहा था, कि मोह पर विजय प्राप्त करना ही साधक की साधना का एक मात्र लक्ष्य होना चाहिए। साधक, फिर भले ही वह गृहस्थ हो अथवा साधु, जब तक वह शुभ और अशुभ के बन्धनो से ऊपर उठकर जीवन की शुद्ध स्थिति मे नही पहुँचेगा, तब तक उसके जीवन का कल्याण नही हो सकेगा। साधु-जीवन ही नही, गृहस्थ जीवन का भी यही लक्ष्य है, कि वह अशुभ से शुभ की ओर, और शुभ से शुद्ध की ओर निरन्तर अग्रसर होता रहे। चारित्र चाहे अणुव्रत रूप हो, और चाहे महाव्रत रूप हो, उसे अशुद्ध बनाने वाला राग और द्वेष भाव ही है। यह मत समझिए कि राग द्वेष की अग्नि के परिताप से बचने के लिए साधु का जीवन है, और गृहस्थ का जीवन है, उसमे तपने के लिए। मैं इस प्रकार के विचार को ठीक नही समझता। धर्म तो धर्म है, फिर भले ही वह साधु के जीवन मे हो अथवा गृहस्थ के जीवन मे हो। मैं इस तथ्य को स्वीकार करता हूँ कि साधु की अपेक्षा एक गृहस्थ का जीवन हजारो हजार बन्धनो से बद्ध रहता है, परन्तु जहाँ तक उसके लक्ष्य का प्रश्न है, उसका लक्ष्य भी वही

पालन कर सकता है। चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से चारित्र भी अचारित्र बन जाता है, संयम भी असंयम हो जाता है। चारित्र और संयम की आराधना तीन स्थिति में ही की जा सकती है—एक तो तब जब कि मोहनीय कर्म उपशान्त रहे, दूसरी तब जब कि मोहनीय कर्म का क्षयोपशम रहे। तीसरी तब जब कि चारित्रमोह का पूर्ण रूपेण क्षय हो जाता है। मोहनीय कर्म का सर्वथा अभाव होने पर साधक के जीवन में जो संयम स्थिति आती है वह तो परम पवित्र होती है, सर्वथा विशुद्ध होती है।

राग का जन्म मोह से ही होता है, राग स्वयं मोह रूप ही होता है यह सत्य है, फिर भी इतना तो अवश्य कहना ही पड़ेगा कि राग के दो भेद हैं—प्रशस्तराग और अप्रशस्तराग अथवा शुभराग और अशुभ राग। यद्यपि दोनों ही प्रकार का राग त्याज्य है, फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि अप्रशस्त राग की अपेक्षा प्रशस्त राग अच्छा होता है। अशुभ राग की अपेक्षा शुभ राग कुछ अच्छा होता है। प्रशस्त राग क्या है एवं शुभ राग क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है, कि भगवान की भक्ति करना गुरु आदि की सेवा करना यह भी एक प्रकार का राग तो अवश्य है, किन्तु प्रशस्त राग है। पत्नी का अपने पति के प्रति जो पतिव्रता भाव मूलक प्रीतिभाव है अथवा पति का अपनी पत्नी के प्रति जो एक पत्नीव्रत रूप स्वदार सन्तोषात्मक प्रीति भाव है, यह भी राग ही है, किन्तु फिर भी उसे प्रशस्त एवं शुभ माना गया है, क्योंकि पति और पत्नी दोनों में एक दूसरे के प्रति सद्भावना रूप कर्त्तव्य बुद्धि रहती है। यदि इस कर्त्तव्य-बुद्धि को भुला दिया जाए, और उन दोनों में एकमात्र वासना का सम्बन्ध ही रह जाए तब उन दोनों का यह प्रणय-भाव प्रशस्त एवं शुभ राग न होकर, अप्रशस्त और अशुभ राग ही रहेगा। पत्नी को वासना का केन्द्र स्वीकार करना एक भयंकर भूल है और यही पतन का एक मात्र कारण है। कर्त्तव्य निष्ठा और कर्त्तव्य भावना ही उन दोनों के जीवन को पवित्र बनाती है। पति और पत्नी के मध्य जो प्रणय एवं प्रेम सम्बन्ध होता है, उसे शुभ और अशुभ बनाना उन दोनों की कर्त्तव्य और व्यभिचारी भावना पर निर्भर करता है। पत्नी और पति का प्रेम-सम्बन्ध जब देह से ऊपर उठकर कर्त्तव्य कोटि पर पहुँचता है, तब वह इतना महान और इतना गम्भीर माना गया है कि उसके उज्ज्वल उदाहरण संसार में कर्त्तव्य का प्रकाश विकीर्ण करते हैं। पत्नी और पति शरीर से भिन्न होते हुए भी भावना और विचार से दोनों में तादात्म्य रहता है। इसलिए भारतीय साहित्य में उक्त शब्दों के पूर्व धर्म शब्द का प्रयोग कर उन्हें धर्म-पत्नी और

धर्मपति कहा गया है। राम का सीता के प्रति जो प्रेम था अथवा सीता का राम के प्रति जो प्रेम था, उसे हम पवित्रतम प्रेम कहते हैं। आध्यात्म शास्त्र की भाषा मे उसे हम शुभ राग और प्रशस्त राग कहते है। उन दोनो का प्रेम एव प्रणय शारीरिक वासना पर ही आधारित नही था, वल्कि निष्ठा और कर्त्तव्य पर भी आधारित था। यदि सीता मे कर्त्तव्य बुद्धि न होती और अपने पति के प्रति उसके मन मे प्रशस्त राग न होता, तो वह कभी भी अयोध्या के राज-प्रासादो के सुखो को छोडकर विकट वन के भयकर दु खो को उठाने क्यो जाती ? उसे इतना तो पता था ही, कि राजमहल छोडते ही जीवन दु खमय वन जाएगा ? किन्तु सीता के मन मे राम के प्रति जो प्रशस्त राग एव पवित्र प्रेम था, उसी के कारण उसने राजमहल के सुखद भोगो को ठुकराकर, विकट वन के कटीले पथ पर अपने कोमल चरण रखे। रावण के यहाँ स्वर्ण लका मे भी वैभव की क्या कमी थी ? रावण स्वय भी अपने युग का एक अति सुन्दर राजा था। यदि सीता का प्रेम भोग-मूलक ही होता तो व्यर्थ ही वह क्यो सघर्ष करती ? और क्यो राम के लिए कष्ट झेलती ? सत्य हरिश्चन्द्र और महारानी तारा के जीवन की गाथा भी हमे इसी निष्कर्ष पर पहुँचाती है। जहाँ शुभ राग, प्रशस्त राग एव पवित्र प्रेम होता है, वहाँ पर दु ख भी सुख वन जाता है ? प्रतिकूलता भी अनुकूलता वन जाती है और असुविधा भी सुविधा वन जाती है। राजा हरिश्चन्द्र के अपने समग्र राज को दान कर देने पर जो कुछ महारानी तारा ने कहा, उसमे भारत की सस्कृति का मूल स्वर झकृत होता है। महारानी सीता और तारा ने इसी तरग मे कभी कहा था —"नाथ ! मेरा राज्य वही है, जहाँ आप रहते हैं। आपकी सेवा मे रहकर विकट वन भी मेरे लिये सुखद साम्राज्य है और आपके अभाव मे यह विशाल अयोध्या राज्य भी मेरे लिये शून्य वन है।" निस्सन्देह पति और पत्नी का यह अद्वैत भाव ही उसकी पवित्रता का, प्रशस्तता का और उसकी शुभता का एक मात्र आधार है, एक मात्र आश्रय है और एक मात्र अवलम्बन है।

मैं आपसे प्रशस्त राग और शुभ राग की चर्चा कर रहा था। राग शुभ भी हो सकता है और अशुभ भी हो सकता है। राग प्रशस्त भी हो सकता है और अप्रशस्त भी हो सकता है, परन्तु राग कभी भी शुद्ध नही हो सकता। ससार के जितने भी रागात्मक सम्वन्ध हैं, उनमें शुभ या अशुभ राग ही हो सकता है, किन्तु शुद्ध राग नही हो सकता। माता और पुत्री मे तथा पिता और पुत्र मे, जिस पवित्र प्रेम की परिकल्पना की गई है, उसे भी सेवा भावना के रूप में शुभ कहा जा सकता है, किन्तु शुद्ध नहीं कहा जा सकता। इसी आधार पर मैं आपसे कह रहा था, कि राग के दो ही रूप होते हैं—शुभ और

अशुभ। राग कभी शुद्ध नहीं होता क्योंकि राग बन्ध का कारण होता है, यदि शुभ राग है, तो वह भी बन्ध का कारण है और यदि अशुभ राग है, तो वह भी बन्ध का कारण है। शुभ और अशुभ दोनों अवस्थाओं में ही आत्मा का बन्ध होता है, किन्तु जहाँ शुद्ध अवस्था है वहाँ बन्ध नहीं होता। जहाँ शुद्ध अवस्था होती है, वहाँ कर्मों का बन्ध नहीं होता बल्कि निर्जरा होती है। मैं आपसे मोह की बात कह रहा था। मोह शुभ हो सकता है अशुभ हो सकता है प्रशस्त हो सकता है और अप्रशस्त हो सकता है किन्तु कभी भी शुद्ध नहीं हो सकता। शुभ और अशुभ के उदय से ही बन्ध होता है। शुभ के उदय से बन्ध भी शुभ होता है और अशुभ के उदय से बन्ध भी अशुभ होता है किन्तु जितने जितने अंश में शुभ या अशुभ का उदय रहता है, उतने-उतने अंश में कर्म का शुभ या अशुभ बन्ध अवश्य रहता है। आत्मा की सर्वथा शुद्ध अवस्था तभी सम्भव है जब कि मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाय। शुद्ध अवस्था ही साधक की साधना का एक मात्र लक्ष्य है और वह शुद्ध अवस्था बिना समत्व योग के आती नहीं है।

लोग यह कहते हैं कि धर्म कहाँ है और अधर्म कहाँ है? धर्म संसार की किसी भी वस्तु-विशेष में नहीं रहता है। धर्म रहता है, विवेक में। संसार में कदम-कदम पर धर्म है और संसार में कदम-कदम पर अधर्म भी है। मनुष्य की प्रत्येक चेष्टा में पुण्य की धारा पाप की धारा और धर्म की धारा प्रवाहित हो सकती है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि यह विवेक रखा जाए, कि हम किस कार्य को किस प्रकार कर रहे हैं? संसार में सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। धन वैभव भोग विलास पूजा और प्रतिष्ठा इन का मिलना कठिन नहीं है। आत्मा को ये अनन्त बार मिले हैं और अनन्त बार मिल सकते हैं। एक विवेक ही ऐसा तत्त्व है, जो आत्मा को आसानी से नहीं मिल सकता। विवेक प्राप्त हो जाने पर फिर यह आत्मा कर्म-बन्धन से शीघ्र ही छुटकारा प्राप्त कर सकता है। कुछ लोग यह विचार करते हैं, कि साधु जीवन की धारा शुद्ध पवित्र धारा है, किन्तु मैं यह कहता हूँ कि साधु जीवन में भी यदि राग और द्वेष विद्यमान हैं तो उसका जीवन भी शुभ और अशुभ धाराओं में विभक्त हो सकता है। गुरु और शिष्य का सम्बन्ध एक पवित्र सम्बन्ध माना जाता है, परन्तु यदि वहाँ पर भी समभाव नहीं है अथवा समत्व योग नहीं है तो वह पवित्र नहीं रह सकता। गुरु यदि यह सोचे कि मैं अपने शिष्य को अधिक पढ़ा दूँगा तो वह मेरे हाथ से निकल जाएगा फिर वह स्वतन्त्र बन जाएगा। उस समय मेरी सेवा कौन करेगा कौन मुझे आहार लाकर देगा और कौन मुझे वस्त्र लाकर देगा इसलिए शिष्य को पढ़ाना उचित

नही है, उसे अज्ञानी रखना ही ठीक है, ताकि वह एक दास के समान हमेशा गुलाम बना रहे। यदि किसी गुरु के मन मे अपने शिष्य के प्रति इस प्रकार की दूषित भावना रहती है, तो निस्सन्देह यह एक प्रकार की अप्रशस्त एव अशुभ भावना है। इसके विपरीत यदि गुरु अपने शिष्य के प्रति यह भावना रखता है, कि मैं अपने शिष्य को अधिकाधिक ज्ञान दूं, ताकि वह योग्य बन सके, विद्वान बन सके। वह अपना और समाज का नाम चमका सके। उसका यश यदि बढता है, तो साथ मे सघ का यश भी बढेगा। इस प्रकार की भावना को अमुक अश मे पूर्वापेक्षया शुभ और प्रशस्त कहा गया है। किन्तु इससे भी ऊँची एव भावना है, जिसे आत्म कल्याण की भावना कहा जाता है। जब गुरु यह सोचता है, कि मेरा यह शिष्य स्वय अपना भी कल्याण करे और दूसरो के कल्याण मे भी वह निमित्ति बने। मैंने इसके जीवन का भार अपने ऊपर लिया है, उस स्थिति में मेरा यह कर्त्तव्य हो जाता है, कि ऐसा मार्ग बतलाऊँ जिससे इसकी आत्मा का कल्याण हो। इस प्रकार की भावना को अमुक अश मे शुभाश रहते हुए भी विशुद्ध एव पवित्र भावना कहा जाता है। वस्तुत गुरु-शिष्य का सम्बन्ध इसी भावना पर आधारित रहना चाहिए। मनुष्य के मन की भावना तीन धाराओं मे होकर प्रवाहित होती है—शुभ, अशुभ और शुद्ध। शुभ और अशुभ की धारा मोह-जन्य है और शुद्ध धारा मोह के अभाव की सूचक होती है। कोई भी कर्त्तव्य जब विकल्प-रहित केवल प्राप्त कर्त्तव्य की पूर्ति के रूप मे होता है, तब वह शुद्ध होता है।

मैं आपसे यह कह रहा था, कि मोह पर विजय प्राप्त करना ही साधक की साधना का एक मात्र लक्ष्य होना चाहिए। साधक, फिर भले ही वह गृहस्थ हो अथवा साधु, जब तक वह शुभ और अशुभ के बन्धनो से ऊपर उठकर जीवन की शुद्ध स्थिति मे नही पहुँचेगा, तब तक उसके जीवन का कल्याण नही हो सकेगा। साधु-जीवन ही नही, गृहस्थ जीवन का भी यही लक्ष्य है, कि वह अशुभ से शुभ की ओर, और शुभ से शुद्ध की ओर निरन्तर अग्रसर होता रहे। चारित्र चाहे अणुव्रत रूप हो, और चाहे महाव्रत रूप हो, उसे अशुद्ध बनाने वाला राग और द्वेष भाव ही है। यह मत समझिए कि राग द्वेष की अग्नि के परिताप से बचने के लिए साधु का जीवन है, और गृहस्थ का जीवन है, उसमे तपने के लिए। मैं इस प्रकार के विचार को ठीक नही समझता। धर्म तो धर्म है, फिर भले ही वह साधु के जीवन मे हो अथवा गृहस्थ के जीवन मे हो। मैं इस तथ्य को स्वीकार करता हूँ कि साधु की अपेक्षा एक गृहस्थ का जीवन हजारो हजार बन्धनों से बद्ध रहता है, परन्तु जहाँ तक उसके लक्ष्य का प्रश्न है, उसका लक्ष्य भी वही

है, जो साधु के जीवन का है। इसी आधार पर जैन संस्कृति में गृहस्थ को श्रमणोपासक कहा जाता है। इसका अर्थ है—श्रमण की उपासना करने वाला। साधु-जीवन के पथ का अनुसरण करने वाला। दोनों के जीवन का एक ही लक्ष्य है, राग और द्वेष को जीतना। कौन कितनी मात्रा में राग द्वेष को जीतता है, यह उसके आत्म-विकास और आत्म-शक्ति पर निर्भर है। परन्तु राग और द्वेष के विकल्पों को कम करते जाना दूर करते जाना ही साधक जीवन का एक मात्र ध्येय हो सकता है।

साधक जब साधना के मार्ग पर अग्रसर होता है, तब उसे मार्ग में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वह जिस मार्ग पर चल रहा है, उस मार्ग पर निरन्तर प्रगति करते रहना ही उसके जीवन का एक मात्र लक्ष्य होना चाहिए। मैं समझता हूँ कि जीवन में ममता आसक्ति और तृष्णा कदम कदम पर साधक के मन को पकड़ती है। पुण्य और पाप की समस्याएँ भी उसके सामने आकर खड़ी होती हैं। परिग्रह का बन्धन भी उसे चारों ओर से जकड़ने का प्रयत्न करता है। इन सब बाधाओं को दूर करके लक्ष्य पर पहुँचने की शक्ति जिसमें नहीं है वह अपने जीवन का सम्यक विकास और निर्मल उत्थान नहीं कर सकता। संसार की प्रत्येक क्रिया में पुण्य भी हो सकता है और पाप भी हो सकता है। प्रथम पाप क्रियाओं से और अन्तत पुण्य क्रियाओं से विमुक्त होना ही साधक के जीवन का संलक्ष्य है। यदि जीवन मे समभाव की लहर नहीं उठती है, तो उसका जीवन किसी भी प्रकार से संभल नहीं सकता। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका जन्म समाज में होता है, उसका पालन-पोषण समाज में होता है और अन्त में उसका मार्ग भी समाज के वातावरण में ही होता है। उसके संसार त्याग का अर्थ यह नहीं है कि उसने समाज को छोड़ दिया है। समाज को छोड़ना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। संसार की आसक्ति का परित्याग ही संसार का परित्याग है। संसार और मोक्ष क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि जितने अंशों में कषाय भाव क्षीण होगा उतने अंशों में आप मुक्ति के समीप होंगे। यदि कषाय भाव प्रबल है, तो आप मुक्ति से दूर होंगे और संसार के समीप होंगे। यदि आप घर छोड़कर जंगल में चले गए, इतने मात्र से क्या होता है? यदि आपने काम क्रोध और लोभ को नहीं छोड़ा है, तो कुछ भी नहीं छोड़ा है। जब तक मनुष्य अपनी प्रकृति में परिवर्तन नहीं करता है तब तक वह अपने जीवन की विकृति पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता। दूसरों को जीतने की अपेक्षा अपने को अपने विचारों को और अपने विकल्पों को जीतना बहुत कठिन है। वस्तुत भारतीय संस्कृति में यही साधना है।

एक सज्जन का मेरे साथ बहुत परिचय था। जब कभी वह घर से बाहर निकलता था और मार्ग मे उसे जो कोई मिलता था, तो वह उसे नमस्कार करता, मधुर वचन बोलता और बडे प्रेम के साथ व्यवहार करता था। जब वह किसी दूसरे को देखता, तब वह इतना प्रसन्न हो जाता था, कि उसका मुख ऐसा लगता कि जैसे कमल खिल उठा हो। सबके साथ मधुर व्यवहार करना, सबसे मीठे वचन बोलना और सबका आदर सत्कार करना, यह उसका एक दैनिक कार्यक्रम ही बन गया था। परन्तु यह उसका बाहरी रूप था। उसके घर के अन्दर का रूप इससे भिन्न था। घर मे वह रुद्र से भी अधिक भयकर था। जैसे व्यक्ति यमराज से डरता है, इसी प्रकार उसके घर वाले उससे डरते रहते थे। घर मे प्रवेश करते ही पत्नी पर क्रोध की वर्षा करता, कभी माँ-बाप पर झल्ला उठता, कभी बच्चो को डाँटता डपटता और कभी घर के नौकरो पर तूफान बरपा कर देता। बाहर मे वह जितना दिव्य और सरल था, घर मे वह उतना ही अधिक रुद्र और भयावह था। उसकी ऐसी भावना बन चुकी थी कि इस घर मे वही कुछ हो, जो मैं सोचता हूँ और इस घर मे वही कुछ किया जाए, जो मेरी इच्छा है। वह अपने घर के सब सदस्यो को अपनी इच्छा के अनुसार ढालना चाहता था। यदि कोई उसकी इच्छा के विपरीत चलता तो उस घर मे उसकी खैर नही रह सकती थी। पत्नी और सन्तान तो क्या, स्वय उसके माता-पिता भी उसके भयकर क्रोध से कापते थे। घर का कोई भी सदस्य उसके सामने मुँह खोलने की ताकत नही रखता था। वह घर के बाहर जितना अधिक मधुर था, अपने घर के अन्दर मे वह उतना ही अधिक कटु था। उसे अपने जीवन बदलने की चिन्ता नही थी, चिन्ता थी, दूसरो के जीवन को अपनी इच्छनुसार बदलने की। मैं समझता हूँ, यही उसके जीवन की सबसे बडी भूल थी। विश्व विजेता नेपोलियन ने एक बार कहा था—"I can not create men, I must use those, I find" मैं नया मनुष्य नही बना सकता, यह सत्य है, किन्तु प्रकृति की ओर से जो मानव समुदाय मुझे मिला है, मुझे उसी का उपयोग करना चाहिए। इस उक्ति मे ससार का एक बहुत बडा सत्य प्रकट कर दिया गया है। इसलिए मैं आपसे कह रहा था, कि दूसरो को बदलने की अपेक्षा अपने को बदलना ही, जीवन की सबसे बडी साधकता है। सच्चा साधक चाहे घर मे हो तो क्या, बाहर हो तो क्या, वन मे हो तो क्या, और नगर मे हो तो क्या ? सब जगह उसका एक ही रूप रहता है। दीपक को घर में जलाओगे, तब भी प्रकाश देगा और जगल मे जलाओगे, तब भी प्रकाश देगा। उसके प्रकाश मे किसी प्रकार की कमी नही आ सकती। सदाचार का मतलब है, हम जीवन को एक रस और एक रूप कर सकें। जिस सदाचार का

पालन दूसरे के भय से किया जाता है वस्तुतः वह सदाचार नहीं होता। जिस संयम में निर्भयता नहो है, वह संयम संयम नहीं है। बल्कि एक प्रकार का बन्धन ही है। मैं आपसे कह रहा था कि अपने आपको बाहर में ही बदलने का प्रयत्न मत करो अपितु अपने आपको अन्दर में भी बदलने का प्रयत्न करो। बाहर का परिवर्तन तो भय और प्रलोभन के भाव से भी हो सकता है किन्तु अन्दर के परिवर्तन के लिए संयम भाव चाहिए अन्तर् मुक्त चेतना चाहिए। फूल को बाहर में दबाकर या पकड़ कर नहीं खिलाया जा सकता। वह तभी खिलता है, जबकि खिलने की शक्ति उसकी अन्दर में होती है। फूल बाहर से नहीं अन्दर से खिलता है। इसी प्रकार साधना का फूल भी तभी महक सकता है जब कि साधक के अन्तरंग मानस में समरसी भाव आ गया हो समत्वयोग आ गया हो।

मैंने आपसे अभी यह कहा था कि साधक को दण्ड के बल पर नहीं चलाया जा सकता। दण्ड से पशु चलता है, साधक नहीं। साधक चलता है अपने अन्तर् विवेक से। मनुष्य को संयम में चलाने के लिए केवल प्रेरणा की आवश्यकता है, बल-प्रयोग की नहीं। जो व्यक्ति प्रेरणा से ही अपने जीवन की दिशा को बदल देता है, वस्तुतः वह संसार का सामान्य व्यक्ति नहीं होता उसे साधक कहा जाता है। बल-प्रयोग से चलने वाले लोग न अपना सुधार कर सकते हैं, और न दूसरों का ही सुधार कर सकते हैं। समाज बहुत बड़ा है, बल प्रयोग से आप किस-किसको सुधारेंगे ? इसके विपरीत प्रथम इकाई के रूप में यदि आपने अपने आपको सुधार लिया तो एक प्रकार से सारे समाज को ही सुधार लिया सारे जगत को ही सुधार लिया। एक व्यक्ति स्वयं में एक समाज है। समाजवाद के इस सिद्धान्त को मैं मूल में गलत समझता हूँ कि समाजवाद के आधार पर सम्पूर्ण समाज को एक साथ बदला जा सकता है। यह कभी न सम्भव हुआ है और न हो सकेगा। मेरे विचार में सुधार का प्रारम्भ समाज से न होकर व्यक्ति से होना चाहिए। व्यक्ति समाज की ही एक इकाई है। जब *व्यक्ति सुधर जाता है, तो समाज भी स्वतः सुधर जाएगा।*

बहुत से लोग समय-समय पर मुझसे पूछा करते हैं कि समाजवाद आया तो क्या होगा ? उनके मन में आशंका है, कि यदि समाजवाद आ गया तो धन और सम्पत्ति न रहेगी। मेरे विचार में समाजवाद अथवा साम्यवाद से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। समाजवाद आए तो आए। यदि सामूहिक जन जीवन की उत्थान भावना के साथ समाजवाद आएगा तो अन्तर केवल इतना ही पड़ेगा कि व्यक्ति के पास पैसा नहीं रहेगा तो सरकार के पास रहेगा। सम्पत्ति तो रहेगी ही सम्पत्ति नष्ट नहीं हो सकती। देश की

सम्पत्ति को नष्ट करना समाजवाद का उद्देश्य भी नही है। यदि देश मे सम्पत्ति न रहेगी, तो देश कगाल हो जाएगा और कगाल राष्ट्र अपना विकास नही कर सकता। अत देश की सम्पत्ति को नष्ट करना समाजवाद का लक्ष्य नही है। उसका लक्ष्य है, सम्पत्ति का उचित रूप मे वितरण करना।

कुछ लोगो के मन मे यह भी भय है, कि समाजवाद के आने पर समाज मुख्य हो जाएगा और व्यक्ति गौण पड जाएगा। मेरे विचार मे इस विचार से भी भयभीत होने की आवश्यकता नही है। हमारा पारिवारिक जीवन भी एक प्रकार का समाजवाद ही है। जिस प्रकार परिवार मे रहते हुए हम परिवार की मुख्यता का आदर करते हैं। परिवार का प्रत्येक सदस्य अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखते हुए भी जिस प्रकार अपने परिवार के लिए बडे-से वडा त्याग कर डालता है इसी प्रकार समाज मे रहते हुए यदि समाज की मुख्यता रहे, तो इससे व्यक्ति के व्यत्तित्व के विकास में किसी प्रकार की वाधा उपस्थित नही हो सकती। जिस प्रकार परिवार का लक्ष्य यह होता है, कि उसके प्रत्येक सदस्य को उचित आदर सत्कार एव सुख सुविधा मिले, उसी प्रकार समाजवाद का भी यही लक्ष्य है, कि उसका प्रत्येक सदस्य अपने व्यक्तित्व का विकास करे एव सम्मान के साथ जीवनोपयोगी साधन उपलब्ध करे। जैन दर्शन समन्वयवादी है। वह कहता है, कि समाज के विकास मे व्यक्ति का विकास है और व्यक्ति के विकास मे समाज का विकास है। एक का विकास और प्रगति दूसरे के विकास और प्रगति पर निर्भर है। मेरे विचार मे समाजवाद का अर्थ है—व्यक्ति के हृदय मे सामूहिक कल्याण-भावना। और यह सामूहिक भावना एक प्रकार की सघ-भावना है।

मैं आपसे व्यक्ति की साधना और उसके जीवन-विकास की वात कह रहा था। वात यह है, कि किसी सिद्धान्त को समझना एक बात है और उसे जीवन की धरती पर उतारना एक अलग वात है। लक्ष्य और उद्देश्य कितना भी पवित्र और कितना भी ऊँचा क्यो न हो, किन्तु जव तक उसे प्राप्त करने का प्रयत्न नही किया जाएगा, हमें उससे किसी प्रकार का लाभ नहीं होगा। एक विदेशी विद्वान ने कहा है—To aim is not enough we must hit" लक्ष्य वनाना ही उद्देश्य नही होना चाहिए, उसकी प्राप्ति का प्रयत्न भी होना चाहिए। लक्ष्य की उपलब्धि ही जीवन की सफलता है।

मानव जीवन की सफलता

इस संसार में जीवन-शक्ति की अभिव्यक्ति अनन्त-अनन्त रूपों में होती है। पशु, पक्षी, देव और मनुष्य तथा कीट-पतंग आदि के रूप में जीवन के अनन्त प्रकार इस अनन्त संसार में उपलब्ध होते हैं। जन्म, जीवन और मरण इन तीन शब्दों में व्यक्ति की कहानी परिसमाप्त हो जाती है। जन्म और मरण के मध्य में जो कुछ है, उसे ही हम जीवन की संज्ञा प्रदान करते हैं। जीवन की कहानी बहुत ही पुरानी है। इतनी पुरानी जिसके आदि का पता नहीं लग रहा है। पता तो तब लगे जब कि उसकी आदि हो। अभिप्राय यह है कि जीवन की कहानी अनन्त-अनन्त काल से चल रही है। कभी स्वर्ग में कभी नरक में कभी मनुष्य में और कभी तिर्यञ्च में यह आत्मा जन्म और मरण करता रहा है। अनन्त-अनन्त पुण्योदय से आत्मा को मानव-तन उपलब्ध होता है। सृष्टि में जीवन तो अनन्त है, परन्तु उनमें सर्वश्रेष्ठ जीवन मानव जीवन ही है, क्योंकि इस जीवन में ही व्यक्ति आध्यात्मिक साधना कर सकता है। इसी आधार पर भारत के धर्म दर्शन और संस्कृति में मानव-जीवन को दुर्लभ कहा है। भगवान महावीर ने कहा है—'माणुस्सं खु सुदुल्लहं।' इस अनन्त संसार में और उसके जीवन के अनन्त प्रकारों में मानव-जीवन ही सबसे अधिक दुर्लभ है। आचार्य शंकर भी अपने विवेक चूड़ामणि ग्रन्थ में मानव जीवन को दुर्लभ कहते हैं। भारतीय संस्कृति में मानव जीवन को जो दुर्लभ

कहा है, उसका एक विशेष अभिप्राय है। वह अभिप्राय क्या है ? इसके उत्तर मे कहा गया है, कि मनुष्य-जीवन एक इस प्रकार का जीवन है, कि जिसमे भयकर से भयकर पतन भी सम्भव है और अधिक से अधिक पवित्र एव उज्ज्वल उत्थान भी सम्भव है । मनुष्य-जीवन की उपयोगिता तभी है, जब कि उसे प्राप्त करके उसका सदुपयोग किया जाए और अधिकाधिक अपनी आत्मा का हित साधा जाए, अन्यथा मनुष्य-जीवन प्राप्त करने का अधिक लाभ न होगा। मनुष्य तो राम भी थे और मनुष्य रावण भी था, किन्तु फिर भी दोनो के जीवन मे बहुत बडा अन्तर था। पुण्य के उदय से मनुष्य-जीवन राम ने भी प्राप्त किया था और पुण्य के उदय से मनुष्य जीवन रावण ने भी प्राप्त किया था। यह नही कहा जा सकता, कि राम को जो मनुष्य जीवन मिला वह तो पुण्योदय से मिला और रावण को जो मनुष्य जीवन मिला था, वह पाप के उदय से मिला था, क्योकि शास्त्रकारो ने मनुष्य मात्र के जीवन को पुण्य का फल बतलाया है। इस दृष्टि से राम और रावण के मनुष्य जीवन मे स्वरूपत किसी प्रकार का भेद नही है, भेद है केवल उसके उपयोग का, उसके प्रयोग का। राम ने अपने मनुष्य जीवन को लोक-कल्याण मे एव जनहित मे व्यतीत किया था। इसी आधार पर राम का जीवन कोटि-कोटि जन-पूजित हो गया। रावण ने अपने जीवन का उपयोग एव प्रयोग वासना की पूर्ति मे किया था, लोक के अमगल के लिए किया था, इसी आधार पर रावण का जीवन कोटि कोटि जन-गर्हित हो गया। इसी प्रकार चाहे कृष्ण का जीवन हो अथवा कस का जीवन हो, जहाँ तक जीवन, जीवन है, उसमे किसी प्रकार का विभेद नही होता। किन्तु कृष्ण ने अपने जीवन का प्रयोग जिस पद्धति से किया था, उससे वे पुरुषोत्तम हो गए और कस ने जिस पद्धति से अपने जीवन का प्रयोग किया, उससे वह निन्दित बन गया। मनुष्य जीवन की सफलता और सार्थकता, उसके जन्म पर नही, बल्कि इस बात पर है, कि किस मनुष्य ने अपने जीवन का प्रयोग कैसे किया है ?

सन्त तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' मे कहा है—'बडे भाग मानुस तन पावा।' बडे भाग्य से नर-तन मिलता है। जो नर-तन इतनी कठिनता से उपलब्ध होता है, वह कितना अधिक मूल्यवान है, इसका पता प्राचीन साहित्य के अध्ययन से भली भाँति लग सकता है। 'भागवत' मे व्यासजी ने कहा है कि—मानव-जीवन समस्त जीवनो मे श्रेष्ठ है। यही सृष्टि का गूढतम रहस्य है। मनुष्य जीवन से बढकर अन्य कोई जीवन नही हो सकता। वैदिक, जैन और बौद्ध-भारत की इन तीनो परम्पराओ में मानव-जीवन को सर्वश्रेष्ठ और सर्व ज्येष्ठ कहा गया है। एक कवि ने कहा है—

मानव जीवन की सफलता

इस संसार में जीवन-शक्ति की अभिव्यक्ति अनन्त अनन्त रूपों में होती है। पशु, पक्षी देव और मनुष्य तथा कीट-पतंग आदि के रूप में जीवन के अनन्त प्रकार इस अनन्त संसार में उपलब्ध होते हैं। जन्म जीवन और मरण इन तीन शब्दों में व्यक्ति की कहानी परिसमाप्त हो जाती है। जन्म और मरण के मध्य में जो कुछ है उसे ही हम जीवन की संज्ञा प्रदान करते हैं। जीवन की कहानी बहुत ही पुरानी है। इतनी पुरानी जिसके आदि का पता नहीं लग रहा है। पता तो तब लगे जब कि उसकी आदि हो। अभिप्राय यह है कि जीवन की कहानी अनन्त-अनन्त काल से चल रही है। कभी स्वर्ग में कभी नरक में कभी मनुष्य में और कभी तिर्यञ्च में यह आत्मा जन्म और मरण करता रहा है। अनन्त-अनन्त पुण्योदय से आत्मा को मानव-तन उपलब्ध होता है। सृष्टि में जीवन तो अनन्त है, परन्तु उनमें सर्वश्रेष्ठ जीवन मानव जीवन ही है, क्योंकि इस जीवन में ही व्यक्ति आध्यात्मिक साधना कर सकता है। इसी आधार पर भारत के धर्म दर्शन और संस्कृति में मानव-जीवन को दुर्लभ कहा है। भगवान महावीर ने कहा है—'माणुस्सं खु सुदुल्लहं'। इस अनन्त संसार में और उसके जीवन के अनन्त प्रकारों में मानव-जीवन ही सबसे अधिक दुर्लभ है। आचार्य शंकर भी अपने विवेक चूडामणि ग्रन्थ में मानव जीवन को दुर्लभ कहते हैं। भारतीय संस्कृति में मानव जीवन को जो दुर्लभ

कहा है, उसका एक विशेष अभिप्राय है। वह अभिप्राय क्या है ? इसके उत्तर मे कहा गया है, कि मनुष्य-जीवन एक इस प्रकार का जीवन है, कि जिसमे भयकर से भयकर पतन भी सम्भव है और अधिक से अधिक पवित्र एव उज्ज्वल उत्थान भी सम्भव है । मनुष्य-जीवन की उपयोगिता तभी है, जब कि उसे प्राप्त करके उसका सदुपयोग किया जाए और अधिकाधिक अपनी आत्मा का हित साधा जाए, अन्यथा मनुष्य-जीवन प्राप्त करने का अधिक लाभ न होगा। मनुष्य तो राम भी थे और मनुष्य रावण भी था, किन्तु फिर भी दोनो के जीवन मे बहुत बडा अन्तर था। पुण्य के उदय से मनुष्य-जीवन राम ने भी प्राप्त किया था और पुण्य के उदय से मनुष्य जीवन रावण ने भी प्राप्त किया था। यह नही कहा जा सकता, कि राम को जो मनुष्य जीवन मिला वह तो पुण्योदय से मिला और रावण को जो मनुष्य जीवन मिला था, वह पाप के उदय से मिला था, क्योकि शास्त्रकारो ने मनुष्य मात्र के जीवन को पुण्य का फल बतलाया है। इस दृष्टि से राम और रावण के मनुष्य जीवन मे स्वरूपत किसी प्रकार का भेद नही है, भेद है केवल उसके उपयोग का, उसके प्रयोग का। राम ने अपने मनुष्य जीवन को लोक-कल्याण मे एव जनहित मे व्यतीत किया था। इसी आधार पर राम का जीवन कोटि-कोटि जन-पूजित हो गया। रावण ने अपने जीवन का उपयोग एव प्रयोग वासना की पूर्ति मे किया था, लोक के अमगल के लिए किया था, इसी आधार पर रावण का जीवन कोटि कोटि जन-गर्हित हो गया। इसी प्रकार चाहे कृष्ण का जीवन हो अथवा कस का जीवन हो, जहाँ तक जीवन, जीवन है, उसमे किसी प्रकार का विभेद नही होता। किन्तु कृष्ण ने अपने जीवन का प्रयोग जिस पद्धति से किया था, उससे वे पुरुषोत्तम हो गए और कस ने जिस पद्धति से अपने जीवन का प्रयोग किया, उससे वह निन्दित बन गया। मनुष्य जीवन की सफलता और सार्थकता, उसके जन्म पर नही, बल्कि इस बात पर है, कि किस मनुष्य ने अपने जीवन का प्रयोग कैसे किया है ?

सन्त तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' में कहा है—'बडे भाग मानुस तन पावा।' बडे भाग्य से नर-तन मिलता है। जो नर-तन इतनी कठिनता से उपलब्ध होता है, वह कितना अधिक मूल्यवान है, इसका पता प्राचीन साहित्य के अध्ययन से भली भाँति लग सकता है। 'भागवत' मे व्यासजी ने कहा है कि—मानव-जीवन समस्त जीवनो मे श्रेष्ठ है। यही सृष्टि का गूढतम रहस्य है। मनुष्य जीवन से बढकर अन्य कोई जीवन नही हो सकता। वैदिक, जैन और बौद्ध-भारत की इन तीनो परम्पराओं मे मानव-जीवन को सर्वश्रेष्ठ और सर्व ज्येष्ठ कहा गया है। एक कवि ने कहा है—

'नर का शरीर पुण्य से पाया कभी-कभी ।
कंगाल के घर बादशाह आया कभी-कभी ।"

इस कवि ने अपने इस पद्य में यह कहा है कि मनुष्य का शरीर पुण्य से प्राप्त होता है, परन्तु सदा नहीं कभी-कभी प्राप्त होता है। यह बात नहीं है, कि हर घड़ी और हर वक्त यह मिलता हो। किसी कंगाल के घर पर बादशाह का आना सम्भव नहीं है फिर भी कदाचित् किसी कंगाल के घर पर बादशाह का आना हो जाए, पर यह सदा नहीं कभी-कभी ही हो सकता है। एक कंगाल व्यक्ति, एक दरिद्र व्यक्ति जो कल भी भूखा था आज भी भूखा है और आने वाले कल के लिए भी जिसके पास खाने को दाना नहीं है, जिसके घर में भूख ने डेरा जमा दिया है और जिसके जीवन में अभाव ने अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया है इस प्रकार के व्यक्ति की टूटी फूटी झोंपड़ी में कदाचित् राह भूला बादशाह कोई आ निकले तो यह उस दरिद्र का परम सौभाग्य होगा। कदाचित् बादशाह आ भी गया परन्तु वह कंगाल व्यक्ति बादशाह के आगमन से कोई लाभ न उठा सका तो उसके जीवन में एक पश्चात्ताप ही शेष रह जाता है। बादशाह का आना और उससे लाभान्वित न होना यह बड़े ही दुर्भाग्य की बात होती है। इसीलिए मैं कह रहा था कि मनुष्य जीवन का प्राप्त करना भी उतना ही कठिन है, जितना कि किसी कंगाल के घर पर बादशाह का आना। मानव जीवन दुर्लभ है, इसमें सन्देह नहीं है, किन्तु इससे भी अधिक दुर्लभ है, उसका सदुपयोग। मानव-जीवन का सदुपयोग यही है, कि जितना भी हो सके आध्यात्म-साधना करे परोपकार करे सेवा करे, और दान करे।

मैं आपसे मानव-जीवन की बात कह रहा था। जीवन क्या है? यह एक बड़ा ही गम्भीर प्रश्न है। जीवन की व्याख्या एक वाक्य में भी की जा सकती है और जीवन की व्याख्या हजार पृष्ठों में न आ सके इतनी विशाल भी है। वस्तुतः जीवन एक उन्मुक्त सरिता के समान है उसे शब्दों में बाँधना उचित न होगा। जीवन क्या है? जीवन एक दर्शन है। जीवन क्या है? जीवन एक कला है। जीवन क्या है? जीवन एक सिद्धि है। इस प्रकार जीवन की व्याख्या हजारों रूपों में की जा सकती है। सबसे बड़ा प्रश्न यह है, कि जिस जीवन की उपलब्धि हमें हो चुकी है, उसके उपयोग और प्रयोग की बात ही अब हमारे सामने शेष रह जाती है। शास्त्रकारों ने बताया है कि मानव-तन पाना ही पर्याप्त नहीं है। यदि मानव-तन में मानवता का अधिवास नहीं है, तो कुछ भी नहीं है। बहुत से मनुष्य दयाशील होते हैं और बहुत से मनुष्य क्रूर होते हैं।

कुछ मनुष्य साधन-सम्पन्न होते हैं और कुछ मनुष्य साधन-विपन्न होते हैं। कुछ मनुष्य विद्वान होते हैं और कुछ मनुष्य मूर्ख होते हैं। कुछ मनुष्य शक्ति-शाली होते हैं और कुछ मनुष्य शक्तिहीन होते हैं। कुछ मनुष्य उदार होते हैं और कुछ मनुष्य कृपण होते हैं। कुछ मनुष्य विवेकशील होते हैं और कुछ मनुष्य विवेक-विकल होते हैं। इस प्रकार मानव तन पाने वाले मानवो के जीवन की धारा कभी समान रूप से प्रवाहित नही होती है, कभी वह समरूप मे वहती है, तो कभी विपम रूप मे भी वहने लगती है। इस प्रकार मानव-जीवन की सरिता के नाना रूप और विविध परिवर्तन हमारी दृष्टि के सामने आज भी हैं और भूतकाल मे भी थे। मानव-जीवन अपने आप में एक महान रहस्य है।

'भगवती सूत्र' मे वर्णन आता है, कि एक राजकुमारी ने, जिस का नाम जयन्ती था, भगवान महावीर से जीवन सम्वन्धी अनेक प्रश्न पूछे थे। जयन्ती अत्यन्त वुद्धिमती और विवेकवती राजकुमारी थी। मालूम होता है, कि उसने धर्म-शास्त्र और दर्शन शास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया था। केवल अध्ययन ही नही किया था, वलिक जीवन के सम्वन्ध मे वहुत ही अधिक चिन्तन, मनन और अनुभव भी किया था। राजकुमारी जयन्ती ने भगवान महावीर से स्वर्ग और नरक की वात नही पूछी, उसने वात पूछी इस वर्तमान जीवन की। जयन्ती यह भलीभाँति सोचती थी कि जीवन के समझने पर सव कुछ समझा जा सकता है, अत उसने जीवन को समझने का ही प्रयत्न किया। इस जीवन का समझने का जितना गम्भीर प्रयत्न किया जाता है, हम उसे सार्थक करने तथा सफल वनाने मे उतने ही अधिक सफल हो सकते हैं। राजकुमारी जयन्ती आत्मा और परमात्मा के सम्वन्ध मे भी प्रश्न कर सकती थी, पुद्गल और परमाणु की भी चर्चा कर सकती थी, लोक और परलोक के विपय मे भी विचार कर सकती थी, किन्तु उसने यह सव कुछ न पूछकर केवल जीवन की वात पूछी। क्योकि जयन्ती इस तथ्य को भलीभाँति समझती थी, कि इस ससार मे जीवन ही सवसे अधिक ज्ञातव्य तत्व है। जीवन को जानने पर सव कुछ जाना जा सकता है और जीवन को न समझने पर कुछ भी नही समझा जा सकता। अत उसने जीवन के व्याख्याकार से जीवन के गूढ रहस्य को ही समझने का प्रयत्न किया। और जीवन भी कौन सा ? नारक जीवन और देव-जीवन की बात उसने नही की, उसने केवल मानव जीवन की ही बात की। राजकुमारी जयन्ती ने, भगवान महावीर की धर्म सभा मे, विनम्र भाव से, जो मानव जीवन सम्बन्धी प्रश्न पूछे थे, उनमें से कुछ प्रश्न और उनके उत्तर आज भी 'भगवती सूत्र' में उपलब्ध होते हैं। मैं आपसे कह रहा था,

कि राजकुमारी जयन्ती के प्रश्न और भगवान् महावीर के उत्तर मानव जीवन पर एक विमल प्रकाश डालते हैं।

राजकुमारी जयन्ती भगवान महावीर से प्रश्न करती है— "भंते! मनुष्य का बलवान् होना अच्छा है अथवा निर्बल होना अच्छा है?" यह प्रश्न भले ही सामान्य प्रतीत हो परन्तु बहुत ही गम्भीर एवं निगूढ़ है। बलवान् अथवा निर्बल होने में क्या भेद है और क्या रहस्य है? संसार में बल अनेक प्रकार के माने गए हैं— तन-बल मन-बल आत्म-बल धन-बल जन-बल और प्रज्ञा बल। बल और शक्ति के अन्य भी हजारों रूप हो सकते हैं। प्रश्न यह है, कि जीवित रहना तो मनुष्य का धर्म है किन्तु वह बलवान् होकर जीवित रहे अथवा बलहीन होकर जीवित रहे। आप कह सकते हैं कि बलवान् होकर जीवित रहना ही अधिक अच्छा है। यह आपका अपना उत्तर हो सकता है *किन्तु भगवान महावीर ने कौशाम्बी के समवसरण में राजकुमारी जयन्ती को* इस प्रश्न का जो उत्तर दिया था वह एकान्तवादी न होकर अनेकान्तवादी था। भगवान् महावीर की वाणी अनेकान्तमयी है। भगवान् जब कभी भी जिस किसी के भी प्रश्न का उत्तर देते हैं, तब स्याद्वाद और अनेकान्तवाद के आधार पर ही देते हैं। किसी भी सत्य का निर्णय एकान्तवाद के आधार पर नहीं किया जा सकता। जैनदर्शन में स्याद्वाद और अनेकान्तवाद को सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त माना गया है। जैनदर्शन का आदि मध्य और अन्तिम विकास *अनेकान्तवाद के रूप में ही हुआ है। अनेकान्तवाद जैनदर्शन का मूल केन्द्र* है। अनेकान्तवाद जैन दर्शन का हृदय है। अनेकान्त दृष्टि और तन्मूलक अहिंसात्मक आचार, समग्र जैन दर्शन इन्हीं दो आधारभूत स्तम्भों पर खड़ा है। अतः प्रत्येक प्रश्न का उत्तर यदि अनेकान्त दृष्टि से दिया जाता है, तो उसे सम्यक् समाधान कहा जाता है। यह प्रश्न जयन्ती ने कहाँ पूछा था? इस सम्बन्ध में मैं अभी आपको बता चुका हूँ, कि कौशाम्बी के समवसरण में भगवान से यह प्रश्न पूछा गया था।

कौशाम्बी नगरी का इतिहास अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण है। वैदिक जैन और बौद्ध परम्पराओं का कभी किसी युग में यह एक मुख्य केन्द्र माना जाता था। जैन आगमों में स्थान-स्थान पर कौशाम्बी नगरी का वर्णन आता है। कौशाम्बी नगरी में अनेक बार भगवान महावीर का समवसरण लगा था। *वहाँ की श्रद्धालु जनता ने भगवान की अमृतमयी वाणी का अमृत* पान किया था। कौशाम्बी नगरी का जो कुछ उल्लेख प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होता है, उससे उसकी महानता का बोध होता है। मैं स्वयं भी पूर्वकाल की यात्रा से लौटते हुए कौशाम्बी गया था। वहाँ पर जो अनुसन्धान

हो रहा है, उससे भविष्य मे प्राचीन जैन इतिहास पर भी पर्याप्त प्रकाश पडने की सम्भावना है। आज कौशाम्बी एक खण्डहर के रूप मे है, कभी यह एक वैभवशालिनी नगरी थी। परन्तु यह सब कुछ काल का परिवर्तन है। जिसका यहाँ पर विशेष प्रसग नही है। यहाँ पर प्रसग इतना ही है, कि कौशाम्बी नगरी की प्रवचन-सभा मे भगवान महावीर ने राजकुमारी जयन्ती के प्रश्नो का उत्तर दिया था। भगवान महावीर ने कहा—"जयन्ती! बलवान् होना भी अच्छा है और निर्बल होना भी अच्छा है।" अभिप्राय क्या हुआ? यह प्रश्न और उसका यह उत्तर दो कोटियो का स्पर्श कर गया है। सामान्यत इसका अर्थ यह हुआ कि बलवान होना भी ठीक है और निर्बल होना भी ठीक है। राजकुमारी ने विनम्र भाव से कहा—"भते! दोनो मे से एक उत्तर मिलना चाहिए कि बलवान होना अच्छा है, या निर्बल होना अच्छा है। दोनो बातें कैसे घटित हो सकती हैं, कि बलवान होना भी अच्छा हो और निर्बल होना भी अच्छा हो।" भगवान ने कहा—"राजकुमारी! बात यह है, कि यह प्रश्न जीवन का प्रश्न है और किस व्यक्ति का जीवन किस समय क्या करवट लेता है, वह उसके जीवन का अव्यक्त रहस्य है। शक्ति और बल अपने आपमे न अच्छे हैं और न बुरे हैं, किन्तु व्यक्ति की भावना और परिस्थिति ही उन्हे अच्छा बुरा बनाती है। शक्ति तो शक्ति है, बल तो बल है, उसे अच्छे काम मे भी लगाया जा सकता है और बुरे काम मे भी लगाया जा सकता है। शक्ति का एक उपयोग यह है, कि किसी अनाथ की रक्षा की जाए और शक्ति का दूसरा उपयोग यह भी है, कि किसी असहाय को घात लगाकर लूट भी लिया जाए। दूसरे के रक्षण मे भी शक्ति का प्रयोग हो सकता है और दूसरे को लूटने मे भी शक्ति का प्रयोग हो सकता है। दयाशील व्यक्ति की शक्ति स्व और पर के सरक्षण मे काम आती है और क्रूर व्यक्ति की शक्ति दूसरे के उत्पीडन मे काम आती है। दयावान व्यक्ति मे और क्रूर व्यक्ति मे शक्ति, शक्ति रूप मे है, बल, बल रूप मे है, किन्तु उसके प्रयोग की विधि और उद्देश्य मे महान् अन्तर है। शक्ति से आँसू पोछे भी जा सकते है और शक्ति से आँसू बहाए भी जा सकते हैं। बल से परिवार, समाज और राष्ट्र का रक्षण भी हो सकता है, तथा बल से व्यक्ति, परिवार और राष्ट्र का विनाश भी हो सकता है। देखा यह जाता है, कि कौन व्यक्ति किस भूमिका का है और कौन व्यक्ति किस विचारधारा का है। सयमी और दयावान व्यक्ति यदि बलवान् होता है, तो उससे व्यक्ति और समाज को लाभ ही होता है। इसके विपरीत यदि व्यक्ति असयमी और क्रूर है, तो उसके बल एव शक्ति से व्यक्ति और समाज को क्षति एव हानि ही पहुँचती है। अत धर्मशील व्यक्ति का बलवान्

होना अच्छा है तथा अधर्म शील व्यक्ति का निर्बल होना अच्छा है। धर्म शील व्यक्ति यदि अधिक बलवान् होगा तो धर्म अधिक करेगा अधर्म शील व्यक्ति यदि निर्बल और कमजोर रहेगा तो अधर्म एवं पाप कम कर सकेगा। शक्ति असुरों के पास भी रहती है और शक्ति देवों के पास भी रहती है। असुरों की शक्ति दूसरों के नाश के लिए होती है और देवों की शक्ति दूसरों के परित्राण के लिए होती है। कहने का अभिप्राय यह है, कि जो साधक है जिसने जीवन को परखा है जो अपने जीवन के साथ-साथ दूसरे के जीवन को भी परख सकता है जिसकी दृष्टि में अपने जीवन के साथ दूसरों के जीवन का भी महत्व है, जिसने दूसरों के जीवन के महत्व को समझा है वस्तुतः वही व्यक्ति *धर्म शील एवं धार्मिक होता है। जैन दर्शन की परिभाषा के अनुसार* वही व्यक्ति धर्म शील कहा जा सकता है, जो स्वयं भी जीवित रहे और दूसरों को भी जीवित रहने का अवसर प्रदान करे। जो स्वयं भी शान्त रहे और दूसरे को भी शान्त रखे।

मैं आपसे कह रहा था कि भगवान महावीर ने अपनी अनेकान्तमयी दृष्टि से राजकुमारी जयन्ती के प्रश्न का जो उत्तर दिया था वह सत्यभूत था और यथार्थ था। धार्मिक व्यक्ति का बलवान् होना इसलिए अच्छा है क्योंकि जब कभी वह अपनी शक्ति का प्रयोग करता है, अथवा अपने बल का प्रयोग करता है, तो विवेक से करता है ठीक रूप में करता है। वह अपनी आत्मा का भी उद्धार करता है और दूसरे की आत्मा का भी उद्धार करता है। वह अपना भी कल्याण करता है और दूसरे का भी कल्याण करता है। वह जिधर भी निकल जाता है उधर ही सुख शान्ति और आनन्द की वर्षा करता है। उसके पास जीवन का अन्धकार नहीं रहता क्योंकि वह जीवन के प्रकाश में रहता है और इसलिए दूसरों को भी जीवन का प्रकाश बाँटता है। धर्मशील व्यक्ति न स्वर्ग की अभिलाषा रखता है और न नरक का भयंकर भय ही उसे उसके पथ से विचलित कर सकता है। स्वर्ग का प्रलोभन और नरक का भय उसके जीवन को मोड़ नहीं दे सकता। इस अपेक्षा से मैं आपसे यह कह रहा था कि धार्मिक होना अथवा धर्मशील बनना उतना आसान नहीं है, जितना समझ लिया गया है। छापा और तिलक लगाने से अथवा किसी वेष-विशेष को धारण करने मात्र से व्यक्ति धार्मिक नहीं बन जाता है। धार्मिक बनने के लिए सबसे बड़ी शर्त एक ही है, नीति और सदाचार में विश्वास रखना। केवल विश्वास रखना ही पर्याप्त नहीं होता बल्कि उस विश्वास के अनुसार अपने जीवन को नीतिमय एवं सदाचारमय बनाना भी परम आवश्यक है। जो व्यक्ति नीतिमान है सदाचारवान् है, उसका बलवान होना बुरा नहीं बल्कि अच्छा है। इस

प्रकार के व्यक्ति के जीवन से घर मे भी शान्ति रहती है और बाहर मे भी शान्ति रहती है। जो स्वय शान्त है, वही दूसरे को शान्ति दे सकता है, जो स्वय सुखी है वही दूसरे को सुखी बना सकता है। जिसके स्वय के पास प्रकाश नही है, वह दूसरे के जीवन के अन्धकार को कैसे दूर कर सकता है ? धर्मशील व्यक्ति के पास अपने स्वय के जीवन का प्रकाश होता है, इसलिए वह दूसरो के जीवन के अन्धकार को दूर करने का निरन्तर प्रयत्न करता रहता है। धार्मिक व्यक्ति का जीवन समाज और राष्ट्र के लिए अभिशाप नही, एक सुन्दर वरदान होता है। इसी आधार पर यह कहा गया है, कि धार्मिक का बलवान होना अच्छा है।

धार्मिक और अधर्मशील व्यक्ति के जीवन का क्रम इससे भिन्न होता है। जिसके जीवन मे मिथ्याचार, पापाचार और दुराचार की कारी-कजरारी मेघ-घटाएँ छायी रहती हैं, उस व्यक्ति का जीवन शान्त और सुखी नही रह सकता। जिसे आत्म परिबोध नही होता अथवा जिसे आत्मविवेक नही होता, जिसको यह भी भान नही है, कि मैं कौन हूँ और मेरी कितनी शक्ति है, वह व्यक्ति दूसरे का विकास तो क्या करेगा, स्वय अपना भी विकास नही कर सकता। अन्धे के सामने कितना भी सुन्दर दर्पण रख दिया जाए, किन्तु जिसमे स्वय देखने की शक्ति नही है, तो उसको दर्पण अपने मे प्रतिबिम्बित उसके प्रतिबिम्ब को कैसे दिखला सकता है ? यही स्थिति उस व्यक्ति की होती है, जिसे स्वय अपनी आत्मा का बोध नही है, वह व्यक्ति दूसरे को आत्मबोध कैसे करा सकता है, हजार प्रयत्न करने पर भी नही करा सकता।

जो व्यक्ति वासना-आसक्त है, वह अपने स्वरूप को समझ नही सकता। उसे आत्मबोध एव आत्मविवेक होना कठिन होता है। मैं कौन हूँ ? इस प्रश्न का उत्तर यदि इस रूप मे आता है, कि मैं शरीर हूँ, मैं इन्द्रिय हूँ और मैं मन हूँ, तो समझना चाहिए कि उसे आत्मबोध हुआ नही हैं। जिस व्यक्ति को आत्मा का यथार्थ बोध हो जाता है, वह तो यह समझता है, कि मैं जड से भिन्न चेतन हूँ। यह शरीर पचभूतात्मक है, इन्द्रियाँ पौद्गलिक हैं, मन भौतिक है। इस प्रकार आत्मा को जो इन सबसे भिन्न मानकर चलता है और आत्मा के दिव्य स्वरूप मे जिसका अटल विश्वास है, भगवान की भाषा मे वही आत्मा बलवान् है। जिस व्यक्ति को आत्मा और परमात्मा मे विश्वास होता है, वह सदा बलवान् ही रहता है। उसके दुर्बल होने का कभी प्रश्न ही नही उठता। एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है—"Trust in God and mind your bussiness" अपने हृदय मे सदा परमात्मा का स्मरण रखो और अपने कर्त्तव्य का सदा ध्यान रखो। जो व्यक्ति प्रभु का स्मरण करता है और अपने कर्त्तव्य

को याद रखता है, वह कभी निर्बल नहीं हो सकता। निर्बल वही है जिसे आत्मा में विश्वास न होकर भौतिक साधनों में विश्वास होता है। मैं आपसे कह चुका हूँ कि बल एवं शक्ति के अनन्त रूप हैं। उनमें दो रूप ये भी हैं—शस्त्र बल और शास्त्र-बल। संसार में शस्त्र-बल भयंकर है, किन्तु उससे भी अधिक भयंकर है, शास्त्र-बल। जिस व्यक्ति के हृदय में दया और करुणा नहीं है, वह अपने शास्त्र बल से अन्याय और अत्याचार ही करता है। जिस व्यक्ति के हृदय म बुद्धि और विवेक नहीं है वह सुन्दर से सुन्दर शास्त्र का भी दुरुपयोग कर सकता है। जो व्यक्ति दुराचार और पापाचार में संलग्न है उसका शास्त्र-बल भी शस्त्र-बल से अधिक भयंकर है। यदि हम भारतीय दर्शन के ग्रन्थ उठाकर देखें तो मालूम होगा कि शास्त्रों की लड़ाई शस्त्रों की लड़ाई से कम भयंकर नहीं रही है। शस्त्र की लड़ाई तो एक बार समाप्त हो भी जाती है लेकिन शास्त्रों की लड़ाई तो हजारों-लाखों वर्षों तक चलती है। शास्त्रों की लड़ाई एक दो पीढ़ी तक नहीं हजारों-लाखों पीढ़ियों तक चलती रहती है। शस्त्र की लड़ाई समाप्त हो सकती है किन्तु शास्त्र की लड़ाई जल्दी समाप्त नहीं होती। अधर्मशील व्यक्ति शस्त्र के समान शास्त्र का भी दुरुपयोग करता है। मैं आपसे कह रहा था कि विवेक-विकल आत्मा के लिए सभी प्रकार के बल अभिशाप रूप होते हैं। चाहे वह बल और शक्ति शास्त्र की हो शस्त्र की हो ज्ञान की हो विज्ञान की हो। उस शक्ति से विवेक विकल आत्मा को लाभ न होकर, हानि ही होती है। उसका स्वयं का भी पतन ही होता है और दूसरों को भी पतन की ओर ले जाता है, जिससे उसे शान्ति नहीं मिल पाती।

मैं आपसे कह रहा था कि भगवान महावीर ने राजकुमारी जयन्ती के प्रश्न का जो उत्तर दिया वह सर्वथा यथार्थ ही था। अनेकान्त दृष्टि से भगवान का यह बहुत ही सुन्दर समाधान है कि बलवान् होना भी अच्छा है और निर्बल होना भी अच्छा है। अभिप्राय यह है कि विवेकशील का बलवान् होना अच्छा है और विवेक-विकल का निर्बल होना अच्छा है। विवेकशील आत्मा के पास किसी भी प्रकार का बल क्यों न हो वह उसका प्रयोग आत्म कल्याण एवं जन कल्याण के लिए ही करता है। इसके विपरीत विवेक-विकल आत्मा का हर प्रकार का बल आत्मविनाश और परविनाश के लिए ही होता है। आपको यह मालूम करना चाहिए कि शास्त्र और शस्त्र किसके पास है? शास्त्र और शस्त्र के रहते यदि सुन्दर बुद्धि का योग नहीं है तो वह आत्मा इन दोनों का दुरुपयोग ही करता है। संसार में हम देखते हैं कि शक्ति का भी

दुरुपयोग होता है, ज्ञान का भी दुरुपयोग होता है और धन का भी दुरुपयोग होता है। इस सम्बन्ध मे एक आचार्य ने कहा है—

"विद्या विवादाय धन मदाय,
शक्ति परेषा परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतत्,
ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय।"

नीतिकार आचार्य का कहना है, कि जिस व्यक्ति की विद्या विवाद के लिए होती है, जिस व्यक्ति का धन अहकार के लिए होता है और जिस व्यक्ति का बल दूसरो को पीडा देने के लिए होता है, वह व्यक्ति खल एव दुष्ट होता है। जिस व्यक्ति की विद्या विवेक के लिए होती है, जिस व्यक्ति का धन दान के लिए होता है तथा जिस व्यक्ति का बल दूसरो के सरक्षण के लिए होता है, वह व्यक्ति साधु एव सज्जन होता है। इस आचार्य ने अपने इस एक ही श्लोक मे मानव-जीवन का सम्पूर्ण मर्म खोलकर रख दिया है। आचार्य ने मानव-जीवन के रहस्य को इस एक ही पद्य मे समाहित कर दिया है, जिसे पढकर और जानकर प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन का निरीक्षण एव परीक्षण भलीभाँति कर सकता है और जीवन के रहस्य को समझ सकता है।

आचार्य ने बताया है, कि इस जगत मे दो प्रकार के मनुष्य हैं—सज्जन और दुर्जन। यद्यपि जन दोनो हैं, किन्तु एक सत् जन है और दूसरा दुर्जन है। सत् और दुर् उनके स्वभाव की अभिव्यक्ति करते हैं। आचार्य ने उक्त श्लोक मे इन दोनो व्यक्तियो के शील एव स्वभाव का बडा सुन्दर विश्लेषण किया है। सज्जन वह होता है, जिसमे न्याय हो, नीति हो और सदाचार हो। दुर्जन वह होता है, जिसमे दुराचार हो, पापाचार हो और पाखण्ड हो। इन दो प्रकार के व्यक्तियो को भारत के प्राचीन साहित्य मे देव और असुर भी कहा गया है। असुर वह होता है, जिसमे आसुरी वृत्ति होती है और देव वह होता है, जिसमे दैवी वृत्ति होती है। गीता मे इसी को आसुरी सम्पदा और दैवी सम्पदा कहा गया है। मैं आपसे यहाँ पर स्वर्ग मे रहने वाले देवो की बात नही कर रहा हूँ, मैं आपसे उन असुरो की बात नहीं कर रहा हूँ जो असुर-लोक मे रहते हैं, बल्कि मैं आपसे उन असुरो तथा देवो की बात कर रहा हूँ, जो हमारी इसी दुनिया मे रहते हैं। मानव जीवन मे बहुत से मानव देव हैं और बहुत से मनुष्य असुर हैं, राक्षस हैं। राम और रावण की बात एव राम और रावण की कहानी, भले ही आज इतिहास की वस्तु बन गई हो, लेकिन आज भी इस वर्तमान जीवन मे एक दो नही, हजारो-लाखो

मनुष्य राम और रावण के रूप में अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। कहा गया है, कि जो व्यक्ति दुर्जन है, आत्म ज्ञान का जिसमें पता नहीं पाया है जिसने महान् जीवन की श्रेष्ठता को नहीं पहचाना है और जिसने यही समझा है, कि भोग-विलास के लिए ही यह जीवन है वह व्यक्ति अपने जीवन में किसी भी प्रकार का विकास नहीं कर सकता। दुर्जन व्यक्ति जिसे केवल अपने वर्तमान जीवन पर ही विश्वास है, अपने अनन्त अतीत और अनन्त अनागत पर जो विश्वास नहीं कर पाता वह समझता है, कि जो कुछ है सो यहीं पर है। वह यह नहीं समझ पाता कि यह वर्तमान जीवन तो जल-बुदबुद के समान है जो अभी बना और अभी मिट गया। इसी प्रकार के लोगों को अपने लक्ष्य में रखकर एक कवि ने कहा है—

> "ना कोई देखा आवता ना कोई देखा जात।
> स्वर्ग नरक और मोक्ष को गोल मोल है बात॥

इस पद्य में उन नास्तिक दृष्टि के लोगों के मत का विश्लेषण किया है, जो अपने क्षणिक वर्तमान जीवन को ही सब कुछ मान बैठे हैं तथा जो रात और दिन शरीर के पोषण में ही संलग्न रहते हैं। जिन्हें यह भान भी नहीं हो पाता कि शरीर से भिन्न एक दिव्य शक्ति आत्मा भी है। भोगवादी व्यक्ति भोग को ही सब कुछ समझता है त्याग और वैराग्य में उसका विश्वास जम नहीं पाता। जिस व्यक्ति का दिव्य आत्मा में विश्वास नहीं होता और जो इस नश्वर तन की आवश्यकता को ही सब कुछ समझता है उस व्यक्ति का ज्ञान भी विवाद के लिए होता है धन अहंकार के लिए होता है और शक्ति दूसरों के पीड़न के लिए होती है। दुर्जन व्यक्ति यदि कहीं पर अपने प्रयत्न से विद्या प्राप्त कर भी लेता है तो वह उसका उपयोग जीवन के अन्धकार को दूर करने के लिए नहीं करता बल्कि शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करके अपने पाण्डित्य की छाप दूसरों के मन पर अंकित करने के लिए करता है। इस प्रकार का व्यक्ति शास्त्रज्ञान प्राप्त कर ले विद्या प्राप्त कर ले किन्तु अपने मन की गाँठ को वह खोल नहीं सकता और जो विद्या मन की गांठ को नहीं खोल सके वस्तुतः उसे विद्या कहना ही नहीं चाहिए। जो विद्या न अपने मन की गांठ को खोल सके और न दूसरे के मन की गांठ को खोल सके उस विद्या को भारतीय दर्शन में केवल मस्तिष्क का बोझ कहा गया है। बात यह है कि कुछ डण्डा से लड़ते हैं और कुछ लोग पोथी-पन्नों से लड़ते हैं। मेरे विचार से दोनों जगह अज्ञान का साम्राज्य है। विद्या ही नहीं दुर्जन व्यक्ति का धन भी उसके अहंकार की अभिवृद्धि करता है। यदि दुर्जन व्यक्ति के पास दुर्भाग्य से धन हो जाए तो

वह समझता है कि इस ससार मे सब कुछ मैं ही हूँ। मुझसे बढकर इस ससार मे अन्य कौन हो सकता है। धन से अहकारी बना हुआ मनुष्य जब किसी बाजार या गली मे से निकलता है, तब वह समझता है, कि यह रास्ता सकरा है और मेरी छाती चौड़ी है, मैं इसमे से कैसे निकल सकूँगा। बात यह है कि धन का मद और धन का नशा दुनिया मे सबसे भयकर है। हिन्दी के नीति-कार कवि बिहारीलाल ने कहा है कि जो व्यक्ति धन को पाकर अहकार करते हैं, वे व्यक्ति उस व्यक्ति से बढकर हैं, जो धतूरे को पीकर पागल हो जाता है—

"कनक कनक तें सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वो खाए बौरात है, यह पाए बौराय॥"

कवि ने इस दोहे मे 'कनक' शब्द का प्रयोग करके कमाल कर दिया है। सस्कृत भाषा मे कनक शब्द के दो अर्थ होते हैं—सोना और धतूरा। कनक शब्द का प्रयोग सोना के लिए भी किया जाता है और धतूरा के लिए भी किया जाता है। स्वर्ण को भी कनक कहते हैं और धतूरे को भी कनक कहते हैं। यहाँ पर कवि का अभिप्राय यह है, कि नशा देने वाले धतूरे से भी बढ कर सौगुनी मादकता स्वर्ण मे अर्थात् धन मे है। नशा दोनो मे है, धतूरे मे भी नशा है और सोने मे भी नशा है। सोने से मतलब धन एव सम्पत्ति से है। सोना है जड वस्तु, किन्तु उसमे अत्यधिक मादकता होती है। धतूरा कितना ही इकट्ठा कर ले, उससे कोई नशा नही चढता है। उसको हाथ मे लिए रहें, कोई नशा नही चढ़ सकता। लेकिन उसे खाएँगे, तभी नशा चढेगा। लेकिन सोने के सम्बन्ध मे कहा गया है, कि इसका स्वभाव तो यह है, कि उसके हाथ मे आते ही मनुष्य को नशा चढ जाता है। मनुष्य पागल और बेभान हो जाता है। धतूरे को खाने पर नशा चढता है, पर सोने को देखने मात्र से नशा चढ जाता है। धन की आसक्ति एक ऐसी आसक्ति है, जिसके समक्ष धतूरे का नशा भी नगण्य है। मैं आपसे कह रहा था, कि दुर्जन व्यक्ति की विद्या विवाद के लिए होती है, धन अहकार के लिए होता है और शक्ति दूसरो को पीडा देने के लिए होती है। दुर्जन व्यक्ति की शक्ति फिर वह भले ही किसी भी प्रकार की क्यो न हो, किन्तु वह अपने और दूसरे के विनाश के लिए ही होती हैं। दुर्जन की दुर्जनता है, कि वह इन साधनो को प्राप्त करके अपने आपको पतन के गहन गर्त मे गिरा लेता है, वह उत्थान के मार्ग पर नही चल पाता।

मैं आपसे कह रहा था, कि नीतिकार आचार्य ने अपने एक श्लोक मे ससार के समग्र मानवो के शील और स्वभाव का वर्णन कर दिया है और इन्हे दो भागो मे विभक्त कर दिया है। दुर्जन की बात मैंने आपसे कही, किन्तु

मनुष्य राग और रावण के रुप में अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। कहा गया है, कि जो व्यक्ति दुर्जन है, आत्म ज्ञान का जिसने पता नहीं पाया है, जिसने महान् जीवन की श्रेष्ठता को नहीं पहचाना है और जिसने यही समझा है, कि भोग-विलास के लिए ही यह जीवन है वह व्यक्ति अपने जीवन में किसी भी प्रकार का विकास नहीं कर सकता। दुर्जन व्यक्ति जिसे केवल अपने वर्तमान जीवन पर ही विश्वास है, अपने अनन्त अतीत और अनन्त अनागत पर जो विश्वास नहीं कर पाता वह समझता है कि जो कुछ है सो यहीं पर है। वह यह नहीं समझ पाता कि यह वर्तमान जीवन तो जल-बुदबुद के समान है, जो अभी बना और अभी मिट गया। इसी प्रकार के लोगों को अपने लक्ष्य में रखकर एक कवि ने कहा है—

> "ना कोई देखा आवता ना कोई देखा जात।
> स्वर्ग नरक और मोक्ष को गोल मोल है बात॥

इस पद्य में उन नास्तिक वृत्ति के लोगों के मन का विश्लेषण किया है, जो अपने क्षणिक वर्तमान जीवन को ही सब कुछ मान बैठे हैं तथा जो रात और दिन शरीर के पोषण में ही संलग्न रहते हैं। जिन्हें यह भान भी नहीं हो पाता कि शरीर से भिन्न एक दिव्य शक्ति आत्मा भी है। भोगवादी व्यक्ति भोग को ही सब कुछ समझता है, त्याग और वैराग्य में उसका विश्वास जम नहीं पाता। जिस व्यक्ति का दिव्य आत्मा में विश्वास नहीं होता और जो इस नश्वर तन की आवश्यकता को ही सब कुछ समझता है उस व्यक्ति का ज्ञान भी विवाद के लिए होता है धन अहंकार के लिए होता है और शक्ति दूसरों के पीड़न के लिए होती है। दुर्जन व्यक्ति यदि कहीं पर अपने प्रयत्न से विद्या प्राप्त कर भी लेता है तो वह उसका उपयोग जीवन के अन्धकार को दूर करने के लिए नहीं करता बल्कि शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करके अपने पाण्डित्य की छाप दूसरों के मन पर अंकित करने के लिए करता है। इस प्रकार का व्यक्ति शास्त्रज्ञान प्राप्त कर ले विद्या प्राप्त कर ले किन्तु अपने मन की गाँठ को वह खोल नहीं सकता और जो विद्या मन की गांठ को नहीं खोल सके वस्तुतः उसे विद्या कहना ही नहीं चाहिए। जो विद्या न अपने मन की गांठ को खोल सके और न दूसरे के मन की गांठ को खोल सके उस विद्या को भारतीय दर्शन में केवल मस्तिष्क का बोझ कहा गया है। बात यह है कि कुछ शब्दों से लड़ते हैं और कुछ लोग पोथी-पन्नों से लड़ते हैं। मेरे विचार में दोनों जगह अज्ञान का साम्राज्य है। विद्या ही नहीं दुर्जन व्यक्ति का धन भी उनके अहंकार की अभिवृद्धि करता है। यदि दुर्जन व्यक्ति के पास दुर्भाग्य से धन हो जाए, तो

प्राप्त करना है। एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है—"What we gave, we have, what we spent, we had, what we left we lost जो कुछ हमने दिया है, वह हमने पा लिया जो कुछ हम खर्च कर चुके है उसे भी हमने कुछ पा लिया था, किन्तु जो कुछ हम यहा छोडकर जाते है, उसे हम खो देते हैं। कहने का अभिप्राय यह है, कि जो कुछ हमने दिया वह हमने पा लिया, और जो कुछ हम दे रहे हैं, उसे हम अवश्य ही प्राप्त करेंगे, किन्तु जिस सम्पत्ति का न हमने अपने लिए उचित उपयोग किया और न हम उसको दान ही कर पाए, वल्कि मरने के बाद यही छोड गए तो वह हमारी अपनी नही है, वह हमारे हाथो से नष्ट हो चुकी है।

मैं आपसे कह रहा था, कि सज्जन व्यक्ति की विद्या और सज्जन व्यक्ति का धन जिस प्रकार परोपकार के लिए होते हैं, उसी प्रकार उसकी शक्ति भी दूसरो के उपकार के लिए होती है। दूसरो को पीडा देने के लिए उसकी तलवार कभी म्यान से वाहर नही निकलती। जिनका मानस दया और करुणा से आप्लावित है, भला उसकी तलवार की नोक दूसरे के कलेजे को कैसे चीर सकती है। किन्तु समय पडने पर वह दीन, असहाय और अनाथ जनो के अधिकारो की रक्षा के लिए अपने प्राणो की वाजी खेल सकता है। सज्जन पुरुष अपनी शक्ति का प्रयोग अनाथ जना के अधिकार के सरक्षण के लिए ही करता है। वह कभी भी अपनी शक्ति का प्रयोग अपनी वासनाओ के पोषण के लिए अथवा अपने स्वार्थ के पोषण के लिए नही करता। सज्जन पुरुष इस सृष्टि का एक दिव्य पुरुष होता है।

मैं आपसे यह कह रहा था, कि मानव-जीवन वडा दुर्लभ है। उसे प्राप्त करना आसान काम नही है, किन्तु याद रखिए मानव जीवन प्राप्त करना ही सब कुछ नही है, उसकी सफलता तभी है, जब कि मानवोचित सद्गुण भी जीवन मे विद्यमान हो। प्रश्न था, कि वलवान् होना अच्छा है अथवा निर्वल होना अच्छा है ? वात यह है, कि सज्जन व्यक्ति का वलवान् होना अच्छा है और दुर्जन व्यक्ति का निर्वल रहना अच्छा है। सज्जन व्यक्ति यदि वलवान् होगा, शक्ति-सम्पन्न होगा, तो वह अपने जीवन का भी उत्थान कर सकेगा और दूसरे मनुष्यो के जीवन का उत्थान भी कर सकेगा। दुर्जन व्यक्ति की शक्ति दूसरो के त्रास के लिए होती है, दूसरो के परित्राण के लिए नही। धार्मिक व्यक्ति जितना अधिक वलवान् होगा, वह धर्म की साधना उतनी ही अधिक पवित्रता के साथ करेगा। क्रूर एव दुर्जन व्यक्ति जितना अधिक निर्वल रहेगा, वह उतना ही अधिक कम अन्याय और अत्याचार कर सकेगा। इस

सज्जन व्यक्ति का स्वरूप उससे सर्वथा भिन्न होता है। सज्जन पुरुष अथवा साधु पुरुष उसे कहा जाता है जो अपने समान ही दूसरों को भी समझता है। वह धर्मशील होता है, पापाचार में उसकी रुचि नहीं रहती। जब पापाचार और मिथ्याचार में उसकी रुचि नहीं है, तब पापाचार और मिथ्याचार का अन्धकार उसके जीवन के क्षितिज पर कैसे रह सकता है? साधु-पुरुष इतना कोमल और इतना मृदु मानस होता है कि वह अपना कष्ट एवं दुःख तो सहन कर सकता है, किन्तु दूसरे का कष्ट और दुःख वह सहन नहीं कर पाता। *यही सज्जन पुरुष की सज्जनता है। आचार्य ने सज्जन* पुरुष का लक्षण बताते हुए कहा है, कि सज्जन पुरुष की विद्या ज्ञान और विवेक के लिए होती है विवाद के लिए नहीं। सज्जन पुरुष का धन दान के लिए होता है, भोग विलास के लिए नहीं। सज्जन व्यक्ति की शक्ति अथवा बल दूसरों के संरक्षण के लिए होता है दूसरों के वध के लिए नहीं। सज्जन पुरुष की विद्या स्वयं उसके जीवन के अन्धकार को तो दूर करती है, किन्तु उसके आस पास मे रहने वाले दूसरे व्यक्तियों के जीवन के अन्धकार को भी दूर कर देती है। *विद्या एवं दान का एक ही उद्देश्य है—स्व और पर के जीवन के अन्धकार को* दूर करना। यदि विद्या जीवन के अन्धकार को दूर न कर सके तो उसे यथार्थ विद्या ही नहीं कहा जा सकता। यह कैसे सम्भव हो सकता है, कि आकाश में सूर्य भी बना रहे और धरती पर अन्धकार भी छाया रहे। सज्जन व्यक्ति अपने धन का उपयोग भोग विलास की पूर्ति में नहीं करता दान में एवं दूसरों की सहायता में करता है। दान देना उसके जीवन का सहज स्वभाव होता है। सज्जन पुरुषों के दान-गुण का वर्णन करते हुए भारत के महाकवि कालिदास ने कहा है—

"आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव।

मेघ समुद्र से जल ग्रहण करके उसे वर्षा के रूप में फिर वापस ही लौटा देते हैं। किन्तु इस लौटाने में भी विशेषता है, मेघ महासागर से खार जल ग्रहण करते हैं और उसे मधुर बना कर लौटा देते हैं। सज्जन पुरुषों का स्वभाव भी मेघ के समान ही है। सज्जन पुरुष समाज से जो कुछ ग्रहण करते हैं, वे फिर समाज को ही लौटा देते हैं। परन्तु इस लौटाने में एक विलक्षणता होती है। दान करते समय सज्जन पुरुष के हृदय मे यह भावना नहीं रहती कि मैं दान कर रहा हूँ। वे दान तो करते हैं, किन्तु दान के अहंकार को अपने मन में प्रवेश नहीं करने देते।

दान मूल से आदान ही है, पाना ही है। दान करना खोना नहीं है, बल्कि

प्राप्त करना है। एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है—"What we gave, we have, what we spent, we had, whet we left we lost जो कुछ हमने दिया है, वह हमने पा लिया जो कुछ हम खर्च कर चुके हैं उसे भी हमने कुछ पा लिया था, किन्तु जो कुछ हम यहाँ छोड़कर जाते हैं, उसे हम खो देते हैं। कहने का अभिप्राय यह है, कि जो कुछ हमने दिया वह हमने पा लिया, और जो कुछ हम दे रहे हैं, उसे हम अवश्य ही प्राप्त करेंगे, किन्तु जिस सम्पत्ति का न हमने अपने लिए उचित उपयोग किया और न हम उसको दान ही कर पाए, बल्कि मरने के बाद यहीं छोड़ गए तो वह हमारी अपनी नहीं है, वह हमारे हाथों से नष्ट हो चुकी है।

मैं आपसे कह रहा था, कि सज्जन व्यक्ति की विद्या और सज्जन व्यक्ति का धन जिस प्रकार परोपकार के लिए होते हैं, उसी प्रकार उसकी शक्ति भी दूसरों के उपकार के लिए होती है। दूसरों को पीड़ा देने के लिए उसकी तलवार कभी म्यान से बाहर नहीं निकलती। जिनका मानस दया और करुणा से आप्लावित है, भला उसकी तलवार की नोक दूसरे के कलेजे को कैसे चीर सकती है। किन्तु समय पड़ने पर वह दीन, असहाय और अनाथ जनों के अधिकारों की रक्षा के लिए अपने प्राणों की बाजी खेल सकता है। सज्जन पुरुष अपनी शक्ति का प्रयोग अनाथ जनों के अधिकार के सरक्षण के लिए ही करता है। वह कभी भी अपनी शक्ति का प्रयोग अपनी वासनाओं के पोषण के लिए अथवा अपने स्वार्थ के पोषण के लिए नहीं करता। सज्जन पुरुष इस सृष्टि का एक दिव्य पुरुष होता है।

मैं आपसे यह कह रहा था, कि मानव-जीवन बड़ा दुर्लभ है। उसे प्राप्त करना आसान काम नहीं है, किन्तु याद रखिए मानव जीवन प्राप्त करना ही सब कुछ नहीं है, उसकी सफलता तभी है, जब कि मानवोचित सद्गुण भी जीवन मे विद्यमान हो। प्रश्न था, कि बलवान् होना अच्छा है अथवा निर्बल होना अच्छा है ? बात यह है, कि सज्जन व्यक्ति का बलवान् होना अच्छा है और दुर्जन व्यक्ति का निर्बल रहना अच्छा है। सज्जन व्यक्ति यदि बलवान् होगा, शक्ति-सम्पन्न होगा, तो वह अपने जीवन का भी उत्थान कर सकेगा और दूसरे मनुष्यों के जीवन का उत्थान भी कर सकेगा। दुर्जन व्यक्ति की शक्ति दूसरों के त्रास के लिए होती है, दूसरों के परित्राण के लिए नहीं। धार्मिक व्यक्ति जितना अधिक बलवान् होगा, वह धर्म की साधना उतनी ही अधिक पवित्रता के साथ करेगा। क्रूर एव दुर्जन व्यक्ति जितना अधिक निर्बल रहेगा, वह उतना ही अधिक कम अन्याय और अत्याचार कर सकेगा। इस

का अर्थ यह नहीं है, कि शास्त्रकार किसी को बलवान् और किसी को निर्बल होने की भावना करते हैं। यहाँ पर कहने का अभिप्राय इतना ही है कि मनुष्य जीवन की वास्तविकता क्या है और मनुष्य ने अपने जीवन को किस रूप में समझा है तथा उसे अपने जीवन को किस रूप में समझना चाहिए? राज कुमारी जयन्ती के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने जो कुछ कहा है, उसका अभिप्राय इतना ही है कि यदि तुम शक्तिशाली हो तो उस शक्ति का उपयोग एवं प्रयोग अपने आत्म-कल्याण और अपने आत्मोत्थान के लिए करो। अपने विकास के लिए करो। शक्ति प्राप्ति का यह अर्थ नहीं है, कि तुम दूसरों के लिए भयंकर रुद्र बनकर दूसरों के जीवन के विनाश का ताण्डव नृत्य करने लगो। दूसरों के जीवन को क्षति पहुँचाने का तुम्हें किसी प्रकार का नैतिक अधिकार नहीं है। तुम अपने घर में दीपक जला सकते हो यह तुम्हारा अधिकार है, किन्तु दूसरे के घर के दीपक को जो कि उसने अपने घर के अँधेरे को दूर करने के लिए जलाया है बुझाने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है। तुम दान देते हो अवश्य दो यह तुम्हारा कर्तव्य है, किन्तु दान देकर उसका अहंकार मत करो। आपको मालूम है जैन दर्शन के अनुसार दान शब्द का क्या अर्थ होता है? दान का अर्थ है—संविभाग। दान का अर्थ देना ही नहीं है, बल्कि उसका अर्थ है—बराबर का हिस्सा बाँटना। एक पिता के चार पुत्र यदि सक्षम होते हैं, तो वे अपने पिता की सम्पत्ति का समविभाग करते हैं न कि एक दूसरे को दान करते हैं। प्रत्येक पुत्र का अपने पिता की सम्पत्ति पर समान अधिकार है। पिता की सम्पत्ति पुत्र को दी नहीं जाती है वह स्वतः उसे प्राप्त होती है। इसी प्रकार तुम दान करने वाले कौन होते हो तुम्हें दान करने का कोई अधिकार नहीं है। समाज-रूपी पिता से तुम्हें जो कुछ भी सम्पत्ति प्राप्त हुई है, उसका संविभाग करो उसे बराबर बराबर बाँटो समाज के सब व्यक्ति तुम्हारे भाई अपने हैं और तुम उनके भाई हो। एक भाई दूसरे भाई को दान नहीं करता है, बल्कि वह उसका संविभाग करता है। दान में दीनता रहती है और संविभाग में अधिकार की भावना मुख्य रहती है। दान करते समय यह विचार रखो कि हम समविभाग कर रहे हैं, अतः दान के बदले में न हमें स्वर्ग की अभिलाषा है और न अन्य किसी प्रकार के वैभव की अभिलाषा है। ज्ञान का प्रकाश करने से धन का समविभाग करने से और शक्ति का सद् प्रयोग करने से आत्मा बलवान् बनता है, आत्मा शक्ति सम्पन्न बनाता है और आत्मा प्रभु बनता है।

मैं आपसे मनुष्य और मनुष्यता की बात कह रहा था। संसार का प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता है शान्ति चाहता है और आनन्द चाहता है। किन्तु प्रश्न

यह है, कि वे प्राप्त कैसे हो ? वे प्राप्त तभी हो सकते हैं, जब कि हम दूसरो को सुखी बना सकें, दूसरो को शान्त कर सकें। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय की भावना ही उसके शुभ या अशुभ जीवन का निर्माण करती है। एक पाश्चात्य विद्वान् ने कहा है—

"Heaven and hell are in our conscience"

स्वर्ग और नरक, सुख और दुःख कही बाहर नही हैं, वे हमारे अन्दर मे ही है। मनुष्य की जैसी भावना और जैसी बुद्धि होती है, उसी के अनुसार उसका जीवन सुखी और दु:खी बनता है और उसी के अनुसार उसे स्वर्ग एव नरक की उपलब्धि होती है। सब कुछ भावना पर ही आधारित है।

●

जैनधर्म अतिवादी नहीं है

साधना का क्षेत्र व्यापक और विस्तृत है। इस सन्दर्भ में जैन संस्कृति की एवं जैन-धर्म की साधना किस प्रकार की है और वह किस पद्धति से की जाती है, इस तथ्य को समझना परम आवश्यक है। जब तक साधना के मर्म को समझने का प्रयत्न नहीं होगा तब तक साधना का आनन्द नहीं आ सकता। जब साधक का मन साधना मे समरसीभाव हो जाता है तभी वह उस साधना का आनन्द ले सकता है।

जैनधर्म की साधना के रहस्य को समझने के लिए दो तथ्यों को समझना आवश्यक है—अहिंसा और अनेकान्त। अनेकान्त अथवा स्याद्वाद को बिना समझे साधना के वास्तविक स्वरूप को समझना सरल नहीं है। अनेकान्त की पृष्ठभूमि पर जिस साधना का प्रारम्भ होगा वह अहिंसामूलक भी होगी। समग्र साधनाओं का मूलकेन्द्र अहिंसा ही हो सकती है और उसको समझने की दृष्टि अनेकान्तवाद ही हो सकता है। अनेकान्तवाद के प्रकाश मे अहिंसा के राजपथ पर अग्रसर होते हुए, जो भी साधना की जाती है, वह जैन-धर्म और जैन संस्कृति के अनुकूल ही होती है।

जैन-दर्शन साधना के क्षेत्र मे अतिवाद को स्वीकार नही करता। जैन-धर्म अथवा जैन सस्कृति मूल मे अतिवादी नही है,वह अपने मूल स्वरूप मे निरतिवादी है। अतिवाद और निरतिवाद दोनो मे से निरतिवाद ही श्रेष्ठ है। और साधक के लिए वही ग्राह्य भी है, क्योकि अतिवाद एकान्तवाद हो जाता है। जो भी एकान्तवाद है, वह सम्यक् नही हो सकता, मिथ्या ही होता है। जो कुछ मिथ्या है, वह हमारी साधना का अग कैसे बन सकता है। इस दृष्टि से मैं आपसे कह रहा था कि जैन-धर्म, जैन-दर्शन और जैन-सस्कृति अपने मूलरूप मे अतिवादी न होकर, निरतिवादी है। अतिवाद एक प्रकार का हठयोग होता है। हठयोग को हम साधना नही कह सकते। जैन-दर्शन मे हठयोग को मिथ्या साधना कहा है। अतिवाद किसी भी क्षेत्र मे ग्राह्य नही हो सकता। साधना चाहे आचार की हो, चाहे तप की हो और चाहे योग की हो, किसी भी प्रकार की साधना क्यो न हो, उसमे अतिवाद के लिए जरा भी अवकाश नही है। निरतिवाद ही जैनधर्म की और जैनदर्शन की मूल आत्मा है। जैनधर्म की साधना जीवन-विकास के लिए की जाती है, जीवन-विनाश के लिए नही। एकान्तवाद मे विनाश ही रहता है, विकास नही।

मैं आपसे साधना की बात कर रहा था। आध्यात्मिक साधना, चाहे वह गृहस्थ की साधना हो और चाहे वह साधु की साधना हो, जो भी साधना है, उसमे सर्वत्र एक ही प्रश्न सामने आता है और जब तक उसका समाधान नही हो जाता है, तब तक साधना मे विमलता और विशुद्धता आती नही है। प्रश्न यह है, कि साधक जो कुछ भी कर रहा है, गृहस्थ धर्म का पालन कर रहा है अथवा साधु धर्म का पालन कर रहा है, परन्तु देखना यह है कि उसमे उसे समरसीभाव उपलब्ध हुआ अथवा नही ? यदि समरसीभाव उत्पन्न हो गया है तो वह साधना ठीक है, अन्यथा वह साधना काय-क्लेशमात्र है। गृहस्थधर्म और साधु धर्म, धर्म वस्तुत अलग-अलग नही होता, वह तो एक और अखण्ड ही होता है, फिर भी पात्र की योग्यता के अनुसार ही उसका शास्त्रो मे विधान एव प्रतिपादन किया गया है। शास्त्रों मे जहाँ कही भी गृहस्थ धर्म अथवा साधु धर्म का प्रतिपादन किया गया है, तो वहाँ व्यवहार दृष्टि से ही उसका कथन किया गया है किन्तु निश्चय दृष्टि मे साधना का मार्ग अलग-अलग नही है। निश्चय दृष्टि मे साधना का मार्ग एक ही है। यह बात दूसरी है कि एक साधक अपने साधना पथ पर तेज कदम से आगे बढ रहा है दूसरा हल्के कदम से उस पर चल रहा है। साधना मे पात्र की शक्ति के अनुसार तीव्रता और मन्दता का भेद रह सकता है, किन्तु ध्येय-भेद और लक्ष्य-भेद नही हो सकता। आगम शास्त्र मे दोनो दृष्टियो का उल्लेख उपलब्ध होता है—व्यव-

हार दृष्टि और निश्चय दृष्टि । दोनों का समझना आवश्यक है, इसमें किसी प्रकार का मतभेद नहीं है । परन्तु इस तथ्य को नहीं भूल जाना चाहिए कि निश्चय-दृष्टि ही परमार्थ दृष्टि है । व्यवहार-भाषा में मार्ग अलग अलग होते हुए भी निश्चय भाषा में मार्ग एक ही है । साधु जिस लक्ष्य को लेकर साधना प्रारम्भ करता है, गृहस्थ की साधना का प्रारम्भ भी उसी लक्ष्य को लेकर होता है । लक्ष्य में किसी प्रकार का भेद नहीं है । साध्य एक होने पर भी और साधना एक होने पर भी चलने की गति में अन्तर अवश्य माना गया है । वस्तुतः साधना साधना है । वह एक अखण्ड तत्व है ।

साधना में दो दृष्टियाँ रहती हैं—द्वैत-दृष्टि और अद्वैत दृष्टि । साधक की साधना का प्रारम्भ द्वैत दृष्टि से होता है, किन्तु उसका पर्यवसान अद्वैत दृष्टि में होता है । क्योंकि आत्मा स्वयं ही साधक है, स्वयं ही साध्य है और स्वयं साधन है । साध्य क्या है ? मोक्ष और मोक्ष क्या है ? आत्म-गुणों की परि पूर्णता । और आत्म साधना में साधन भी आत्मगुण ही होते हैं । इस दृष्टि से अपने प्रयत्न से अपने में अपने आपको खोजना ही साधना है । यह जैन दर्शन की अद्वैत दृष्टि है । वेदान्त ने भी साधना के क्षेत्र में मुख्य रूप में अद्वैत दृष्टि को ही अपनाया है । किन्तु उसका मायावाद उसे पूर्ण रूप में अद्वैत नहीं होने देता । आचार्य उमास्वाति ने अपने 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' में कहा है कि सम्यक दर्शन सम्यकज्ञान और सम्यक् चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है । इसी तथ्य को बहुत पहले भगवान् महावीर ने भी अपनी वाणी में कहा था और गणधरों ने भी उसी का प्रतिपादन किया था । उसी का आधार लेकर विभिन्न युग के आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों की रचना की है । जो बात एक तीर्थंकर कहता है, वही बात अनन्त तीर्थंकर भी कहते हैं । सर्वज्ञ और सर्वदर्शी के कथन में किसी प्रकार का भेद नहीं हो सकता । मोक्ष-मार्ग की प्ररूपणा सब की एक है ।

मोक्ष मार्ग में प्रयुक्त मार्ग का अर्थ है—कारण एवं साधन । मोक्ष तो कार्य है और उसके कारण हैं—सम्यक्दर्शन सम्यकज्ञान और सम्यकचारित्र । जो साधन है वस्तुतः वही साध्य भी है, अन्तर इतना ही है, कि अपूर्ण अवस्था में वे साधन हैं और पूर्ण अवस्था में वे ही साध्य बन जाते हैं साध्य और साधन में अद्वैत दृष्टि से किसी प्रकार का मौलिक भेद नहीं हो सकता । मैं आपसे यह कह रहा था कि जब तक आत्म गुणों का पूर्ण विकास नहीं होता है, तब तक वे साधन हैं और जब पूर्ण विकास हो जाता है तो वे ही गुण साध्य बन जाते हैं । दूसरी बात यह है कि गुण कभी अपने गुणी से भिन्न नहीं होता । इसका अर्थ यह हुआ कि जो दर्शन है, वही आत्मा है, जो ज्ञान है, वही आत्मा है और जो

है । आत्मा, उसका साध्य और उसके साधन मे अद्वैत दृष्टि है, किन्तु व्यवहार मे हम भेद-दृष्टि को आधार बनाकर ही चलते हैं । जब साधक निश्चय दृष्टि मे पहुँचता है, तब वहाँ पर उसे किसी भी प्रकार का भेद दृष्टिगोचर नहीं होता है ।

मुक्ति क्या वस्तु है ? मुक्ति का अर्थ है—बन्धनो से छुटकारा । जितने बन्धन हैं, उतना ही अधिक ससार होता है, और जैसे-जैसे बन्धनो का अभाव होता जाता है, वैसे-जैसे मुक्ति प्राप्त होती जाती है । बन्धनो का अभाव ही मोक्ष है । सम्यग् दर्शन के होने से मिथ्यात्व का बन्धन टूट जाता है । सम्यक् ज्ञान के आते ही अज्ञान का बन्धन टूट जाता है । सम्यक् चारित्र के होते ही राग द्वेप के बन्धन टूटने लगते हैं । साधक जैसे-जैसे अपनी साधना मे विकास करता है वह बन्धनो से मुक्त होता जाता है ।

कल्पना कीजिए, एक बच्चा पढने जाता है और वह पहली कक्षा पार करता है, फिर धीरे-धीरे वह दूसरी, तीसरी, चौथी और पाँचवी आदि कक्षाओ को पार करता हुआ निरन्तर आगे बढता जाता है । एक दिन वह अपनी कक्षाओ को पार करते हुए ऊँची से ऊँची शिक्षा प्राप्त करने मे सफल हो जाता है । उस समय वह विद्वान बन जाता है और दूसरो को पढाने भी लगता है । जो व्यक्ति एक दिन स्वय पढने वाला था, तो एक दिन वह दूसरो को पढाने भी लगता है । इसका अर्थ यह है, कि जब तक वह अल्पज्ञ था वह स्वय छात्र था और जैसे-जैसे उसका ज्ञान बढता गया, वह अध्यापक हो गया । यही स्थिति साधना के सम्बन्ध मे भी है । एक दिन स्वरूप की साधना प्रारम्भ करने वाला साधक साधना के पथ पर धीरे-धीरे कदम बढाता है और फिर आगे चलकर वही व्यक्ति स्वरूप की पूर्ण साधना कर लेता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि यह साधक चतुर्थ गुणस्थान मे सम्यक् दृष्टि बनता है, पञ्चम गुणस्थान मे देशव्रती बनता है । षष्ठ गुणस्थान मे सर्वव्रती बनता है, सप्तम गुणस्थान मे अप्रमत्त होकर तेजी के साथ आगे बढता हुआ तेरहवें गुणस्थान मे पहुँच कर वह पूर्ण वीतराग, सर्वज्ञ और सर्वदेशी बन जाता है । साधना का यही क्रम है । गृहस्थ धर्म और साधुधर्म की बाह्य मर्यादा का भेद केवल पञ्चम और षष्ठ गुणस्थान तक ही रहता है, आगे के सभी गुणस्थानो मे फिर साधना अन्त प्रवर्ति त रहती है, अत उसका एक रूप ही रहता है । इसी दृष्टि से मैं आपसे कह रहा था, कि हमारी साधना जब तक अपूर्ण है, तभी तक उसमे साध्य और साधन का भेद रहता है । साधना की परिपूर्णता होते ही साध्य और साधन का भेद भी मिट जाता है, फिर तो जो साध्य है

हार दृष्टि और निश्चय दृष्टि। दोनों को समझना आवश्यक है, इसमें किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। परन्तु इस तथ्य को नहीं भूल जाना चाहिए कि निश्चय-दृष्टि ही परमार्थ दृष्टि है। व्यवहार भाषा में मार्ग अलग अलग होते हुए भी निश्चय भाषा में मार्ग एक ही है। साधु जिस लक्ष्य को लेकर साधना प्रारम्भ करता है, गृहस्थ की साधना का प्रारम्भ भी उसी लक्ष्य को लेकर होता है। लक्ष्य में किसी प्रकार का भेद नहीं है। साध्य एक होने पर भी और साधना एक होने पर भी चलने की गति में अन्तर अवश्य माना गया है। वस्तुतः साधना साधना है। वह एक अखण्ड तत्त्व है।

साधना में दो दृष्टियाँ रहती हैं—द्वैत-दृष्टि और अद्वैत दृष्टि। साधक की साधना का प्रारम्भ द्वैत दृष्टि से होता है, किन्तु उसका पर्यवसान अद्वैत दृष्टि में होता है। क्योंकि आत्मा स्वयं ही साधक है, स्वयं ही साध्य है और स्वयं साधन है। साध्य क्या है? मोक्ष और मोक्ष क्या है? आत्म-गुणों की परिपूर्णता। और आत्म साधना में साधन भी आत्मगुण ही होते हैं। इस दृष्टि से अपने प्रयत्न से अपने मे अपने आपको खोजना ही साधना है। यह जैन दर्शन की अद्वैत दृष्टि है। वेदान्त ने भी साधना के क्षेत्र में मुख्य रूप म अद्वैत दृष्टि को ही अपनाया है। किन्तु उसका मायावाद उसे पूर्ण रूप में अद्वैत नहीं होने देता। आचार्य उमास्वाति ने अपने 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' में कहा है कि सम्यक् दर्शन सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है। इसी तथ्य को बहुत पहले भगवान् महावीर ने भी अपनी वाणी में कहा था और गणधरों ने भी उसी का प्रतिपादन किया था। उसी का आधार लेकर विभिन्न युग के आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों की रचना की है। जो बात एक तीर्थंकर कहता है, वही बात अनन्त तीर्थंकर भी कहते हैं। सर्वज्ञ और सर्वदर्शी के कथन में किसी प्रकार का भेद नहीं हो सकता। मोक्ष-मार्ग की प्ररूपणा सब की एक है।

मोक्ष मार्ग मे प्रयुक्त मार्ग का अर्थ है—कारण एवं साधन। मोक्ष तो कार्य है और उसके कारण हैं—सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जो साधन है, वस्तुतः वही साध्य भी है, अन्तर इतना ही है कि अपूर्ण अवस्था में वे साधन हैं और पूर्ण अवस्था में वे ही साध्य बन जाते हैं। साध्य और साधन में अद्वैत दृष्टि से किसी प्रकार का मौलिक भेद नहीं हो सकता। मैं आपसे यह कह रहा था कि जब तक आत्म गुणों का पूर्ण विकास नहीं होता है तब तक वे साधन हैं और जब पूर्ण विकास हो जाता है तो वे ही गुण साध्य बन जाते हैं। दूसरी बात यह है, कि गुण कभी अपने गुणी से भिन्न नहीं होता। इसका अर्थ यह हुआ कि जो दर्शन है, वही आत्मा है, जो ज्ञान है, वही आत्मा है और जो चारित्र है वही आत्मा

दुर्भाग्य से उसे ही अपनी यात्रा समझ लेते हैं। आपने तेली के बैल को देखा होगा। प्रभात वेला मे जब तेली अपने बैल को घानी मे जोतता है, तब वह उसकी दोनो आंखो पर पट्टी बांध देता है। तेली का वह बैल दिन भर घूमता है और दिन भर चलता रहता है, परन्तु कहावत है कि—"ज्यो तेली के बल को घर ही कोस पचास।" तेली का बैल दिन भर चलता-चलता थक जाता है, परिश्रान्त हो जाता है। वह अपने मन मे सोचता है, कि आज मैं बहुत चला हूँ, चलता-चलता थक गया हूँ, कम से कम चालीस-पचास कोस की यात्रा तो मैंने कर ही ली होगी। सायकाल के समान जब तेली उसकी आंख पर से पट्टी हटाता है, तब वह देखता है कि मैं तो वही पर खडा हूँ, जहाँ से मैंने यात्रा प्रारम्भ की थी। दिन भर चला, फिर भी वही का वही पर हूँ। साधना के क्षेत्र म भी बहुत से साधको की यही जीवन दशा रहती है। साधना करते करते उन्हे पचास-साठ वर्ष हो जाते हैं, फिर भी वे किसी प्रकार की प्रगति नही कर पाते। साधक जीवन की यह एक विकट विडम्बना है। पचास-साठ वर्ष तक सिर मुडवाते रहे, सयम का पालन करते रहे, व्रत और नियमो का पालन करते रहे, किन्तु उसका परिणाम तेली के बैल के समान शून्यवत् होता है। आखिर ऐसा क्यो होता है? इस प्रकार का प्रश्न उठना स्वाभाविक है। साधना हो और फिर भी प्रगति न हो, यह तो एक आश्चर्य ही होगा। थकावट हो, थक कर अग चूर-चूर हो जाए, किन्तु फिर भी वही के वही, यह साधक जीवन की अच्छी स्थिति नही कही जा सकती। प्रश्न है, ऐसा क्यो होता है। इसलिए होता है, कि मन की गाँठे नही खुलने पाती। जब तक मन की गाठ नही खुलती है, तब तक साधना का कुछ भी लाभ नही मिलने पाता है। मन पर वासना की परत-पर-परत जमी है, उन्हे दूर करना आवश्यक है। एक आचार्य ने बडी सुन्दर बात कही है—

राग-द्वेषौ यदि स्याता, तपसा किं प्रयोजनम्।
राग-द्वेषौ च न स्यातां, तपसा किं प्रयोजनम्॥

यदि राग और द्वेष हैं, तो तपस्या करने से कुछ भी लाभ नही। यदि राग-द्वेष नही रहे हैं, तब भी तपस्या करने से कोई लाभ नही है, क्योकि तप इसीलिए किया जाता है, कि उससे राग-द्वेष क्षीण हो जाएँ। यदि तपस्या की साधना करने पर भी राग-द्वेष क्षीण नही होते हैं, तो फिर तपस्या की साधना फलवती नही हो सकती। इसके विपरीत यदि साधक का हृदय इतना निर्मल हो चुका है, कि उसमें न राग रहा है और न द्वेष रहा है, तो उसके लिए भी तपस्या की साधना का कोई विशेष प्रयोजन शेष नही रहता। उन्ही साधको का जीवन तेली के बैल के समान रहता है, जिन्होने अपनी मन की गाँठो को

वही साधन है और जो साधन है वही साध्य है। जन दर्शन की यही निश्चय दृष्टि है और जैन दर्शन की यही अद्वैत दृष्टि है।

अहिंसा तो अहिंसा है। वह अनन्त भी है और सान्त भी है। साधना की अवस्था में वह सान्त है और साध्य की अवस्था में पहुँचकर वह अनन्त हो जाती है। अहिंसा के पूर्ण विकास को ही हम अहिंसा का अनन्त रूप कहते हैं। जो बात अहिंसा के सम्बन्ध में है वही बात आत्मा के अन्य गुणों के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। कल्पना कीजिए, आपके सामने विशाल जल राशि है। उस सागर की विशाल जलराशि को सम्पूर्ण रूप में पीने की शक्ति हर किसी मे नहीं हो सकती। पौराणिक कथा के अनुसार यह शक्ति अगस्त्य ऋषि में ही थी। एक व्यक्ति एक गिलास पानी पी सकता है दूसरा व्यक्ति एक लोटा पानी पी सकता है सम्भवतः एक व्यक्ति वह भी हो जो एक घड़ा पानी पी जाए, किन्तु समस्त जलराशि को पीने की शक्ति हर किसी व्यक्ति मे नहीं हो सकती वह शक्ति तो अगस्त्य ऋषि मे ही हो सकती है। अगस्त्य ऋषि के सम्बन्ध में पुराणों में कहा गया है, कि उसने समस्त समुद्र का एक चुल्लू मे ही पी लिया था। अगस्त्य ऋषि के जीवन की घटना जो कुछ पुराणो में उपलब्ध होती है, उसमें चमत्कार हो सकता है परन्तु मैं आपसे अध्यात्म साधना के क्षेत्र की बात कह रहा हूँ। अध्यात्म साधना के क्षेत्र में कुछ साधक इस प्रकार के हो जाते हैं जो एक ही मुहूर्त मे पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं। मैं साधना के क्षेत्र मे इस प्रकार के साधकों को आध्यात्मिक अगस्त्य ऋषि कहता हूँ। साधना के क्षेत्र में जो अगस्त्य ऋषि बनकर के आते हैं, वे अपने जीवन का कल्याण इतनी शीघ्रता के साथ कर जाते हैं कि आपको और हमको उनकी जीवन-गाथा पढ़ कर बड़ा आश्चर्य होता है। हर कोई व्यक्ति इस प्रकार प्रारम्भ मे ही अगस्त्य ऋषि नहीं बन सकता फिर भी मैं कहूँगा कि आत्मा मे अनन्त शक्ति होती है। और एक न एक दिन साधक को अगस्त्य ऋषि बनना ही होता है। अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्मा क्या नहीं कर सकता? वह सब कुछ कर सकता है। परन्तु कब कर सकता है जब कि वह अपनी अनन्तशक्ति की अभिव्यक्ति कर ले। शक्ति होते हुए भी यदि उसकी अभिव्यक्ति नहीं हुई है तो कुछ नहीं हो सकता अणु को विराट बनाने से ही उस अनन्त शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। जिस साधक ने अपनी आत्मशक्ति का जितना विकास कर लिया है वह उतना ही अधिक अपने विकासमार्ग पर आगे बढ़ सकता है।

कुछ साधक हैं, जो चलते तो बहुत हैं किन्तु फिर भी कुछ प्रगति नहीं कर पाते। तेली के बैल की भाँति वे एक ही स्थान पर घूमते रहते हैं और

दूसरे का मुख देखने लगे और विचार करन लगे, कि यह हो क्या गया है ? देख-भाल करने पर पता लगा, कि नाव का रस्सा नही खोला गया है। इसी-लिए नाव यहा की यहाँ पर ही रही, आगे नही बढ सकी। एक रात तो क्या हजार रात तक भी अगर परिश्रम करते, तब भी नौका आगे नही बढ सकती थी। यह बोध उन्हे कब हुआ, जब कि उनका भग का नशा दूर हो गया। नशे की दशा मे न उन्हे अपना सम्यग् बोध था, न नौका की गति का बोध था और न यही परिज्ञान था, कि हम काशी मे है अथवा प्रयाग पहुँच रहे हैं। यह कहानी एक रूपक है। उसके मर्म को और उसके रहस्य को समझने का आपको प्रयत्न करना चाहिए।

क्या आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र मे मोह मुग्ध आत्मा वैसा ही कार्य नही करता है, जैसा कि पण्डो ने किया था ? साधक सामायिक करता है, पौषध करता है, उपवास करता है और विभिन्न नियमो का परिपालन भी करता है, किन्तु फिर भी वह पूर्व वासना से बँधा वही खडा रहता है। वह समझता है, कि मैं आध्यात्म साधना कर रहा हूँ, किन्तु मोह-भाव के कारण वह अपनी वास्तविक स्थिति को नही समझ पाता। मोह के प्रभाव से वह स्थिति को ही यात्रा समझ लेता है। वह अपने हृदय में भले ही यह विचार करे, कि मैं अध्यात्म साधना कर रहा हूँ, पर मोह मुग्ध आत्मा मे अध्यात्म भाव तो लेश मात्र भी नही रहने पाता। दृष्टि मे मोह भी रहे और अध्यात्म भाव भी रहे, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? क्या कभी रजनी और दिवस दोनो एक काल मे और एक देश मे खडे रह सकते हैं ?

जैन धर्म साधना को महत्त्व अवश्य देता है, किन्तु अति साधना को नही। साधना जीवन के लिए होती है, साधना का लक्ष्य है जीवन को विमल और पवित्र बनाना और यह पवित्रता सहज भाव से होने वाली ज्ञान प्रधान अर्न्तमुख साधना से होती है। जो साधना अर्न्तमुख न होकर बहिर्मुख होती है, आत्मा-प्रधान न होकर देह-प्रधान होती है, अपनी सहज शक्ति से आगे बढकर अति के रूप मे देह दण्ड एव हठ योग का रूप ले लेती है, वह अति साधना है, और वह आध्यात्मिक पवित्रता का हेतु नहीं बनती है। प्राचीन साहित्य का जब हम अध्ययन करते हैं, तब हमे ज्ञात होता है, कि भारत मे किस प्रकार की हठवादी और अतिवादी साधना की जाती रही है। तापसो के जीवन का वर्णन जब हम पढ़ते है, तव हमे ज्ञान होता है, कि उस युग के तापस अपने आश्रमो मे, जगलो मे और पर्वतो पर किस प्रकार की प्रचण्ड तपस्या करते थे। जहाँ एक ओर तापसो का प्रचण्ड तप प्रसिद्ध है, वहाँ दूसरी ओर

नहीं जाना है राग और द्वेष की ग्रन्थि को नहीं तोड़ा है वे कितनी भी तपस्या करें और कितने भी नियमों का पालन करें, किन्तु उनके जीवन में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आ सकता। जिसके मन में राग-द्वेष की गाँठ है, वह भले ही गृहस्थ हो अथवा साधु हो वह अपनी साधना में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। पचास वर्ष के बाद भी वह वहीं खड़ा मिलता है जहाँ से उसने अपनी यात्रा प्रारम्भ की थी। वे यात्रा नहीं करते बल्कि तेली के बैल के समान घूमते हैं चक्कर काटते हैं और इधर से उधर भटकते हैं।

मोह और लोभ जब तक दूर नहीं होते हैं तब तक साधना कैसे सफल हो सकती है? मोह-मदिरा का पान करके यह आत्मा अपने स्वरूप को भूल जाता है। आत्मा का अपने स्वरूप को भूल जाना ही संसार है। मोह में एक ऐसी शक्ति है जिससे आत्मा को यह परिबोध नहीं होने पाता कि मैं क्या हूँ और मेरी शक्ति क्या है? मैं अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा हूँ अथवा उससे पीछे हट रहा हूँ। इस प्रकार की बोधदशा आत्मा की विलुप्त हो जाती है। कहा जाता है, कि एक बार बनारस के कुछ पण्डों ने विचार किया कि आज आश्विन मास की पूर्णिमा है। अतः गंगा-स्नान यहाँ पर नहीं तीर्थराज प्रयाग पर करना चाहिए। उन्होंने अपने इस विचार के अनुसार कार्यक्रम बनाया और गंगा के घाट पर पहुँच कर भंग का घोंटा लगाकर सबने भंग पी और नाव पर सवार हो गए। नाव से यात्रा करके ही प्रयागराज पहुँचने का उनका विचार था। नाव पर सवार तो वे हो गए, किन्तु नाव का जो रस्सा तट पर के खूँटे से बँधा था उसे खोलने का ध्यान किसी को न रहा। वे लोग नाव में बैठे थे और नाव चला रहे थे किन्तु नाव आगे न बढ़कर वहीं पर इधर उधर गंगा की चंचल तरङ्गों पर थिरकती रही। रात्रि को जब चन्द्रमा का उदय हुआ तब उन्होंने सोचा आज बड़ा निर्मल सूर्य का उदय हुआ है। सूर्य का प्रकाश अत्यन्त स्वच्छ और सुन्दर है। अब हम प्रयागराज आ पहुँचे हैं। इस तीर्थराज पर अब हम सब संगम में स्नान करेंगे और फिर वापिस अपने घर लौट चलेंगे किन्तु वस्तुतः वे प्रयागराज नहीं पहुँचे थे बल्कि बनारस में ही उसी गंगा घाट पर थे जहाँ से उन्होंने अपनी तीर्थ यात्रा प्रारम्भ की थी। सारी रात परिश्रम करने पर भी वे एक कदम आगे न बढ़ सके। प्रातःकाल नशा कम हुआ तो उन्होंने देखा कि यह क्या हुआ वही काशी वही उसका घाट और वही गंगा का प्रवाह जहाँ प्रतिदिन वे स्नान करते थे। हम तो अब प्रयाग चल के फिर काशी में ही कैसे आ गए इस पर सबको बड़ा आश्चर्य था। उनके दूसरे मित्रों ने जो गंगा पर स्नान करने आए थे कहा कि आज क्या सोच रहे हो नौका में बैठकर कहाँ जाने का विचार कर रहे हो? वे सब एक

दूसर का मुख देखने लगे और विचार करन लगे, कि यह हो क्या गया है ? देख-भाल करने पर पता लगा, कि नाव का रस्सा नही खोला गया है । इसी-लिए नाव यहा की यहाँ पर ही रही, आगे नही बढ सकी । एक रात तो क्या हजार रात तक भी अगर परिश्रम करते, तव भी नौका आगे नही वढ सकती थी । यह बोध उन्हे कव हुआ, जव कि उनका भग का नशा दूर हो गया । नशे की दशा मे न उन्हे अपना सम्यग् बोध था, न नौका की गति का बोध था और न यही परिज्ञान था, कि हम काशी मे है अथवा प्रयाग पहुँच रहे है । यह कहानी एक रूपक है । उसके मर्म को और उसके रहस्य को समझने का आपको प्रयत्न करना चाहिए ।

क्या आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र मे मोह मुग्ध आत्मा वैसा ही कार्य नही करता है, जैसा कि पण्डो ने किया था ? साधक सामायिक करता है, पौषध करता है, उपवास करता है और विभिन्न नियमो का परिपालन भी करता है, किन्तु फिर भी वह पूर्व वासना से बँधा वही खडा रहता है । वह समझता है, कि मैं आध्यात्म साधना कर रहा हूँ, किन्तु मोह-भाव के कारण वह अपनी वास्तविक स्थिति को नही समझ पाता । मोह के प्रभाव से वह स्थिति को ही यात्रा समझ लेता है । वह अपने हृदय मे भले ही यह विचार करे, कि मैं अध्यात्म साधना कर रहा हूँ, पर मोह मुग्ध आत्मा मे अध्यात्म भाव तो लेश मात्र भी नही रहने पाता ।दृष्टि मे मोह भी रहे और अध्यात्म भाव भी रहे, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? क्या कभी रजनी और दिवस दोनो एक काल मे और एक देश मे खडे रह सकते हैं ?

जैन धर्म साधना को महत्त्व अवश्य देता है, किन्तु अति साधना को नही । साधना जीवन के लिए होती है, साधना का लक्ष्य है जीवन को विमल और पवित्र वनाना और यह पवित्रता सहज भाव से होने वाली ज्ञान प्रधान अन्तमुख साधना से होती है । जो साधना अर्न्तमुख न होकर वहिर्मुख होती है, आत्मा-प्रधान न होकर देह-प्रधान होती है, अपनी सहज शक्ति से आगे बढकर अति के रूप मे देह दण्ड एव हठ योग का रूप ले लेती है, वह अति साधना है, और वह आध्यात्मिक पवित्रता का हेतु नही वनती है । प्राचीन साहित्य का जब हम अध्ययन करते हैं, तव हमे ज्ञात होता है, कि भारत मे किस प्रकार की हठवादी और अतिवादी साधना की जाती रही है । तापसो के जीवन का वर्णन जव हम पढते है, तव हमे ज्ञान होता है, कि उस युग के तापस अपन आश्रमो मे, जगलो मे और पवतो पर किस प्रकार की प्रचण्ड तपस्या करते थे । जहाँ एक ओर तापसो का प्रचण्ड तप प्रसिद्ध है, वहाँ दूसरो ओर

तापसों का प्रचण्ड क्रोध भी प्रसिद्ध है। विश्वामित्र ने कितनी प्रचण्ड तपस्या की किन्तु क्रोध भी उनका उतना ही भयंकर था। दुर्वासा ऋषि का क्रोध तो महाभारत में और प्राचीन साहित्य में प्रसिद्ध है। यदि तप का परिणाम क्रोध ही है तो उस तप से आत्मा का हित-साधन नहीं हो सकता। तापसों की साधना का अतिवाद यह है कि वह भयंकर से भयंकर देह-पीड़ा को एवं देह दमन को ही धर्म समझते थे। भगवान पार्श्वनाथ के युग में और भगवान महावीर के युग में भी जिन तापसों का वर्णन उपलब्ध होता है, उससे ज्ञात होता है कि उनका तप तो उग्र होता था किन्तु उन्हें आत्म-बोध नहीं होता था। वर्णन किया गया है कि कुछ तापस पानी के ऊपर आने वाले सेवाल को खाकर ही गुजारा कर लेते थे। कुछ तापस सूखी पत्ती और सूखी घास ही खाकर तपस्या करते थे। कुछ तापस मात्र हवा खाकर ही अपना जीवन यापन करते थे। यहाँ तक वर्णन आता है, कि गाय का गोबर खाकर भी वे अपनी जीवन शक्ति को धारण करते थे। इस प्रकार भगवान पार्श्वनाथ के युग के तापस घोर क्रियाकाण्डी और अतिवादी साधक थे। एक बार भगवान् पार्श्वनाथ जब कि वे राजकुमार थे वाराणसी में गंगा तट पर आए, कमठ तापस के पास पहुँचे। कमठ अपने युग का प्रसिद्ध पञ्चाग्नि तापस था। वह भयंकर ग्रीष्म काल में भी अपने चारों ओर धूनी जलाकर मस्तक पर सूर्य का प्रचण्ड ताप सहन करता था। उसके उक्त प्रचण्ड तप को देख कर उस समय पार्श्वनाथ जी के श्री मुख से यह वाक्य निकला था—

'अहो कष्टमहो कष्टं पुनस्तत्त्वं न ज्ञायते।

तप साधना में कष्ट देह दमन तो बहुत बड़ा है, किन्तु तत्त्व-बोध अभी नहीं है।

प्राचीन साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है, कि एक दिन भारतवर्ष के विशाल जंगलों में तापसों का साम्राज्य था। उनके उग्र क्रियाकाण्ड को देख कर, भगवान बुद्ध को भी बड़ा आश्चर्य हुआ था। मालूम होता है कि अधिक से अधिक देह को कष्ट देना ही तापस लोग अपनी साधना का लक्ष्य समझते थे। मैं समझता हूँ कि इतनी उग्रवादी और अतिवादी साधना अत्यन्त दुर्लभ है। एक मात्र क्रियाकाण्ड पर ही इन लोगों का भार था। क्रिया के साथ विवेक का महत्त्व उन्होंने नहीं समझा था। विवेक तो साधना का प्राण है। किसी भी प्रकार की साधना में यदि विवेक का प्रकाश नहीं है, तो वहाँ कुछ भी नहीं है। मुझे विचार आता है कि जैन धर्म कठोर साधनाओं को महत्त्व देता है अथवा विचार और विवेक को महत्त्व देता है। भगवान महावीर ने कहा है—"पढमं नाणं तओ दया। पहले ज्ञान और विवेक है, फिर आचार और

साधना है। तप एव साधना करना अच्छा है, किन्तु मर्यादा-हीनता के रूप मे अति तप और अति साधना करना अच्छा नही है। जैन धर्म और जैन सस्कृति मे किसी भी प्रकार के अतिवाद को अवकाश नही है। क्योकि अतिवाद एकान्तवाद पर आश्रित होता है और जो भी एकान्त है, वह सम्यक् नही हो सकता, और जो सम्यक् नही है, वह जैन साधना का अग नही बन सकता। जैन धर्म की साधना मे न किसी बात का एकान्त निषेध है और न किसी बात का एकात विधान ही है। जैन दर्शन साधना के मूल स्रोत अनेकान्त दृष्टि को महत्व देता है। यदि दृष्टि सम्यक् नही है, तो फिर कितनी भी अतिवादी साधना क्यो न हो, उससे ससार की अभिवृद्धि ही होती है। वह अतिवादी साधना मोक्ष का अग नही बनती है। जैन धर्म की आचार साधना मे उत्कृष्ट, उग्र और घोर शब्द का प्रयोग तो किया गया है, किन्तु अतिवाद का प्रयोग नही है।

मैं आपसे साधना के विषय मे विचार कर रहा था। साधना, साधना है, और उसका प्रयोजन है, जीवन की निर्मलता और पवित्रता। अतिवादी साधना से देह का पीडन और मन की अशान्ति ही बढती है। जब मन मे समाधि भाव न हो, तब उस साधना को फिर भले ही वह कितनी भी उग्र, घोर और प्रचण्ड क्यो न हो, उसे धर्म नही कहा जा सकता। मैं आपसे कह चुका हूँ, कि तापस-युग के तापस अतिवादी साधक थे। तापसो के अतिरिक्त अन्य कुछ साधको मे भी यह अतिवाद उपलब्ध होता है। बौद्ध दर्शन मे धूताग साधक का वर्णन एक अतिवादी वर्णन है, किन्तु वहाँ कहा गया है कि कितना भी घोर क्रियाकाण्ड क्यो न किया जाए, यदि मन मे समाधि नही है, तो कुछ भी नही है। उग्र तप, घोर साधना और प्रचण्ड क्रिया काण्ड का विधान केवल जैन धर्म मे ही नही है, वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म मे भी कठोरतम साधनाओ का और उग्रतम तपो का विधान किया गया है। जैन धर्म की अपनी विशेषता यह है, कि वह तप, साधना और क्रियाकाण्ड से पूव दृष्टि को महत्व देता है। सम्यक् दृष्टि की अल्प साधना भी निर्जरा के लिए होती है और मिथ्या दृष्टि की घोर साधना भी बन्ध के लिए ही होती है। भगवान पार्श्वनाथ ने कमठ तापस को उसकी अज्ञानमूलक क्रिया को छोडने के लिए जो उपदेश दिया था, वह इस बात का सूचक है, कि तप और अन्य कठोर साधना से पहले दृष्टि सम्यक् बनाना परमावश्यक है। गणधर गौतम ने भी कैलाश-वासी तापसो को जो उपदेश दिया था, उसका सार भी यही है, कि तुम्हारा तप तो बहुत भयकर है, किन्तु अभी तक, हे तापसो! तुम्हें विवेक का प्रकाश नही मिला है। जब तक विवेक प्राप्त न हो, सभी प्रकार की साधना व्यर्थ है।

कल्पना कीजिए, जंगल में किसी बांबी में सांप बैठा है। कुछ अज्ञान लोग सांप को मारने के लिए बाहर से बांबी को पीटते हैं। उसी पर प्रहार कर रहे हैं, तो क्या बांबी को पीटने मात्र से अन्दर बैठा भयंकर विषधर मर सकता है? बांबी पर कितना भी प्रहार क्यों न किया जाए, उससे अन्दर बैठे सर्प का क्या बिगड़ता है? लाठी के प्रहार बांबी पर पड़ते हैं, और अज्ञानी लोग यह समझते हैं कि हम सांप को मार रहे हैं। बांबी को पीटने मात्र से सांप का कुछ नहीं बिगड़ सकता है, क्योंकि वह तो अन्दर सुरक्षित बैठा है। इसी प्रकार कुछ साधक इस शरीर से लड़ते हैं हठ और आवेश में तपस्या कर-कर के इस शरीर को कृश और दुर्बल बना डालते हैं लेकिन इस बेचारे शरीर का क्या दोष है? इस शरीर का पीड़न करने से क्या परिणाम निकला? इस शरीर को आग की बलती ज्वालाओं में भी डाल दिया तो क्या उससे आत्म कल्याण हो सकेगा? बात यह है कि जो वासना है जो विकार है और जो विकल्प है वह शरीर में नहीं है वह शरीर के अन्दर रहने वाले मन में है। वहाँ बैठे हुए विकार रूपी सर्प को तो मारते नहीं मारते हैं उसकी शरीर रूपी स्थूल बांबी को। परन्तु इतने मात्र से तो वासना विकार और विकल्प का सर्प मारा नहीं जा सकता। वह एक गुप्त स्थान में बैठा हुआ है उस पर तो आपकी साधना की एक भी चोट नहीं लगती है चोट लगती है शरीर पर। परन्तु याद रखिए, जब तक अन्तमरन पर चोट नहीं लगेगी तब तक उसके विकार और विकल्प दूर नहीं होंगे। मन के विकार और विकल्पों को दूर करना ही अध्यात्म-साधना का एक मात्र लक्ष्य है। इसका उपाय यही है, कि इस तन की बांबी में बैठे मन के विषधर पर ही साधना का प्रहार किया जाए। भारतीय साधना का लक्ष्य आन्तरिक विकारों का प्रशमन है। यह तन की बांबी और इन्द्रियाँ हमारी साधना के लक्ष्य नहीं हैं। शरीर को नष्ट करने से और शरीर को कष्ट देने मात्र से ही यदि आत्मा का कल्याण सम्भव होता तो कैलाश पर्वत पर अतिवादी साधना करने वाले तापसों का कल्याण कभी का हो गया होता। किन्तु उस अतिवादी साधना से उनके मन के विकार और विकल्प टूटे नहीं। तमसाच्छन्न मिथ्यात्व भूमिका से एक कदम भी आगे नहीं बढ़ पाए। भगवान गौतम के उपदेश से जब उनकी दृष्टि बदली तब ही उन्हें केवल ज्ञान और केवल दर्शन की उपलब्धि हो सकी।

जैन धर्म यह कहता है कि किसी भी प्रकार की साधना करो जप की तप की आचार की अथवा ध्यान की परन्तु अपने मन के विकार और विकल्पों को दूर करने का ही प्रयत्न होना चाहिए। जो तप हमारी मन की शान्ति को भंग करता है अथवा मन के समाधिभाव को भंग करता है, वह

तप, तप नही है, वह साधना, साधना नही है। प्राचीन साहित्य मे एक कथा आती है, कि एक गुरु का एक शिष्य था। वह उग्र तपस्वी और घोर तपस्वी था, लेकिन जितना वडा वह तपस्वी था, उससे भी अधिक वह क्रोधी था। वडी उग्र और घोर तपस्या कर-करके उसने अपने शरीर को तो कृश वना लिया था, किन्तु अपनी आत्मा के कषाय भाव को वह दूर न कर सका। एक दिन वह अपने गुरु के चरणो मे आया और आकर विनम्र भाव से बोला—"गुरुदेव! उग्र और कठोर तपस्या करते-करते यह शरीर सूख गया है, अव इस शरीर मे शक्ति और वल नही रहा। आप मुझे सथारा करने की आज्ञा दीजिए।" गुरु ने कहा—"अभी से सथारा करने की आज्ञा कैसे दी जा सकती है? अरे वत्स! – 'जुरेहि अप्पाण। अभी अपने आपको और पतला करो।' वह शिष्य फिर तपस्या करने चला गया। अब तक वह एक दिन उपवास और एक दिन पारणा करता था, अव वह दो दिन उपवास और एक दिन पारणा करने लगा। कुछ समय बाद फिर गुरु के पास आया और बोला—"मुझे सथारा करने की आज्ञा दीजिए।" गुरु ने फिर वही बात कही—"अपने आपको और पतला करो।" शिष्य फिर तपस्या की साधना के लिए लौट गया। अव की वार उसने और अधिक कठोर साधना की। तीन दिन उपवास करता और एक दिन पारणा करता। कुछ काल तक यह कठोर साधना करके वह फिर गुरु के समीप आया और बोला—"गुरुदेव! अब तो सथारा की आज्ञा दीजिए।" गुरु ने सहज भाव से फिर वही बात कह दी—"अभी अपने को और पतला करो"। गुरु के इस वाक्य को सुनकर शिष्य के मन का प्रसुप्त क्रोध रूप विषधर जागृत हो गया, आखें अगारे जैसी लाल हो गई, होठ फडफडाने लगे और शरीर कापने लगा। क्रोध के वशीभूत होकर, उसने अपने हाथ की एक उँगली तोडकर गुरु के सामने फेंक दी और क्रोध की भाषा मे बोला—"अपने आपको और कैसे पतला करूँ? सारा शरीर तो सूख गया है, रक्त की एक बूंद भी शेष नही है, फिर भी आप एक ही वात कहे जा रहे हैं, कि अपने आपको और पतला करो।" गुरु ने प्रेम भरे शब्दो मे और शान्त स्वर से कहा—"वत्स! मेरा अभिप्राय शरीर को पतला करने से नही है। शरीर भले ही मोटा हो अथवा पतला हो। शरीर के मोटेपन से और पतलेपन से साधना मे कुछ विगडता वनता नही है। मेरा अभिप्राय था, मन को और मन के विकारो को पतला करने से। तुम्हारा अन्तस्तल कषाय से स्थूल हो रहा है, उसे पतला करने की आवश्यकता है। इतने वर्षों तक तुमने उग्र, घोर और उत्कृष्ट तपस्या की, किन्तु अपने अन्दर के कषायभाव को जीत नही सके। क्रोध को जीता नही, मान को जीता नही, माया को जीता नही और

कल्पना कीजिए जंगल में किसी बांबी में सांप बैठा है। कुछ अज्ञान लोग सांप को मारने के लिए बाहर से बांबी को पीटते हैं। उसी पर प्रहार कर रहे हैं, तो क्या बांबी को पीटने मात्र से अन्दर बैठा भयंकर विषधर मर सकता है? बांबी पर कितना भी प्रहार क्यों न किया जाए, उससे अन्दर बैठे सर्प का क्या बिगड़ता है? लाठी के प्रहार बांबी पर पड़ते हैं, और अज्ञानी लोग यह समझते हैं कि हम सांप को मार रहे हैं। बांबी को पीटने मात्र से सांप का कुछ नहीं बिगड़ सकता है क्योंकि वह तो अन्दर सुरक्षित बैठा है। इसी प्रकार कुछ साधक इस शरीर से लड़ते हैं, हठ और आवेश में तपस्या कर-कर के इस शरीर को कृश और दुर्बल बना डालते हैं, लेकिन इस बेचारे शरीर का क्या दोष है? इस शरीर का पीड़न करने से क्या परिणाम निकला? इस शरीर को आग की जलती ज्वालाओं में भी डाल दिया तो क्या उससे आत्म कल्याण हो सकेगा? बात यह है कि जो वासना है जो विकार है और जो विकल्प है, वह शरीर में नहीं है वह शरीर के अन्दर रहने वाले मन में है। वहाँ बैठे हुए विकार रूपी सर्प को तो मारते नहीं मारते हैं उसकी शरीर रूपी स्थूल बांबी को। परन्तु इतने मात्र से तो वासना विकार और विकल्प का सर्प मारा नहीं जा सकता। वह एक गुप्त स्थान में बैठा हुआ है उस पर तो आपकी साधना की एक भी चोट नहीं लगती है चोट लगती है शरीर पर। परन्तु याद रखिए, जब तक अन्तमर्न पर चोट नहीं लगेगी तब तक उसके विकार और विकल्प दूर नहीं होंगे। मन के विकार और विकल्पों को दूर करना ही अध्यात्म साधना का एक मात्र लक्ष्य है। उसका उपाय यही है, कि इस तन की बांबी में बैठे मन के विषधर पर ही साधना का प्रहार किया जाए। भारतीय साधना का लक्ष्य आन्तरिक विकारों का प्रशमन है। यह तन की बांबी और इन्द्रियाँ हमारी साधना के लक्ष्य नहीं हैं। शरीर को नष्ट करने से और शरीर को कष्ट देने मात्र से ही यदि आत्मा का कल्याण सम्भव होता तो कैलाश पर्वत पर अतिवादी साधना करने वाले तापसों का कल्याण कभी का हो गया होता। किन्तु उस अतिवादी साधना से उनके मन के विकार और विकल्प टूटे नहीं। तमसाच्छन्न मिथ्यात्व भूमिका से एक कदम भी आगे नहीं बढ़ पाए। गणधर गौतम के उपदेश से जब उनकी दृष्टि बदली तब ही उन्हें केवल ज्ञान और केवल दर्शन की उपलब्धि हो सकी।

जैन धर्म यह कहता है कि किसी भी प्रकार की साधना करो जप की तप की आचार की अथवा ध्यान की परन्तु अपने मन के विकार और विकल्पों को दूर करने का ही प्रयत्न होना चाहिए। जो तप हमारी मन की शान्ति को भंग करता है अथवा मन के समभाव को भंग करता है, वह

ऊपर से नीचे चला जाए। यह परिहास नही तो और क्या है ? सामायिक करना अच्छा है, बहुत अच्छा है, किन्तु विवेक के अभाव मे इस उत्तम साधना का भी मजाक बन जाता है। सामायिक की साधना का लक्ष्य है, मन मे समता-भाव बढे, ज्ञान की ज्योति जगे, किन्तु जिस सामायिक की साधना से मन की विषमता बढती हो, मन की समाधि भग होती हो, अज्ञान का अधकार और गहरा होता हो, उस साधना को विवेकमयी साधना नही कहा जा सकता। आज हजारो लाखो श्रावक और श्राविकाएँ सामायिक की साधना करते हैं, प्रतिदिन प्रतिक्रमण भी करते हैं, किन्तु यदि सामायिक करने पर और प्रतिक्रमण करने पर भी मन मे समता-भाव न आए, मन स्थिर न रहे, तो समझना चाहिए कि हमारी यह साधना, साधना नही है। जैन धर्म मे और जैन सस्कृति मे विवेक शून्य साधना का कुछ भी मूल्य नही है। जिस साधना के पीछे ज्ञान और विवेक न हो, वह देह-कष्ट मात्र है, साधना नही है।

●

लोभ को जीता नहीं। भूखा और प्यासा रहना तपस्या नहीं है। सच्ची तपस्या है अपने कषायभाव को जीतना। मन के विकार और विकल्पों को जीतना ही सच्ची साधना है। इतने वर्षों तक तुमने तप की साधना को कठोर आचार का पालन किया अन्य सब कुछ किया किन्तु तुम्हारी आत्मा में छुपकर बैठे इस क्रोध के विषधर को मारने का तुमने कोई प्रयत्न नहीं किया। तुम्हारा प्रहार इस तन की बाँबी पर ही होता रहा किन्तु अन्दर में बैठे क्रोध के विषधर पर प्रहार करने का तुमने प्रयत्न नहीं किया। इसलिए तुम्हारी तप की साधना निष्फल है, व्यर्थ है। जब तुम क्रोध में अपने अंग को ही तिनके की तरह तोड़ कर फेंक सकते हो तब तुम यदि दूसरे पर क्रोध करो तो उसकी तो गर्दन ही मरोड़ डालो।

मैं आपसे कह रहा था कि साधना कितनी भी उग्र क्यों न हो यदि उसमें मन के विकार और विकल्पों को दूर करने की क्षमता नहीं है तो वह साधना सब व्यर्थ है, अर्थहीन है। तन की साधना साधना नहीं है, साधना के हर क्षेत्र में विवेक विचार की अपेक्षा से मन की साधना ही साधना है।

एक बार विहार करते हुए हम एक ग्राम में ठहरे। वहाँ के लोगों ने व्याख्यान देने के लिए आग्रह किया। व्याख्यान प्रारम्भ हो गया। एक बहिन सामायिक लेकर व्याख्यान सुन रही थी। व्याख्यान समाप्त हो गया और सभी श्रोता धीरे-धीरे चले गए, केवल वह बहन अभी भी बैठी ही रही। कारण यह था कि वह कुछ देर से आई थी और अभी उसके सामायिक पूरा होने में कुछ विलम्ब था। उसके पास दो रेत की घड़ियाँ थीं जो उसने अपने दाएँ और बाएँ रखी हुई थीं। वह कभी इस घड़ी को हिलाती और कभी उस घड़ी को हिलाती। यह तमाशा बहुत देर से चल रहा था। आखिर मैंने उस बहिन से पूछा—"तुम यह क्या कर रही हो?" उसने कहा— 'महाराज मैंने दो रेत घड़ी रखी हैं, इससे मेरी दो सामायिक हो जाएँगी। एक इस घड़ी से और दूसरी उस घड़ी से। मैं घड़ी को बार-बार इसलिए हिला रही हूँ कि ऊपर की रेत शीघ्र ही नीचे चली जाए, जिससे कि मेरी सामायिक शीघ्र पूरी हो जाएँ।

आप इस घटना को सुनकर हँस सकते हैं और हँसी की यह बात भी है। भोली श्राविका को यह भी परिबोध नहीं कि सामायिक आत्मा की वस्तु है, या बाहर की वस्तु है। वह सामायिक के काल-परिमाण की जानकारी के लिए रखी जाने वाली रेत की घड़ी को ही सामायिक समझे हुए है और इस प्रकार एक मुहूर्त में दो घड़ियों से दो सामायिक करना और फिर उसमें भी शीघ्रता करना घड़ी को बार-बार हिलाना जिससे कि रेत शीघ्र ही

"अनित्यानि शरीराणि, विभवो नैव शाश्वत ।
नित्य सन्निहितो मृत्यु, कर्तव्यो धर्म-सग्रह ।"

शरीर अनित्य है, धन और वैभव भी शाश्वत नही है, मृत्यु सदा सिर पर मँडराता रहता है । न जाने कब मृत्यु आकर पकड़ले, अत जितना हो सके धर्म कर लेना चाहिए ।

मैं आपसे अनित्यता और क्षण भगुरता की बात कह रहा था । भारतीय सस्कृति और भारतीय दर्शन का यह अटल विश्वास है कि मौत हर इन्सान के पीछे छाया की तरह चल रही है । जिस दिन जन्म लिया था, उसी दिन से इन्सान के पीछे मौत लग चुकी थी । न जाने वह कब झपट ले और कब हमारे जीवन को समाप्त करदे । जीवन का यह खिला हुआ फूल न जाने कब ससार की डाली से झड कर अलग हो जाए । जीवन, नदी के उस प्रवाह के तुल्य है, जो निरन्तर बहता ही रहता है । भगवान महावीर ने इस मानव जीवन को अनित्य और क्षण भगुर बताते हुए कहा है, कि यह जीवन कुश के अग्रभाग पर स्थित जल-बिन्दु के समान है । मरण के पवन का झोका लगते ही यह धराशायी हो जाता है । जिस शरीर पर मनुष्य अभिमान करता है, वह शरीर भी विविध प्रकार के रोगो से आक्रान्त है । पीडाओ और व्यथाओ का निधि है । न जाने कब और किस समय और कहाँ पर इसमे से रोग फूट पडे ? यह सब कुछ होने पर भी, भारतीय दर्शन और भारतीय सस्कृति के उद्गाता उस दु ख का केवल रोना रोकर ही नही रह गए । क्षण भगुरता और अनित्यता का उपदेश देकर ही नही रह गए । केवल मनुष्य के दु ख की बात कह कर और अनित्यता की बात कह कर तथा क्षण-भगुरता की बात कह-कर, निराशा के गहन गर्त में लाकर उसने जीवन को धकेल नही दिया, बल्कि निराश, हताश और पीडित जीवन को उसने आशा का सुन्दर उपदेश भी दिया है । उसने कहा कि आगे बढते जाओ । जीवन की क्षण भगुरता और अनित्यता हमारे जीवन का आदर्श और लक्ष्य नही है । अनित्यता और क्षण-भगुरता का उपदेश केवल इसीलिए है, कि हम जीवन मे और धन वैभव मे आसक्त न बनें । जब जीवन को और उसके सुख-साधनो को अनित्य और क्षण भगुर मान लिया जाएगा, तब उनमे आसक्ति नही जगेगी । आसक्ति का न होना ही भारतीय सस्कृति की साधना का मूल लक्ष्य और चरम उद्देश्य है ।

भारतीय सस्कृति मे जीवन के दो रूप माने गए हैं—मर्त्य-जीवन और अमर्त्य जीवन । इस जीवन मे कुछ वह है, जो अनित्य है और जो क्षणभगुर

जीवन की क्षण-भंगुरता

भारतीय दर्शन और भारतीय संस्कृति में दुःख और क्लेश तथा अनित्यता और क्षण भंगुरता के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है और बहुत कुछ लिखा गया है। यही कारण है कि पाश्चात्य विद्वान भारतीय दर्शन की उत्पत्ति अनित्यता और दुःख में से ही मानते हैं। क्या दुःख और अनित्यता भारतीय दर्शन का मूल हो सकता है? यह एक गम्भीर प्रश्न है जिस पर भारत की अपेक्षा भारत से बाहर अधिक विचार किया गया है। जीवन अनित्य है और जीवन दुःखमय है, इस चरम सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता। सम्भवतः पाश्चात्य जगत के विद्वान भी इस सत्य को ओझल नहीं कर सकते। जीवन को अनित्य दुःखमय क्लेशमय क्षण भंगुर मानकर भी भारतीय दर्शन आत्मा को एक अमर और शाश्वत तत्त्व मानता है। आत्मा को अमर और शाश्वत मानने का यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन न होता हो। परिवर्तन जगत का एक शाश्वत नियम है। चेतन और अचेतन दोनों में ही परिवर्तन होता है। इतनी बात अवश्य है कि जड़गत परिवर्तन की प्रतीति शीघ्र हो जाती है जबकि चेतनगत परिवर्तन की प्रतीति शीघ्र नहीं होने पाती। यदि चेतन में परिवर्तन न होता तो आत्मा का दुःखी से सुखी होना और अशुद्ध से शुद्ध होना यह कैसे सम्भव हो सकता था। जीवन और जगत में प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। दर्शन शास्त्र का यह एक चरम सत्य है।

मैं आपसे अनित्यता और दुःख की बात कह रहा था। भारतीय दर्शन अनित्य में से और दुःख में से जन्म लेता है। भगवान महावीर ने कहा है— अणिच्चे जीव-लोगम्मि। यह संसार अनित्य है और क्षण भंगुर है। क्या ठिकाना है इसका? कौन यहाँ पर अजर अमर बनकर आया है? संसार में शाश्वत और नित्य कुछ नहीं है। यही बात बुद्ध ने भी कही है— 'अनिच्चा संखारा'॥ यह संस्कार अनित्य है। और क्षण भंगुर है। विशाल-बुद्धि व्यास ने भी कहा है—

"अनित्यानि शरीराणि, विभवो नैव शाश्वत ।
नित्य सन्निहितो मृत्यु, कर्तव्यो धर्म-सग्रह ।"

शरीर अनित्य है, धन और वैभव भी शाश्वत नही है, मृत्यु सदा सिर पर मँडराता रहता है। न जाने कब मृत्यु आकर पकड़ले, अत जितना हो सके धर्म कर लेना चाहिए ।

मैं आपसे अनित्यता और क्षण भगुरता की बात कह रहा था । भारतीय सस्कृति और भारतीय दर्शन का यह अटल विश्वास है कि मौत हर इन्सान के पीछे छाया की तरह चल रही है। जिस दिन जन्म लिया था, उसी दिन से इन्सान के पीछे मौत लग चुकी थी । न जाने वह कब झपट ले और कब हमारे जीवन को समाप्त करदे । जीवन का यह खिला हुआ फूल न जाने कब ससार की डाली से झड कर अलग हो जाए । जीवन, नदी के उस प्रवाह के तुल्य है, जो निरन्तर बहता ही रहता है । भगवान महावीर ने इस मानव जीवन को अनित्य और क्षण भगुर बताते हुए कहा है, कि यह जीवन कुश के अग्रभाग पर स्थित जल-बिन्दु के समान है । मरण के पवन का झोका लगते ही यह धराशायी हो जाता है । जिस शरीर पर मनुष्य अभिमान करता है, वह शरीर भी विविध प्रकार के रोगो से आक्रान्त है । पीडाओ और व्यथाओ का निधि है । न जाने कब और किस समय और कहाँ पर इसमे से रोग फूट पडे ? यह सब कुछ होने पर भी, भारतीय दर्शन और भारतीय सस्कृति के उद्गाता उस दुख का केवल रोना रोकर ही नही रह गए। क्षण भगुरता और अनित्यता का उपदेश देकर ही नही रह गए । केवल मनुष्य के दुख की बात कह कर और अनित्यता की बात कह कर तथा क्षण-भगुरता की बात कह-कर, निराशा के गहन गर्त मे लाकर उसने जीवन को धकेल नही दिया, बल्कि निराश, हताश और पीडित जीवन को उसने आशा का सुन्दर उपदेश भी दिया है । उसने कहा कि आगे बढते जाओ। जीवन की क्षण भगुरता और अनित्यता हमारे जीवन का आदर्श और लक्ष्य नही है। अनित्यता और क्षण-भगुरता का उपदेश केवल इसीलिए है, कि हम जीवन मे और धन वैभव मे आसक्त न बनें । जब जीवन को और उसके सुख-साधनो को अनित्य और क्षण भगुर मान लिया जाएगा, तब उनमे आसक्ति नही जगेगी । आसक्ति का न होना ही भारतीय सस्कृति की साधना का मूल लक्ष्य और चरम उद्देश्य है ।

भारतीय सस्कृति मे जीवन के दो रूप माने गए हैं—मर्त्य-जीवन और अमर्त्य जीवन। इस जीवन मे कुछ वह है, जो अनित्य है और जो क्षणभगुर

है। और इस जीवन में वह भी है जो अमर्त्य है, जो अमृत है और जो अमर है। जीवन का मर्त्य भाग क्षण-प्रतिक्षण नष्ट होता जा रहा है समाप्त होता जा रहा है। जिस प्रकार अञ्जलि में भरा हुआ जल बूँद-बूँद करके रिसता चला जाता है, उसी प्रकार जीवन-पुञ्ज में से जीवन के क्षण निरन्तर खिरते रहते हैं। जिस प्रकार एक फूटे घड़े से बूँद-बूँद करके जल निकलता रहता है और कुछ काल में घड़ा खाली हो जाता है, मानवीय जीवन की भी यही स्थिति है और यही दशा है। जीवन का मर्त्य भाव अनित्य है, क्षणभंगुर है और विनाशशील है। यह तन अनित्य है, यह मन अनित्य है, ये इन्द्रियाँ क्षणभंगुर हैं तथा धन और सम्पत्ति चंचल है। परिजन और परिवार आज है और कल नहीं। घर की लक्ष्मी उस बिजली की रेखा के समान है, जो चमक कर के क्षण भर में विलुप्त हो जाती है। जरा सोचिए तो इस अन्त-हीन और सीमा-हीन संसार में किसकी विभूति नित्य रही है और किसका ऐश्वर्य स्थिर रहा है? रावण का परिवार कितना विराट था। दुर्योधन का परिजन और परिवार कितना विस्तृत एवं व्यापक था। उन सब को ध्वस्त होते और मिट्टी में मिलते क्या देर लगी? जिस प्रकार जल का बुद्-बुद् जल से जन्म लेता है और जल में ही विलीन हो जाता है, उसी प्रकार धन वैभव और ऐश्वर्य मिट्टी में से जन्म पाता है और अन्त में मिट्टी में ही विलीन हो जाता है। भारतीय संस्कृति का यह वैराग्य रोने और बिलखने के लिए नहीं है बल्कि इसलिए है कि जीवन के मर्त्य भाव में हम आसक्त न बनें और जीवन के किसी भी मर्त्य रूप को पकड़ कर हम न बैठ जाएँ। सब कुछ पाकर भी और सबके मध्य रहकर भी हम समझें कि यह हमारा अपना रूप नहीं है। यह सब माया है और चला जाएगा। जो कुछ आता है वह जाने के लिए ही आता है स्थिर रहने के लिए और टिकने के लिए नहीं। भारतीय दर्शन और भारतीय संस्कृति का यह अनित्यता और क्षणभंगुरता का उपदेश जीवन को जागृत करने के लिए है, जीवन को बन्धनों से विमुक्त करने के लिए है।

मैं आपसे जीवन के दो रूपों की चर्चा कर रहा था। जीवन के मर्त्य भाव की चर्चा आपने सुनी है। जीवन का दूसरा रूप है, अमर्त्य अमृत और अमर। जीवनके अमर्त्य भाग को आलोक और प्रकाश कहा जाता है। अमृत का अर्थ है—कभी न मरने वाला। अमर का अर्थ है—जिस पर मृत्यु का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। वह क्या तत्व है? इसके उत्तर में भारतीय दर्शन कहता है, कि इस क्षण भंगुर, अनित्य और मर्त्य शरीर में जो कुछ अमर्त्य है, जो कुछ अमृत है और जो कुछ अमर है, वही आत्म-तत्व है। यह आत्म-तत्व वह तत्व है, जिसका न कहीं आदि है, न कहीं मध्य है और न कहीं अन्त है। यह आत्म

तत्व अविनाशी है, नित्य है और शाश्वत है। न कभी इसका जन्म हुआ है और न कभी इसका मरण होगा। भारत के प्राचीन दार्शनिको ने अपनी समग्र शक्ति इसी अविनाशी तत्व की व्याख्या मे लगादी थी। आत्मा क्या है ? वह ज्ञान है, वह दर्शन है वह चरित्र है, वह आलोक है, वह प्रकाश है। अमृत वह होता है, जो अनन्त काल से है और अनन्तकाल तक रहेगा।

उपनिषद् के एक ऋषि ने कहा है—"अमृतस्य पुत्रा ।" हम सब अमृत के पुत्र हैं। हम सब अमृत हैं, हम सब शाश्वत हैं और हम सब नित्य हैं। अमृत आत्मा का पुत्र अमृत ही हो सकता है, मृत नही। ईश्वर अमृत है और हम सब उसके भक्त-पुत्र है। जिन और सिद्ध शाश्वत हैं, इसलिए हम सब शाश्वत हैं और नित्य हैं। इस अमृत भाग को जिसने जान लिया और समझ लिया, उस आत्मा के लिए इस ससार मे कही पर भी न रोग है, न शोक है, न क्षोभ है और न मोह है। क्षोभ और मोह की उत्पत्ति जीवन के मर्त्य भाग मे होती है, अमर्त्य भाग मे से नही। किसी का प्रियजन मर जाता है, तो वह विलाप करता है। मैं पूछता हूँ कि विलाप किसका किया जाता है ? आत्मा का अथवा देह का ? आत्मा के लिए विलाप करना एक बहुत बडा अज्ञान ही है, क्योकि वह सदाकाल के लिए शाश्वत है, फिर उसके लिए विलाप क्यो ? यदि शरीर के लिए विलाप करते हो, तो यह भी एक प्रकार की मूर्खता ही है, क्योकि शरीर तो क्षणभगुर ही है, अनित्य ही है, वह तो मिटने के लिए ही बना था। अनन्त अतीत मे वह अनन्त बार बना है और अनन्त बार मिटा है। अनन्त अनागत मे भी वह अनन्त बार बन सकता है और अनन्त बार मिट सकता है, जिसका स्वभाव ही बनना और बिगडना है, उसके लिए विलाप क्यो ? जीवन मे जो अमर्त्य है, वह कभी नष्ट नही होता और जीवन मे जो मर्त्य है, वह टिक कर रह नही सकता। अत क्षण भगुरता की दृष्टि से और नित्यता की दृष्टि से भी विलाप करना अज्ञान का ही द्योतक है। जो कुछ मर्त्य भाग है, वह किसी का भी क्यो न हो और किसी भी काल का क्यो न हो, कभी स्थिर नही रह सकता। चक्रवर्ती का ऐश्वर्य और तीर्थंकर की विभूति, देवताओ की समृद्धि तथा मनुष्यो का वैभव कभी स्थिर नही रहा है और कभी स्थिर नही रहेगा, फिर एक साधारण मनुष्य की साधारण धन-सम्पत्ति स्थिर कैसे रह सकती है। इस जीवन मे जितना सम्बन्ध है, वह सब शरीर का है, आत्मा का तो सम्बन्ध होता नही है। इस जीवन मे जो कुछ प्रपच है, वह सब शरीर का है, आत्मा तो प्रपच-रहित होता है। प्रपच और विकल्प तनमन के होते है, आत्मा के नही, किन्तु अज्ञानवश हमने इनको अपना समझ लिया है और इसी कारण

हमारा यह जीवन दुःखमय एवं क्लेशमय है। जीवन के इस दुःख और क्लेश को क्षण भंगुरता और अनित्यता के उपदेश से दूर किया जा सकता है। क्योंकि जब तक मन के विषय में अपनत्व-बुद्धि रहती है तब तक ममत्व के बन्धन से विमुक्ति कैसे मिल सकती है। परमें स्वबुद्धि को तोड़ने के लिए ही अनित्यता का उपदेश दिया गया है।

एक बार की बात है। मैं राजस्थान से गुजरात की ओर विहार-यात्रा कर रहा था। मार्ग में आबू पड़ता था। किसी भी इतिहास प्रसिद्ध स्थान को देखने की भावना मेरे मन में उठा करती है। यद्यपि आबू जाने में और वहाँ से लौटने में काफी चक्कर लगता था फिर भी आबू देखने का संकल्प कर ही लिया। मेरा स्वास्थ्य उन दिनों में ठीक न था फिर पहाड़ की चढ़ाई करनी थी। अतः साथ के साथी सन्तों ने मेरे जाने के संकल्प का समर्थन नहीं किया। फिर भी मैंने अपने संकल्प में शैथिल्य नहीं आने दिया और आबू की विहार यात्रा प्रारम्भ हो गई। जब हम आबू की चढ़ाई चढ़ रहे थे तब मार्ग में एक वैष्णव सन्त मिला। बहुत बूढ़ा और साथ ही बहुत दुबला पतला। उसकी लम्बी दाढ़ी और लम्बी जटा उसकी सौम्यता की अभिव्यक्ति कर रही थी। जटा के केश भी श्वेत दाढ़ी के बाल भी श्वेत और हाथों के रोम भी सफेद थे। यह सब कुछ होने पर भी उसके शरीर में स्फूर्ति थी और उसके कदमों में बल था। वह तेजी के साथ बढ़ा चला आ रहा था। कुछ सन्त जो मुझसे आगे चल रहे थे उन्हें देखकर वह बोला—नमस्कार, नमस्कार। वह बूढ़ा सन्त सन्तों से कहने लगा—'क्या आप मुझे जानते हैं ?' एक सन्त ने इन्कार किया तो दूसरे से पूछा और दूसरे ने इन्कार किया तो तीसरे से पूछा। इस प्रकार सभी सन्तों से उसने एक ही प्रश्न पूछा कि क्या आप मुझे जानते हैं ? किन्तु सभी सन्तों ने इन्कार कर दिया कि हम आपको नहीं जानते। वह बूढ़ा वैष्णव सन्त सन्तों के इन्कार को सुनकर खिल खिलाकर हँस पड़ा और एक मधुर मुस्कान के साथ बोला—'आश्चर्य है आप लोग मुझ चिर-परिचित को भी नहीं जानते।' इतने में मैं भी उन सबके समीप पहुँच चुका था। मैंने आगे बढ़कर उस वैष्णव सन्त से कहा—ये लोग आपको नहीं जानते न जानें किन्तु मैं आपको जानता हूँ। वह बूढ़ा सन्त बोला—"कैसे जानते हो ?" मैंने कहा कि—इसमें जानने की क्या बात है ? मैं भी आत्मा हूँ और आप भी आत्मा हैं। आत्मा आत्मा को न जाने यह कैसे सम्भव हो सकता है ? वह बूढ़ा सन्त गद्गद हो गया और मुझसे लिपट गया। आत्म विभोर होकर वह कहने लगा—'तेरी और मेरी पहचान सच्ची है। इन सबमें तू ही सच्चा साधक है और जो सच्चा साधक होता है वही आत्मा को पहचानता

है। जो केवल शरीर मे ही अटक जाता है, वह इस अजर अमर आत्मा को कैसे पहचान सकता है।"

बात यह है, कि तन की पहचान सरल है, किन्तु आत्मा की पहचान कठिन है। हम परिचय चाहते हैं शरीर का, हम परिचय चाहते है इन्द्रयो का और हम परिचय चाहते हैं वैभव और विभूति का। फिर भला आत्मा का परिचय हो तो कैसे हो ? भोग और विलास तथा वैभव और विभूति के इस झुरमुट मे हम इतने खो चुके हैं कि हमे अपने गन्तव्य मार्ग का ही परि-बोध न रहा। गन्तव्य पथ को भूल जाना ही हमारे जीवन की सबसे विकट और सबसे भयकर विडम्बना है। गृहस्थ होकर रहें तो क्या और साधु बनकर जिए तो क्या ? जब तक आत्मबोध नही होता तब तक कुछ नही है। आत्म-परिबोध के अभाव मे हमने साधु बनकर क्या छोडा ? आप कह सकते हैं कि अपना परिवार छोड दिया। माना कि अपना परिवार छोडा, किन्तु अपनी सम्प्रदाय का परिवार अपना लिया। फिर छोड कर भी क्या छोडा ? अपनी धन-सम्पत्ति को छोडा, पर मान और प्रतिष्ठा के धन क समेट कर बैठ गए। अपने वैभव का अहकार छोडा, किन्तु अपने ज्ञान - अहकार मे उलझ गए। मेरे कहने का मतलब यह है कि एक जाल टूटा त। दूसरे जाल मे जाकर फस गए। एक बन्धन से निकले और दूसरे बन्धन मे बध गए। मैं इस प्रकार की साधना को साधना नही कह सकता। मैं इस प्रकार के साधना के प्रयत्ना को विमुक्ति का प्रयत्न नही मानता। राग मे पकडने की शक्ति है, जब तक वह रहेगा किसी को पकडता ही रहेगा। माँ-बाप को छोडा, गुरु को पकड लिया। परिवार को छोडा, सम्प्रदाय को पकड लिया, धन-सम्पत्ति को छोडा, पूजा और प्रतिष्ठा को पकड लिया। मतलब यह है कि पकड मिटी नही है। और जब तक पकड न मिटे तब तक अभीष्ट की सिद्धि हो नही सकती। मैं आपसे यह कह रहा था, भारतीय सस्कृति और भारतीय दर्शन मे अनित्यता और क्षण-भगुरता का उपदेश बार-बार इसीलिए दिया गया है, कि हम इस पकड की जकड से बच सकें। जब तक आत्मा राग की पकड मे जकडा रहेगा, तब तक दु ख और क्लेश से उसे छुटकारा नही मिल सकता। दु ख और क्लेश से छुटकारा प्राप्त करना ही, भारतीय सस्कृति के मूल उद्देश्यो मे, सबसे गम्भीर और सबसे समीचीन उद्देश्य है। इस लक्ष्य पर पहुँचने के लिए ही, अनित्यता और क्षण भगुरता का उपदेश दिया गया है। जीवन-यात्रा मे हताश और निराश होकर विलाप करने के लिए अनित्यता और क्षण भगुरता का उपदेश नही दिया गया है।

हमारा यह जीवन दुःखमय एवं क्लेशमय है। जीवन के इस दुःख और क्लेश को अन्य भंगुरता और अनित्यता के उपदेश से दूर किया जा सकता है। क्योंकि जब तक मन के विषय में अपनत्व-बुद्धि रहती है तब तक वैभव के बन्धन से विमुक्ति कैसे मिल सकती है। परमें स्वबुद्धि का तोड़ने के लिए ही अनित्यता का उपदेश दिया गया है।

एक बार की बात है। मैं राजस्थान से गुजरात की ओर विहार-यात्रा कर रहा था। मार्ग में आबू पड़ता था। किसी भी इतिहास प्रसिद्ध स्थान को देखने की भावना मेरे मन में उठा करती है। यद्यपि आबू जाने मे और वहाँ से लौटने में काफी चक्कर लगता था फिर भी आबू देखने का संकल्प कर ही लिया। मेरा स्वास्थ्य उन दिनों में ठीक न था फिर पहाड़ की चढ़ाई करनी थी। अतः साथ के साथी सन्तों ने मेरे जाने के संकल्प का समर्थन नहीं किया। फिर भी मैंने अपने संकल्प में शैथिल्य नहीं आने दिया और आबू की विहार यात्रा प्रारम्भ होगई। जब हम आबू की चढ़ाई चढ़ रहे थे तब मार्ग में एक वैष्णव सन्त मिला। बहुत बूढ़ा और साथ ही बहुत दुबला पतला। उसकी लम्बी दाढ़ी और लम्बी जटा उसकी सौम्यता की अभिव्यक्ति कर रही थी। जटा के केश भी श्वेत दाढ़ी के बाल भी श्वेत और हाथों के रोम भी सफेद थे। यह सब कुछ होने पर भी उसके शरीर में स्फूर्ति थी और उसके कदमों में दम था। वह तेजी के साथ बढ़ा चला आ रहा था। कुछ सन्त जो मुझसे आगे चल रहे थे उन्हें देखकर वह बोला—नमस्कार, नमस्कार। वह बूढ़ा सन्त सन्तों से कहने लगा— क्या आप मुझे जानते हैं? एक सन्त ने इन्कार किया तो दूसरे से पूछा और दूसरे ने इन्कार किया तो तीसरे से पूछा। इस प्रकार सभी सन्तों से उसने एक ही प्रश्न पूछा कि क्या आप मुझे जानते हैं? किन्तु सभी सन्तों ने इन्कार कर दिया कि हम आपको नहीं जानते। वह बूढ़ा वैष्णव सन्त सन्तों के इन्कार को सुनकर खिल खिलाकर हँस पड़ा और एक मधुर मुस्कान के साथ बोला— आश्चर्य है आप लोग मुझ चिर-परिचित को भी नहीं जानते!' इतने में मैं भी उन सबके समीप पहुँच चुका था। मैंने आगे बढ़कर उस वैष्णव सन्त से कहा— ये लोग आपको नहीं जानते न जानें किन्तु मैं आपको जानता हूँ। वह बूढ़ा सन्त बोला— कैसे जानते हो?" मैंने कहा कि— इसमें जानने की क्या बात है? मैं भी आत्मा हूँ और आप भी आत्मा हैं। आत्मा आत्मा को न जाने यह कैसे सम्भव हो सकता है?" वह बूढ़ा सन्त गद्गद हो गया और मुझसे लिपट गया। आत्म विभोर होकर वह कहने लगा—"तेरी और मेरी पहचान सच्ची है। इन सबमें तू ही सच्चा साधक है और जो सच्चा साधक होता है वही आत्मा को पहचानता

वक्र आत्मा सम्पूर्ण जगत को वक्रता और कुटिलता की दृष्टि से ही देखा करता है। जीवन मे कही भी उसे सरलता की अनुभूति नही होने पाती। और तो क्या, कुटिल आत्मा अपने स्वयम् के प्रति भी कुटिलता का ही व्यवहार करता है। कुटिल आत्मा का मन भी कुटिल होता है, वाणी भी कुटिल होती है और कर्म भी कुटिल होता है। शास्त्रीय परिभाषा मे कुटिल आत्मा को मिथ्या दृष्टि कहा जाता है। कुटिल आत्मा इस ससार मे सदा आसक्त रहता है। उसके जीवन मे किसी प्रकार का सयम और त्याग टिक नही पाता है। सरल आत्मा को अपेक्षा कुटिल आत्मा सदा हीन कोटि का ही रहता है। जगत कितना भी अच्छा क्यो न हो, किन्तु कुटिल आत्मा को वह कुटिल ही दृष्टिगोचर होता है। कुटिल आत्मा ससार मे कही पर भी किसी भी व्यक्ति मे गुण नही, अवगुण ही देखा करता है।

[भारतीय सस्कृति मे भोग की अपेक्षा योग को महत्व दिया गया है। अस-यम की अपेक्षा सयम का सगीत सुनाया गया है। भारतीय सस्कृति मे आज से ही नही, प्रारम्भ से ही तपोमय और त्यागमय जीवन गाथाओ का समादर किया गया है। मनुष्य तन से मनुष्य होकर भी जब तक मन से मनुष्य नही बनेगा, तब तक उसके जीवन का उत्थान और कल्याण नही हो सकेगा। आप चाहे कुछ भी क्यो न कहे, और चाहे कुछ भी क्यो न सोचें, किन्तु आपको जीवन-रहस्य की उप-लब्धि तब तक नही हो सकती, जब तक आपका जीवन त्यागमय और सयममय न हो जाए। जीवन का सार भोग नही, योग है, जीवन का सार हिंसा नही, अहिंसा है, जीवन का सार एकान्त नही अनेकान्त है तथा जीवन का सार सग्रह नही, परित्याग है। मैं आपसे यह कह रहा था, कि जीवन को सयम-शील बनाने के लिए और उसे भोग के कीचड मे से निकाल कर सयम की सुन्दर भूमि पर लाने के लिए अनित्य भावना के चिन्तन करने की आव-श्यकता है। जैन-धर्म मे द्वादश भावनाओ का सुन्दर विश्लेषण किया गया है, जिसमे सबसे पहली भावना अनित्य-भावना है। अनित्य-भावना का अभिप्राय यही है, कि इस तथ्य को सोचो और समझो कि यह जीवन परिवर्तनशील है, यह जीवन क्षणभगुर है, यह जीवन अनित्य है। विश्व की प्रत्येक वस्तु क्षण-भगुर और अनित्य है। इस प्रकार ससार की प्रत्येक वस्तु मे अनित्य भावना का चिन्तन करने से वैराग्य की उपलब्धि होती है। वैराग्य की उपलब्धि होने पर जीवन सयमी और त्यागमय बन जाता है। सयमी जीवन का समा-दर इस जगत के जन ही नही, सुरलोक के सुर भी उसका आदर और सत्कार करते है।

एक बार भगवान महावीर का समवसरण राजगृह मे लगा हुआ था, जिसमे

मैं आपसे अध्यात्म-जीवन की बात कह रहा था। जीवन का अध्यात्म वादी दृष्टिकोण समझने के लिए यह आवश्यक है कि भौतिक पदार्थों के आकर्षण से बचा जाए। जिस व्यक्ति के जीवन में जितना अधिक भौतिक पदार्थों का आकर्षण होगा उतना ही अधिक वह व्यक्ति अध्यात्म जीवन से दूर रहेगा। जब तक राग के विकल्प से विमुक्ति नहीं मिलेगी तब तक वास्तविक मुक्ति होना कथमपि सम्भव नहीं है। राग-संयुक्त आत्मा कर्म का बन्ध करता है और राग-वियुक्त आत्मा कर्म का उच्छेदन करता है। राग एक बन्धन-बीज है और इससे हजारों लाखों अंकुर जीवन की भूमि मे प्रस्फुटित हो जाते हैं। राग जिस मनोभूमि में जन्म लेता है उसी मनोभूमि मे उसे दग्ध भी किया जा सकता है। राग के विपरीत भाव वैराग्य भाव का जब तक हृदय में उद्भव न होगा तब तक रागात्मक विकल्प से विमुक्ति नहीं मिलेगी। वैराग्य के स्थिरीकरण के लिए यह आवश्यक माना गया है कि संसार की प्रत्येक वस्तु में अनित्यता और क्षण भंगुरता का दर्शन किया जाए। जब हमारे हृदय में यह विश्वास जम जाएगा कि संसार की प्रत्येक वस्तु अनित्य और क्षणभंगुर है, तब हमारे हृदय मे उस वस्तु के प्रति किसी भी प्रकार का आकर्षण नहीं रहेगा। संसार मे सभी प्रकार की वस्तु हैं सुन्दर भी और असुन्दर भी। सुन्दर वस्तु मे रागबुद्धि और असुन्दर वस्तु मे द्वेष-बुद्धि यही समस्त बुराइयों की जड़ है। मैं आपसे यह कह रहा था कि अनित्यता के उपदेश के द्वारा ही इस संसारासक्ति को दूर किया जा सकता है। क्षणभंगुरता और अनित्यता के उपदेश का यही एक मात्र रहस्य है।

शास्त्र में जीवन के दो रूप माने गये हैं—सरल जीवन और कुटिल जीवन। जो व्यक्ति सरल है वह सर्वत्र सरलता के ही दर्शन करता है। जिस व्यक्ति की आत्मा सरल होती है, उसका मन भी सरल होता है, उसका आचरण भी सरल होता है और उसका शील एवं स्वभाव भी सरल ही होता है। सरल आत्मा सम्पूर्ण जगत को सरलता की दृष्टि से ही देखता है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि जीवन मे सर्वत्र सरलता ही सरलता चाहिए। चिन्तन में सरलता हो भाषा मे भी सरलता हो और आचार में भी सरलता हो। जिसके मन में जिसकी वाणी में और जिसके कर्म में सरलता होती है, वह आत्मा सरल होता है, शास्त्रीय भाषा मे उस आत्मा को सम्यक् दृष्टि आत्मा कहा जाता है। सम्यक् दृष्टि आत्मा कभी भी अपनी सरलता का परित्याग नहीं करता है। इसके विपरीत कुटिल जीवन अथवा वक्रजीवन उसे कहा जाता है जिसमें किसी प्रकार की सरलता नहीं रहती। कुटिल और वक्र आत्मा की मति भी वक्र होती है, और उसका शील और स्वभाव भी वक्र ही होता है।

वक्र आत्मा सम्पूर्ण जगत को वक्रता और कुटिलता की दृष्टि से ही देखा करता है। जीवन मे कही भी उसे सरलता की अनुभूति नही होने पाती। और तो क्या, कुटिल आत्मा अपने स्वयम् के प्रति भी कुटिलता का ही व्यवहार करता है। कुटिल आत्मा का मन भी कुटिल होता है, वाणी भी कुटिल होती है और कर्म भी कुटिल होता है। शास्त्रीय परिभाषा मे कुटिल आत्मा को मिथ्या दृष्टि कहा जाता है। कुटिल आत्मा इस ससार मे सदा आसक्त रहता है। उसके जीवन मे किसी प्रकार का सयम और त्याग टिक नही पाता है। सरल आत्मा की अपेक्षा कुटिल आत्मा सदा हीन कोटि का ही रहता है। जगत कितना भी अच्छा क्यो न हो, किन्तु कुटिल आत्मा को वह कुटिल ही दृष्टिगोचर होता है। कुटिल आत्मा ससार मे कही पर भी किसी भी व्यक्ति मे गुण नहीं, अवगुण ही देखा करता है।

भारतीय सस्कृति मे भोग की अपेक्षा योग को महत्व दिया गया है। असयम की अपेक्षा सयम का सगीत सुनाया गया है। भारतीय सस्कृति मे आज से ही नही, प्रारम्भ से ही तपोमय और त्यागमय जीवन गाथाओ का समादर किया गया है। मनुष्य तन से मनुष्य होकर भी जब तक मन से मनुष्य नही बनेगा, तब तक उसके जीवन का उत्थान और कल्याण नही हो सकेगा। आप चाहे कुछ भी क्यो न कहे, और चाहे कुछ भी क्यो न सोचें, किन्तु आपको जीवन-रहस्य की उपलब्धि तब तक नही हो सकती, जब तक आपका जीवन त्यागमय और सयममय न हो जाए। जीवन का सार भोग नही, योग है, जीवन का सार हिंसा नही, अहिंसा है, जीवन का सार एकान्त नही अनेकान्त है तथा जीवन का सार सग्रह नही, परित्याग है। मैं आपसे यह कह रहा था, कि जीवन को सयमशील बनाने के लिए और उसे भोग के कीचड मे से निकाल कर सयम की सुन्दर भूमि पर लाने के लिए अनित्य भावना के चिन्तन करने की आवश्यकता है। जैन-धर्म मे द्वादश भावनाओ का सुन्दर विश्लेषण किया गया है, जिसमे सबसे पहली भावना अनित्य-भावना है। अनित्य-भावना का अभिप्राय यही है, कि इस तथ्य को सोचो और समझो कि यह जीवन परिवर्तनशील है, यह जीवन क्षणभगुर है, यह जीवन अनित्य है। विश्व की प्रत्येक वस्तु क्षणभगुर और अनित्य है। इस प्रकार ससार की प्रत्येक वस्तु मे अनित्य भावना का चिन्तन करने से वैराग्य की उपलब्धि होती है। वैराग्य की उपलब्धि होने पर जीवन सयमी और त्यागमय बन जाता है। सयमी जीवन का समादर इस जगत के जन ही नही, सुरलोक के सुर भी उसका आदर और सत्कार करते है।

एक बार भगवान महावीर का समवसरण राजगृह मे लगा हुआ था, जिसमे

देव और मनुष्य सब मिलकर उनकी धर्म-देशना सुन रहे थे। धर्म सभा में एक देव आया और वह भी भगवान का उपदेश सुनने लगा। इसी समय मगध के सम्राट राजा श्रेणिक भी भगवान का उपदेश सुनने के लिए धर्म-सभा में आया और यथा स्थान बैठ गया। संयोग की बात है कि बैठते ही राजा श्रेणिक को छींक आ गई। छींक को सुनकर उस देव ने कहा— 'जीते रहो महाराज!' इधर-उधर आस-पास में बैठे लोगों ने उस देव की इस बात को ध्यान से सुना। कुछ लोगों ने अपने मन में सोचा सम्राट ने छींका है इसीलिए इसने यह बात कही है। कहा जाता है कि उसी समय राजगृही का प्रसिद्ध कसाई काल सौकरिक भी उधर से कहीं जा रहा था उसे भी छींक आई और उसकी छींक को सुनकर देव ने कहा— 'न जी न मर।" लोगों ने इस बात पर भी अपने मन में विचार किया कि सम्राट की छींक पर इसने कुछ और कहा था और कसाई की छींक पर कुछ और ही कहा है। इधर सम्राट श्रेणिक के सुपुत्र और उनके राज्य के महामंत्री अभयकुमार, जो उसी धर्म सभा में बैठे उपदेश सुन रहे थे उन्हें भी छींक आई और उनकी छींक को सुनकर उस देवता ने कहा— 'चाहे जी चाहे मर।' श्रोताओं के मन में छींक के उत्तर में इस प्रकार भिन्न भिन्न विचार सुन कर बड़ा आश्चर्य हुआ। आश्चर्य की बात भी है कि छींक की क्रिया सबकी समान होने पर भी जो कुछ कहा गया वह एक न था। एक के लिए कहा जीते रहो। दूसरे के लिए कहा न जी न मर। तीसरे के लिए कहा—चाहे जी चाहे मर। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में यह जिज्ञासा उठ सकती है, कि आखिर इसमें रहस्य क्या है? रहस्य को जानने की अभिलाषा प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में सहज भाव से उठा करती है। भगवान महावीर जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे उन्होंने अपनी मधुमय वाणी में इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहा— 'इस देव ने जो कुछ कहा है वह ठीक ही कहा है। राजा श्रेणिक के लिए उसने जो यह कहा है कि जीते रहो यह ठीक ही है। क्योंकि श्रेणिक मगध का सम्राट है वह अपनी राजनीति के शासन में प्रजा का पालन करता है। इस जीवन में धन वैभव और ऐश्वर्य सब कुछ मिला है किन्तु यहाँ से मरने के बाद यह नरक में जाएगा जहाँ दुःख ही दुःख है। अतः उसके लिए शुभ आकांक्षा की है। जीते रहो मरोगे तो नरक में जाना पड़ेगा। राजकुमार अभयकुमार के लिए कहा कि चाहे जी चाहे मर! इसका अभिप्राय यह है कि अभयकुमार का जीवन एक शानदार जीवन है। इस जीवन में उसे अपार वैभव और ऐश्वर्य मिला है। अपने वर्तमान जीवन में भी वह संसार के कल्याण का काम कर रहा है। इस प्रकार का व्यक्ति जब तक जिए तब

तक अच्छा ही है और मरने के बाद भी वह सद्गति मे ही जाने वाला है, अत इस आत्मा के लिए देव ने कहा है, मरे तो भी ठीक और जिए तब भी ठीक। उसके दोनो हाथो लड्डू है। इस हाथ का खाए तब भी मीठा और उस हाथ का खाए तब भी मीठा। न इस हाथ का कडवा है और न उस हाथ का कडवा है। अभयकुमार के लिए जीवन भी शानदार है और मरण भी शानदार है। काल शौकरिक कसाई के लिए कहा है—"न जी, न मर।" यह ठीक ही कहा है, क्योंकि वह कसाई पांच सौ भैसा की रोज हत्या करता है, जब तक वह जिएगा हिंसा ही करता रहेगा, असत् कर्म ही करता रहेगा, अत उसका जीना अच्छा नही है। यदि वह मरता है तो नरक मे जाएगा, जहां उसे कष्ट ही कष्ट मिलेगा। अत काल शौकरिक के लिए उसने यही कहा कि न तेरा जीना ही अच्छा है, न तेरा मरना ही अच्छा है। जिस व्यक्ति के न जीवन से लाभ हो और न मरण से लाभ हो, उस व्यक्ति के जीवन को सफल जीवन नही कहा जा सकता। एक अच्छे साधक की परिभाषा यही है, कि "चाहे जी, चाहे मर।" जिस व्यक्ति का जीवन सुन्दर है, उसका मरण भी सुन्दर ही होता है। जिस व्यक्ति का जीवन वरदान है उस व्यक्ति का मरण भी वरदान ही होता है। जीवन का यह रहस्य उसी व्यक्ति की समझ मे आ सकता है, जिसने जीवन के रहस्य को समझने का प्रयत्न किया हो।

मैं आपसे जीवन की बात कह रहा था और यह कह रहा था कि अनित्य भावना के चिन्तन मे किस प्रकार विमल विवेक का उदय होता है। अनित्यता और क्षण-भगुरता का उपदेश विलाप करने के लिए नही है, यह तो इसलिए है, कि हम अपने जीवन को शानदार बना सकें, हम अपने जीवन को मगलमय बना सकें और हम अपने जीवन को इतना सुन्दर बना सकें कि हम उस कोटि मे पहुंच जाएं, जहां यह कहा जाता है—'चाहे जी, चाहे मर।' वस्तुत मैं उसी जीवन को महान जीवन कहता हूं, जिसका वर्तमान भी सुन्दर हो और जिसका भविष्य भी शानदार एव सुन्दर हो। जीवन के रागात्मक विकल्प को दूर हटाने के लिए ससार की प्रत्येक वस्तु मे क्षण भगुरता और अनित्यता का दर्शन करना, यही जीवन का निगूढ रहस्य है।

●

शक्ति ही जीवन है

जीवन में शक्ति की बड़ी आवश्यकता है। बिना शक्ति के न लौकिक कार्य सम्पन्न हो सकता है और न आध्यात्मिक साधना ही सम्पन्न की जा सकती है। प्रत्येक कार्य को सम्पन्न करने के लिए और उसे सफलता की सीमा पर पहुँचाने के लिए, शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की शक्ति अपेक्षित रहती है। समस्त सफलताओं के मूल में शक्ति ही एक मात्र उपादान है। विश्व का एक भी पदार्थ शक्तिहीन नहीं है। किसी में शक्ति प्रसुप्त रहती है और किसी में प्रबुद्ध। प्रसुप्त शक्ति को प्रबुद्ध करना ही विज्ञान का काम है। कोयला एक अचेतन तत्त्व है देखने से लगता है कि यह शक्तिहीन है, पर ज्यों ही अग्नि से उसका स्पर्श हो जाता है वह जल उठता है और उस एक ही कोयले में समग्र ग्राम और सम्पूर्ण नगर को अथवा समस्त वन को नष्ट करने की शक्ति आ जाती है। कोयले का अग्निरूप हो जाना ही उसकी शक्ति है। अवरुद्ध जल में प्रवाह नहीं होता वह प्रवाहहीन होकर शान्त पड़ा रहता है किन्तु जब बाँध टूट जाता है तो वह प्रवाह-हीन जल प्रवाहशील बनकर सर्वनाश उपस्थित कर देता है। बाढ़ का वेगवान जल जिस किसी भी तरफ निकल जाता है, हा-हाकार मचा देता है। बाँध के शान्त जल को देखकर कोई भी व्यक्ति उसकी प्रचण्ड शक्ति की कल्पना नहीं कर सकता था। जल के कण-कण में परिव्याप्त विद्युत-कणों को वैज्ञानिक प्रक्रिया के द्वारा एकत्रित करके जब

विद्युत का रूप दिया जाता है, तब उसकी महा प्रचण्ड शक्ति का अनुमान लगाना भी साधारण-बुद्धि का काम नही रहता। आज के युग मे कौन ऐसा व्यक्ति है, जो विद्युत की शक्ति से परिचित न हो। पवन जब मन्द-मन्द बहता है, तब कितना प्रिय, कितना रुचिकर और कितना सुखद लगता है, पर वही जब प्रचण्ड अन्धड का रूप ग्रहण कर लेता है, तब दुनिया मे तूफान बरपा कर देता है। यह सब शक्ति की महिमा है, यह शक्ति की गरिमा है। साधारण मनुष्य की साधारण बुद्धि का जब किसी तेजस्विनी प्रतिभा मे सस्पर्श हो जाता है, तब उसके जीवन मे एक चमत्कार पैदा हो जाता है। साधारण से साधारण प्रतिभा भी शक्ति के स्पर्श से असाधारण प्रतिभा बन जाती है। प्राणशक्ति-हीन एव कायर मनुष्य मे जब साहस की शक्ति का सचार हो जाता है, तब वह शक्ति-पुञ्ज बन जाता है। शक्ति का अधिवास जड और चेतन सभी मे होता है। आवश्यकता है, उसे अभिव्यक्त करके किसी कार्य मे लगा देने की। शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति अपनी प्रसुप्त शक्ति को प्रबुद्ध करके, असाधारण कार्य कर दिखाता है, जब कि आलस्य-ग्रस्त मनुष्य और अकर्मण्य मानव केवल अपनी आँखें ही मलता रहता है।

आपको यह ज्ञात ही है, कि जब राम को चतुर्दश वर्ष का वनवास मिला, और जब वे अपने राज्य अयोध्या को छोडकर विकट वनो की यात्रा कर रहे थे, तब उनके पास क्या साधन थे? पर अपनी आत्म शक्ति से उन्होने हनुमान जैसे दुधर्ष व्यक्ति को अपना अनन्य भक्त बना लिया और शक्तिशाली एव महा बलशाली शत्रु को पराजित करके किष्किन्धा राज्य पर सुग्रीव को बैठाकर, उसे भी अपना अनन्य मित्र बना लिया। साधन हीन राम साधन सम्पन्न बन गए। अपने पिता के घर से एक कण मात्र भी साधन लेकर वे नही निकले थे, किन्तु विकट वनो में रहकर भी, उन्होने सब कुछ पा लिया। स्व-उपार्जित शक्ति के बल पर ही उन्होने रावण जैसे, मेघनाद जैसे और कुम्भ-कर्ण जैसे प्रचण्ड शक्तिधर आततायी दैत्यो का दलन किया। यह सब कुछ उनको जीवन-शक्ति का ही चमत्कार है। अतीत काल के इतिहास के चमकदार पृष्ठो पर आप जिन चमकदार जीवन-गाथाओ को सुनते हैं, उन सबके मूल में शक्ति का ही प्रभाव और शक्ति का ही चमत्कार है।

शक्ति-सफलता का आधारभूत उपादान है। शक्ति के बिना कुछ भी सम्पन्न होना असम्भव है। कर्म के सभी रूपो में वह एक मौलिक तत्त्व है। यह समस्त विश्व-चक्र अजेय शक्ति की ही अभिव्यक्ति है। शक्ति ही वास्तविक जीवन है। शक्ति के बिना, जीवन की कल्पना नही की जा सकती। आदि युग

के मानव से लेकर इस विज्ञान युग के मानव तक मनुष्य ने जो कुछ आविष्कार किया है और जो कुछ पाया है वह सब कुछ उसके अदम्य उत्साह, अथाह परिश्रम और प्रसुप्त शक्ति को प्रबुद्ध करने का ही एक मात्र फल है। कर्महीन और क्रिया-हीन व्यक्ति अपने आपमें कितना ही शक्तिधर क्यों न हो वह इस विश्व में किसी भी प्रकार का महान् कार्य नहीं कर सकता। शक्तिशाली व्यक्ति ही वह व्यक्ति है जिसने अपनी शक्ति को झकझोर करके जागृत कर लिया है और जो अपनी श्रम-साधना से उपलब्धियों व लक्ष्यों की प्राप्ति करता है। मनुष्य का लक्ष्य अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी हो सकता है। किसी के आँसू बहाना यह भी उसका लक्ष्य हो सकता है और किसी के आँसू पोंछना यह भी उसका लक्ष्य हो सकता है। यदि लक्ष्य अशुभ है तो हम समझते हैं उसने अपनी शक्ति का दुरुपयोग किया है। लक्ष्य का अच्छापन इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि इस व्यक्ति ने अपनी शक्ति का शुभ प्रयोग किया है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति का प्रयोग करने से पहले यह विचार कर लेना चाहिए, कि मैं अपनी शक्ति का प्रयोग एवं उपयोग कहाँ कर रहा हूँ और उससे मुझे किस फल की उपलब्धि हो सकती है? याद रखिए दीवार पर घूँसा मारने से प्रहार करने वाले के ही हाथ में चोट लगती है। शक्ति अपने आपमें न शुभ है न अशुभ है। उसकी शुभता और अशुभता उसका प्रयोग करने वाले की भावना पर ही निर्भर है। हम यह नहीं समझ सकते कि किस व्यक्ति के मानस में किस प्रकार की भावना का उदय हो जाए किन्तु मन में भावना का जब उदय हो जाता है और किसी कार्य के द्वारा जब उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है तब हम उसकी भावना के अच्छेपन और बुरेपन को आसानी से समझ जाते हैं। पापी से पापी व्यक्ति में भी शक्ति होती है और पुण्यात्मा व्यक्ति में भी शक्ति होती है किन्तु दोनों की शक्ति का प्रयोग और उपयोग भिन्न-भिन्न परिणाम उपस्थित करता है। शक्ति होने पर भी उसके प्रयोग की सही दिशा का निर्णय करना आसान नहीं है। विवेक के अभाव में जो भी निर्णय होते हैं, उनका कभी सुफल नहीं होता।

शक्ति ही सामर्थ्य है। मन की शक्ति इन्द्रियों की शक्ति बुद्धि की शक्ति और शरीर की शक्ति शक्ति का एक रूप नहीं नाना रूप होते हैं। परन्तु जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ शक्ति के बिना संसार में किसी भी सफलता की प्राप्ति सम्भव नहीं है। अध्यात्म-दृष्टि से विचार किया जाए तो वही व्यक्ति वास्तव में शक्तिशाली होता है जो दूसरों को हानि पहुँचाने की शक्ति रखते हुए भी किसी को हानि नहीं पहुँचाता और अपनी शक्ति का प्रयोग अपने उत्थान में तथा दूसरों के उत्थान में ही करता है। एक व्यक्ति अपनी शक्ति का

प्रयोग पर-पीडन मे करता है और दूसरा व्यक्ति अपनी शक्ति का प्रयोग दूसरे के सरक्षण मे करता है। पहली शक्ति को हम हिंसा कहते हैं और दूसरी शक्ति को, अहिंसा। हिंसा अधर्म है, और अहिंसा धर्म। धर्म भी एक शक्ति है और अधर्म भी एक शक्ति है। कल्याण-पथ पर नियोजित शक्ति से धर्म होता है, और कुमार्ग पर नियोजित शक्ति से अधर्म होता है। मैं जो कुछ कहता हूँ, वही सत्य है, यह एकान्त है और जो कुछ मैं कहता हूँ, वह भी सत्य है और दूसरा जो कुछ कहता है उसमे भी सत्यांश हो सकता है, यह अनेकान्त है। एकान्त भी शक्ति है और अनेकान्त भी शक्ति है। एकान्त की भूमि मे से कलह के कटीले अकुर फूटते हैं और अनेकान्त की भूमि मे से सुरभित कुसुम फूटते हैं। शक्ति अपने आप मे एक अमूल्य वस्तु है। उसका उपयोग और प्रयोग यदि सही तरीके से किया जाए, तो उससे व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का हित ही होता है, अहित नही। निर्बल होकर जीवन जीने की अपेक्षा सबल होकर जीवन जीना निश्चय ही अच्छा है। प्रत्येक पिता अपने पुत्र को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न करता है और प्रत्येक गुरु अपने शिष्य को शक्ति-सम्पन्न होने की शिक्षा देता है। इसका अर्थ है—शक्तिशाली होना प्रत्येक दृष्टि से अच्छा ही है, बुरा नही। शास्त्रकार केवल इस प्रसग पर एक ही परामर्श देते हैं, कि शक्ति का प्रयोग करने से पूर्व जरा सोचो और समझो कि शक्ति का प्रयोग किस दिशा मे हो रहा है, सही दिशा मे अथवा गलत दिशा मे? मनन से मन की शक्ति बढती है, मौन से वाणी की शक्ति बढ़ती है और श्रम से शरीर की शक्ति बढती है। अपनी शक्ति को अक्षुण्ण रख कर और अपने प्रयोजन की सिद्धि मे उसका सुनियोजित प्रयोग करके मनुष्य जितना उसे घनीभूत करता है, उतनी ही मात्रा मे वह शान्त और निर्द्वन्द्व हो जाता है। शान्त भाव से अपनी शक्ति का प्रयोग करने वाला व्यक्ति अपने कार्य मे सफलता प्राप्त कर लेता है। व्यर्थ मे ही कोलाहल मचाने वाला व्यक्ति अपनी बिखरी हुई शक्ति का केन्द्रीकरण नही कर पाता। इसलिए किसी भी कार्य मे उसे सफलता के दर्शन नही होते। याद रखिए, शान्त पानी ही गहरा और गम्भीर होता है। वेग से आने वाला पानी वेग के साथ बह जाता है। शक्ति सम्पन्न व्यक्ति कभी दिवा स्वप्न नही देखता। वह जो कुछ सोचता है, उसे क्रियान्वित करने का भी वह सफल प्रयास करता है। शक्ति-हीन व्यक्ति दिवा-स्वप्न ही देखा करता है। विकल्पो के जाल मे वह इतना फँस जाता है, कि वह अपनी शक्ति को किसी भी एक कार्य मे एकाग्र नही कर सकता और सफलता उससे कोसो दूर रहती है। विकल्पो के आवेग मे बहकर अज्ञानी व्यक्ति अपने मन पर का अधिकार खो बैठता है और वह

अपनी गम्भीरता गरिमा और निर्णय-बुद्धि को घटिया विचारों से नष्ट कर देता है।

मैंने कहा आपसे कि शक्ति किसमें नहीं है, सभी में है। सृष्टि के कण-कण में शक्ति परिव्याप्त है। आवश्यकता है केवल उसे समझने की और कल्याण पथ पर प्रयोग करने की। यह तभी हो सकता है जब मनुष्य अपना ध्येय स्थिर करले अपना लक्ष्य स्थिर कर ले। जो जल इधर उधर बिखर जाता है, वह नदी नहीं बन सकता। नदी बनने के लिए किसी एक ही दिशा में प्रवाह और गति की आवश्यकता है। ध्येय हीन और लक्ष्य हीन व्यक्ति के जीवन में कभी भी प्रवाह और गति नहीं आ सकती। इस संसार में जो भी महापुरुष बना है, वह अपनी ध्येय-निष्ठा के कारण ही बना है। ध्येय-निष्ठा और लक्ष्य की स्थिरता प्राणहीन व्यक्ति में भी प्राण-शक्ति फूँक देती है। आप क्या बनना चाहते हैं? इसका निर्णय आपके अतिरिक्त दूसरा नहीं कर सकता। अपने भविष्य का चित्र आपको स्वयं ही तैयार करना है। आपके भविष्य की रूपरेखा दूसरा नहीं बना सकता क्योंकि अपनी शक्ति और अपनी योग्यता से जितने अधिक निकट परिचय में आप रहते हैं, दूसरा नहीं रह सकता। अपने मन की शक्ति को अपनी बुद्धि की शक्ति को और अपनी योग्यता की ताकत को जितना आप जान सकते हैं और पहचान सकते हैं, उतना अन्य दूसरा नहीं। आप स्वयं विचार कीजिए, कि आप क्या बनना चाहते हैं? कवि लेखक प्रवक्ता चित्रकार संगीतकार, योद्धा योगी तपस्वी और दान-वीर अथवा विश्वविजेता नेता। जो कुछ आप होना चाहते हैं उसका निर्णय अपने विवेक की सहायता से आपको ही करना है। मैं आपको केवल यह विश्वास दिला सकता हूँ कि आप शक्ति सम्पन्न हैं। आपमें शक्ति है। आपमें बल है। आप वही बन सकते हैं जो कुछ आप बनना चाहते हैं। यह हो सकता है, कि जो कुछ आप बनना चाहते हैं, उसमें देर सबेर लग जाए देर भले ही लग सकती है पर अन्धेर नहीं हो सकता। आप शान्त भाव से किसी शान्त स्थल पर बैठकर अपने मन से यह निर्णय करें कि वह जीवन के किस पथ पर चल सकता है। और जो कुछ आपका अन्तरङ्ग मन आपको निर्णय दे उस निर्णय को अपनी विवेक की कसौटी पर कसिए और फिर उसी पथ पर अपने जीवन की समग्र शक्ति को नियोजित कर दीजिए, फिर देखिए कि आपको सफलता कैसे नहीं मिलती। फिर आपके जीवन की स्थिति यह होगी कि आप सफलता और उपलब्धि को ठोकर मारेंगे तब भी वह आपका साथ न छोड़ेगी।

संसार में जिस किसी ने जो कुछ पाया है उसकी सफलता का एक मात्र

आधार, लक्ष्य-निर्णय और ध्येय-निष्ठा ही है। संसार के इतिहास के पृष्ठों पर जो भी चमकीले जीवन आपको नजर आते हैं, उनके जीवन की चमक और दमक का एक ही कारण है, अपनी बिखरी हुई शक्ति का एकीकरण और उसका किसी एक ही मार्ग पर नियोजीकरण। मेरे अपने विचार में ध्येय-निष्ठा ही अमरत्व का पथ है। जिन लोगों को अपने ध्येय में निष्ठा होती है, वे कभी असफलता का मुख नहीं देखते। अपने मन, अपनी वाणी और अपने शरीर की शक्ति का किसी एक कार्य में लगाना ही, ध्येय-निष्ठा है। हमारा जीवन क्या है? आप जीवन को क्या समझते हैं और किस रूप में मानते हैं? आपके मन की बात मैं नहीं कह सकता। अपने मन की बात को कहने का मुझे अधिकार है। मेरे विचार में हम जो कुछ कर्म करते हैं, वस्तुतः वही हमारा जीवन होता है। आज जो कुछ हम कर रहे हैं, भविष्य में वही हमारा भाग्य बन जाएगा। आज का श्रम कल का भाग्य होता है। हमारा भाग्य वही है, जो हमने किया था और जो कुछ आज कर रहे हैं, वही हमारा भाग्य बनने वाला है। इस दृष्टि से हम स्वयं ही अपने भाग्य के निर्माता हैं। कार्य करना और उसे समझदारी के साथ करना, यह हमारे अपने हाथ में होना चाहिए, तभी हम अपनी शक्ति को और अपने बल को तथा अपने पराक्रम को हम किसी एक लक्ष्य पर लगा सकेंगे। ध्येय निष्ठ लोग किसी कार्य को करके तब तक सन्तोष का अनुभव नहीं करते, जब तक उसमें उन्हें सफलता नहीं मिल जाती है। विश्वास कीजिए, अपनी शक्ति पर, अपनी आत्मा पर। फिर उसे आप जिस किसी भी पथ पर लगाना चाहेंगे, आसानी से लगा सकेंगे। आश्चर्य है, मनुष्य अपने धन पर विश्वास कर लेता है, अपने भौतिक साधनों पर विश्वास कर लेता है, परन्तु उसे अपने मन और अपनी आत्मा पर विश्वास नहीं होता। फूल में खिलने की शक्ति चाहिए भ्रमर अपने आप ही आ जाएँगे, उन्हें निमन्त्रण देने की आवश्यकता नहीं है। फूल महकता हो और भ्रमर न आएँ, यह कभी सम्भव ही नहीं है।। आपमें खिलने की शक्ति चाहिए, विकसित होने की शक्ति चाहिए, फिर संसार में आपको चाहने वालों की कमी नहीं रह सकती। यदि आपमें खिलने की और महकने की ताकत नहीं है, तो आपके जीवन के पृष्ठ को चमकदार जीवनगाथा से कौन लिख सकता है? कोई नहीं।

अभी एक प्रवक्ता आपके सामने दान की बात कर रहे थे। दान एक सत्कर्म है, एक शुभ कर्म है। इसमें किसी प्रकार का भी संशय नहीं किया जा सकता। दान पर प्राचीन शास्त्रों में बहुत कुछ लिखा गया है, बहुत कुछ कहा गया है। उसके अध्ययन का और मनन करने का मुझे अवसर मिला है। मैं दान को भी एक शक्ति मानता हूँ। शक्ति के बिना दान नहीं किया जा सकता। आप प्रश्न

कर सकते हैं, कि दान देने में शक्ति की क्या आवश्यकता है ? उत्तर में मेरा कहना है कि शक्तिहीन मनुष्य दान नहीं कर सकता। शक्ति-सम्पन्न मनुष्य ही दान कर सकता है। दान क्या है ? अपने मन की ममता पर विजय प्राप्त करना ही दान है। मन की ममता पर विजय प्राप्त करना बिना शक्ति के सम्भव नहीं है। ममता पर विजय प्राप्त करना ममता को जीतना बड़ी बहादुरी का काम है। इस कार्य को आप साधारण न समझें। जिस मनुष्य के मन की ममता नहीं मिटी है, मैं पूछता हूँ आपसे कि क्या वह दान कर सकता है ? यदि आप समझदारी से उत्तर देंगे तो आपका उत्तर यही होगा कि नहीं कर सकता। धन एक परिग्रह है, उसका त्याग करना ही दान है। परन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि धन ही परिग्रह नहीं है धन परिजन और जितने भी बाह्य साधन हैं, उन सबका संग्रह करना भी परिग्रह ही है। बाह्य साधन ही नहीं जैन-दर्शन तो आन्तरिक साधनों को भी परिग्रह मानता है। जैसे धन का परिग्रह होता है वैसे ही यश और प्रतिष्ठा का परिग्रह भी होता है। मनुष्य यश प्राप्त कर ले और उस यश का ठीक रूप से बंटवारा न करे तो वह परिग्रह ही है। परिग्रह बहुत प्रकार के होते हैं जो ज्ञान आचरण में न उतरे अथवा जो ज्ञान अहंकार को उत्पन्न करे, वह भी एक परिग्रह हो है। शास्त्र-ज्ञान श्रुत ज्ञान वीतराग की वाणी यदि मनुष्य के मन के अहंकार को बढ़ाती है तो उसे भी परिग्रह ही कहा जाता है। त्याग और तपस्या जीवन-शोधन के लिए किये जाते हैं परन्तु त्याग करके त्याग का अहंकार जागृत हो गया अथवा तपस्या करके तप का अहंकार हो गया तो वह भी एक परिग्रह ही है। शक्ति भले ही वह किसी भी प्रकार की क्यों न हो यदि उसका प्रयोग दूसरे के विकास में नहीं होता है, दूसरे के विनाश में ही उसका प्रयोग और उपयोग किया जाता है, तो वह भी एक प्रकार का परिग्रह ही है।

जीवन-विशुद्धि और जीवन-शोधन जिस किसी भी साधन से सम्पन्न होता है वह सब धर्म है। भर्तृहरि अपने युग के एक प्रसिद्ध सम्राट् थे। राज्य का संचालन करते हुए उन्होंने बहुत कुछ अनुभव किया था। विद्वान होने के साथ-साथ वे तत्त्व चिन्तक और तत्त्व-दर्शी भी थे। संसार में रहकर उन्होंने जो कुछ अनुभव किया अच्छा या बुरा उसको उन्होंने अपने तीन ग्रन्थों में उपनिबद्ध कर दिया—'शृंगार-शतक' 'वैराग्य-शतक' और 'नीति-शतक'। अपने 'नीति-शतक' ग्रन्थ में उन्होंने कहा है कि— शरीर का शृंगार स्नान करने से शरीर पर चन्दन का विलेपन करने से शरीर को सुन्दर वसन से आच्छादित करने से और शरीर को स्वर्ण और रत्नों के अलंकारों से अलंकृत करने से नहीं होता है, शरीर

का शृंगार होता है सेवा से और समय पडने पर दूसरे की सहायता करने मे ।" वाणी का शृंगार उन्होने अलकृत भाषा को नही बताया, उन्होने कहा—"वाणी का भूषण मौन है, वाचालता नही ।" कुछ लोग अपनी वाचालता को ही अपनी वाणी का शृंगार समझते हैं, किन्तु वाचालता से वाणी विभूषित नही होती । वाणी का अलकार है—मौन एव वाक्-सयम । मौन और वाक्सयम बिना शक्ति के नही किया जा सकता । बोलना जितना आसान है, मौन रहना उतना आसान नही है । मौन रखने के लिए मानसिक शक्ति की बडी आवश्यकता है । मौन रखना अपने आपमे एक तप है, इस तप को वही व्यक्ति कर सकता है, जिस व्यक्ति ने वाक्-सयम की कला को सीख लिया है । अपनी वाणी का जादू हजारो श्रोताओ पर प्रभाव डालने मे जितना आसान हो सकता है, उतना आसान मौन रहकर अपने आचार का प्रभाव डालना नही हो सकता । वक्ता होना सहज है, किन्तु मौन रहकर अपने आचार का प्रभाव जन-मानस पर डालना निश्चय ही बहुत कठिन है । किस समय पर क्या करना चाहिए और किस समय पर क्या बोलना चाहिए, इस प्रकार का विवेक हर किसी इसान को नही होता । वाणी का भूषण मौन बताया गया और शरीर का शृंगार सेवा को कहा गया है । वस्तुत मौन रहना और सेवा करना दानो मे बहुत बडी शक्ति की आवश्यकता है । सेवा धर्म इतना गहन और गम्भीर होता है कि योगी भी उसे प्राप्त नही कर सकते । शक्ति होते हुए भी दूसरे के दुर्वचन सुनकर मौन और शान्त रहना, बडी ही कठिन साधना है । मानसिक शक्ति का सतुलन किए बिना, व्यक्ति मौन नही रह सकता । अपमान को सहन करना क्या आसान काम है ?

महाभारत मे वर्णन आया है, कि जिस समय महाभारत का महायुद्ध पूरे वेग से चल रहा था, अर्जुन के धनुष की टकार चारो ओर गूंज रही थी, उस समय अर्जुन ने प्रतिज्ञा कर ली थी कि जो मेरे इस गाण्डीव धनुष का अपमान करेगा अथवा इसकी अवहेलना करेगा, मैं उसके प्राण लिए बिना न छोडूंगा । अर्जुन को अपने धनुष पर बडा अभिमान था । सयोग की बात है, युद्ध मे युधिष्ठिर के सामने कर्ण आ गया । युधिष्ठिर और कर्ण मे घोर युद्ध होने लगा । युधिष्ठिर को चारो ओर से घेर लिया गया । युद्ध करते-करते युधिष्ठिर परेशान हो गए । कर्ण ने कहा—'युधिष्ठिर ! मैं आज तुम्हें यमलोक पहुँचा सकता हूँ, लेकिन मेरी प्रतिज्ञा है, कि मैं कुन्ती के पुत्रो मे से केवल एक अर्जुन को छोडकर अन्य किसी को नही मारूँगा ।" बेचारे युधिष्ठिर चले आए कडुवा घूंट पीकर । दूसरी ओर से अर्जुन भी चला आ

रहा था आज उसने भारी संख्या में शत्रुओं का संहार किया था। अर्जुन अपने मन में सोच रहा था सामने से मेरे बड़े भाई आ रहे हैं और आज मैंने एक बहुत बड़ा वीरता का काम किया है इसलिए आज वे अवश्य ही मेरी वीरता की प्रशंसा करेंगे। परन्तु जब अर्जुन समीप आया तब युधिष्ठिर ने कहा— अर्जुन! तेरा यह गाण्डीव धनुष किस काम का? तेरे इस धनुष के होते हुए भी आज मेरा इतना बड़ा अपमान हुआ। मुझे तेरे इस गाण्डीव धनुष पर बड़ा अभिमान है, लेकिन इसके होते हुए भी कर्ण ने मेरा इतना बड़ा अपमान कर दिया। धिक्कार है तेरे इस गाण्डीव धनुष को।

युधिष्ठिर की इस बात को सुनते ही अर्जुन का खून खौलने लगा। अर्जुन अपना अपमान सहन कर सकता था लेकिन अपने गाण्डीव धनुष का अपमान वह सहन नहीं कर सकता था। अर्जुन ने क्रोध के स्वर में कहा— मैं क्षत्रिय हूँ और एक क्षत्रिय अपनी प्रतिज्ञा को अवश्य पूर्ण करता है। युधिष्ठिर! तुमने मेरे गाण्डीव धनुष का अपमान किया है, इस समय तो तुम ही मेरे सबसे बड़े शत्रु हो। मैं कौरवों को बाद में समझूँगा पहले तुम्हें ही समझूँगा। अर्जुन के क्रोध को देखकर युधिष्ठिर भी सकपकाया। मुँह से निकला हुआ शब्द वापिस तो नहीं लिया जा सकता। इस विकट स्थिति में विराट पुरुष श्रीकृष्ण विचार करने लगे बहुत बुरा हुआ। कहाँ तो कौरवों को विजय करने की योजना चल रही है और कहाँ आज अर्जुन अपने बड़े भाई का वध करने के लिए तैयार है। श्रीकृष्ण ने स्थिति की भयंकरता को समझा और बहुत ही शान्त स्वर में बोले— अर्जुन! तुम क्षत्रिय हो और एक क्षत्रिय को अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनी ही चाहिए। तुम्हें युधिष्ठिर का वध करना ही चाहिए। परन्तु बड़े भाई का वध कैसे किया जाता है इस तथ्य का तुम्हें पता नहीं है। बड़े भाई का वध तलवार से नहीं अपमान-जनक शब्दों से किया जाता है। तुम अपमानजनक शब्द बोलकर युधिष्ठिर का वध कर सकते हो। अर्जुन ने क्रोध के आवेश में बहकर अपने बड़े भाई युधिष्ठिर के लिए बहुत कुछ बुरा भला कहा। अन्त में जब अर्जुन का क्रोध शान्त हुआ तो वह अपने हृदय पर पश्चात्ताप करने लगा। श्रीकृष्ण से उसने कहा— 'मैंने बहुत बुरा किया है। इस अपराध से मुक्त होने के लिए आत्महत्या के अतिरिक्त अन्य कोई रास्ता नहीं है, मैं आज जीवित अग्निप्रवेश करूँगा। इस स्थिति को भी श्रीकृष्ण ने संभाला और बोले— 'तुम ठीक कहते हो तुमने अपने बड़े भाई का जो घोर अपमान किया है उसका प्रायश्चित्त तुम्हें करना ही चाहिए। इस पाप का प्रायश्चित्त आत्म-हत्या से ही किया जा

सकता है, यह सत्य है, परन्तु शास्त्र मे आत्महत्या का तरीका यह नहीं है कि शस्त्र से अपने शरीर के टुकडे कर दिए जाएँ अथवा किसी अग्निप्रवेश आदि से शरीर को नष्ट कर दिया जाए। अपने मुख से अपनी प्रशसा करना ही सबसे बडी आत्महत्या है। तुम स्वय अपने मुख से अपनी प्रशसा करो, यह तुम्हारी आत्महत्या होगी और तुम अपने पाप का प्रायश्चित्त करके उससे विमुक्त हो सकोगे।" कहा जाता है—अर्जुन ने कृष्ण के आदेशानुसार ऐसा ही किया, आखिर झगडा समाप्त हुआ।

देखा आपने, कि मनुष्य किस प्रकार अपनी वाणी का दुरुपयोग करता है। और वाणी के दुरुपयोग से किस प्रकार अनर्थ उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार के अनर्थ से वचने के लिए, वाक्-सयम की बडी आवश्यकता है। वाक्-सयम को और मौन को वाणी का तप कहा गया है। मैंने आपसे कहा, कि छोटी या बडी किसी भी प्रकार की साधना क्यो न हो, प्रत्येक साधना मे शक्ति की आवश्यकता है। शक्ति के अभाव मे न इस लोक का कार्य सम्पन्न हो सकता है और न परलोक का ही कोई कार्य सम्पन्न किया जा सकता है। जीवन की सफलता का आधार एक मात्र शक्ति ही है। इसलिए शक्ति को ही मैं जीवन कहता हूँ। शक्ति के अभाव मे जीवन शून्य है। शव मे शक्ति नही रहती, इसीलिए उसे जीवन हीन तत्व कहा जाता है। शिव मे शक्ति होती है, इसीलिए उसे चेतन प्राणवान और सजीव कहा जाता है। शक्ति जीवन-विकास का एक मौलिक आधार माना गया है। आप अपने जीवन की किसी भी स्थिति और किसी भी परिस्थिति मे क्यो न रहते हो, आपको शक्ति सम्पन्न बनने का प्रयत्न करना चाहिए। एक कवि ने कहा है—"Strength is life' शक्ति ही जीवन है।

मनुष्य स्वयं दिव्य है

भारतीय संस्कृति में जितना अधिक महत्त्व संयम और चारित्र को दिया गया है उतना अन्य किसी गुण को नहीं। संयम के अभाव में मनुष्य का जीवन एक ऐसा जीवन बन जाता है जिसका घर और बाहर कहीं पर भी स्वागत और सत्कार नहीं होता है। मनुष्य की बुद्धि एक बार रास्ता भूल जाए तो अनेक रास्तों पर वह इधर उधर भटकती रहती है। विचार के बदलने पर जीवन का रूप ही बदल जाता है। जीवन को सुन्दर बनाने के लिए, शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य की आवश्यकता है और यह स्वस्थता बिना संयम के नहीं आ सकती। यदि मनुष्य को सुन्दर ढंग से जीवन व्यतीत करना है तो उसे आज नहीं तो कल संयमी जीवन स्वीकार करना ही होगा। हमारे जीवन में जितना भी अपवृण्य है, उस सबका मूलाधार असंयम और चारित्र-हीनता ही है। यह याद रखना चाहिए, कि चरित्र बल तर्क-बल से ऊपर है। विद्वान् से संयमशील आत्मा महान होता है। तपस्या का स्थान अध्ययन से ऊंचा है। चरित्र-बल ही आत्म-बल है। चरित्रबुद्धि से आत्मा बलीयसी होती है। मनोविज्ञान में जिसे इच्छा-शक्ति कहा जाता है वह आत्म-बल का ही दूसरा

नाम है। सयम से अपनी प्रवृत्तियो पर विजय पाने के लिए इच्छुक व्यक्ति के लिए यह भी आवश्यक है, कि उसमे केवल इच्छा-शक्ति की दृढता ही न हो,वल्कि सफल होने का पूर्ण विश्वास भी हो। आत्म-विश्वास सयमी जीवन के लिए आवश्यक है। जिस व्यक्ति का अपने आप पर ही विश्वास नही है, वह भला सयम का पालन कैसे करेगा ? शास्त्रकारो ने मनुष्य के मन को एक युद्ध क्षेत्र माना है। मन के क्षेत्र मे आसुरी और दैवी वृत्तियो का द्वन्द्व एव सघर्ष निरन्तर चलता रहता है। कुछ लोग कहा करते हैं, कि जीवन के दोषो को दूर नही किया जा सकता। यदि यही बात है, तो फिर किसी भी प्रकार की साधना जीवन मे नही की जा सकती। जब किसी व्यक्ति को यही विश्वास नही है, कि मैं अपनी कमजोरी को दूर कर सकता हूँ, तव फिर उसके लिए साधना का कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता। साधना प्रारम्भ करने से पूर्व साधक को अपने पर पूरा विश्वास कर लेना चाहिए। मेरे विचार मे आत्म सयम के बिना, जीवन सुन्दर नही वन सकता। परन्तु आत्म-विश्वास के विना, आत्म सयम भी असम्भव है। साधक के जीवन मे निर्भयता आवश्यक है, किन्तु आत्म-विश्वास-हीन व्यक्ति निर्भय नही वन सकता। आपको अपने जीवन मे अन्य किसी पर विश्वास हो अथवा न हो, परन्तु अपने आप पर विश्वास अवश्य होना चाहिए, अन्यथा जीवन का विकास सम्भव नही है।

जय और पराजय का चक्र सदा से घूमता रहा है। हार और जीत जिन्दगी मे सभी को देखनी पडती है। इस दुनिया मे ऐसा कौन-सा इन्सान है, जिसने अपनी जिन्दगी मे हार ही हार देखी हो, कभी जीत न देखी हो, अथवा सदा जीत ही जीत देखी हो, कभी हार न देखी हो। याद रखिए, जय और पराजय, सफलता और असफलता तथा हार और जीत दोनो मिलकर ही हमारे जीवन को परिपूर्ण बनाती हैं। विश्वास रखिए हर हार जीत का पैगाम लेकर आती है। साहसी व्यक्ति जय और पराजय की भावना से ऊपर उठकर अपने कर्त्तव्य-पालन पर ही अधिक वल देता है। जीवन के लक्ष्य को मनुष्य नितान्त तन्मय होकर ही वेध सकता है। यह सच है, कि दिन से पहले रात का अँधेरा होता है, परन्तु यह भी उतना ही सुनिश्चित है, कि अधकार के वाद फिर प्रकाश मिलेगा। असफलता से व्याकुल होना और सफलता का अहकार करना, दोनो मे ही जीवन का पतन सुनिश्चित है। उत्थान के लिए, यह आवश्यक है, कि हम अपने मन को न अहकार मे जाने दें और न पराजय की दीनता मे ही उसका प्रवेश होने दें। भारतीय सस्कृति का यह कितना उज्ज्वल सिद्धान्त है, कि वह मनुष्य को हर मोर्चे पर लडने के लिए साहस और वल देकर, उसके विजयी होने का मार्ग प्रशस्त करती है।

भोग और योग जीवन के दो छोर हैं। ज्ञान के प्रकाश में मर्यादा के साथ भोग से योग की ओर जाना ही भारतीय संस्कृति का मूल स्वर है। आप कहीं पर भी रहें और आप कहीं पर भी जाएँ केवल एक बात को याद रखिए, आप जहाँ भी जाएँ और जहाँ भी रहें, ईमानदारी के साथ जाइए और वहाँ ईमानदारी के साथ रहिए। मैं आपसे बार बार एक ही बात कहना चाहता हूँ कि जो भी आप करना चाहें उसे पूर्ण रूप से कीजिए। किसी भी काम को छूकर करना *एक प्रकार का आत्म-हनन है। ईसा ने अपने शिष्यों* को एक बड़ा सुन्दर उपदेश दिया था। पूछा था शिष्यों ने उनसे हम क्या करें किस रास्ते पर चलें? आपको मालूम है इस प्रश्न के उत्तर में ईसा ने क्या कहा था? ईसा ने कहा था—(Know thyself) कुछ भी करने से पूर्व अपने आपको समझो अपने आपको जानो और अपने आपको तोलो। पहले सोचो कि तुम क्या हो फिर सोचो कि तुम क्या कर सकते हो? जो कुछ तुम हो उसी के अनुरूप तुम्हें करना चाहिए। अपनी शक्ति से अधिक साधना और करने का अर्थ होगा दम्भ,प्रपंच और प्रतारणा। भले ही आप अन्य कुछ करें या न करें, परन्तु एक बात आपको अवश्य करनी है और वह यह है कि अपने प्रति ईमानदार रहो। यही सबसे बड़ी साधना है और यही सबसे बड़ी आराधना है। किसी भी प्रकार की साधना को स्वीकार करना कठिन नहीं होता कठिन होता है सच्चे मन से उसका पालन करना। जिस व्यक्ति को अपने पर श्रद्धा नहीं अपने पर विश्वास नहीं और जो केवल तर्क के अनन्त गगन में ऊँचा उड़ता रहता है उसे कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। तर्क और श्रद्धा में यदि चुनाव करना हो तो परम श्रद्धा का कीजिए केवल तर्क शील व्यक्ति अन्त में शून्य हो जाता है। जिस प्रकार प्याज का छिलका अलग करते करते छिलका ही निकल जाता है शेष कुछ बचता ही नहीं उसी प्रकार जो व्यक्ति अत्यधिक तर्कशील होता है उसके हाथ में शून्य के अतिरिक्त अन्य कुछ बचता नहीं है।

कुछ लोगों के सोचने का तरीका अजीब होता है। मैं अपने मन में सोचा करता हूँ कि इस प्रकार के विचार उनके मन में आएँ कैसे? कहता है कोई कि राम राम जप करने से क्या होता है? माला फेरने से क्या होता है? प्रभु का ध्यान और स्मरण करने से क्या होता है? मन तो हमारा जैसा है वैसा ही रहता है फिर रोज उसे इस प्रकार के व्यर्थ कार्य में क्यों लगाया जाए? मैं कहता हूँ उनसे कि तुम रोज भोजन क्यों करते हो? [illegible] है? वैसा ही रहता है फिर रोज भोजन करने से क्या लाभ?

यदि शरीर को शक्तिशाली बनाए रखने के लिए भोजन की आवश्यकता है, तो मन को शक्तिशाली बनाए रखने लिए भजन की भी आवश्यकता है। लोटे को रोज न मांजा जाय, तो वह मैला पड़ जाता है, इसी प्रकार यदि मन को प्रभु के स्मरण और ध्यान मे न लगाया जाय, तो वह भी मलिन बन जाएगा। जो व्यक्ति प्रतिदिन अपने घर मे झाड़ू नही लगा पाता, तो उसका घर गन्दगी से भर जाता है। मैं आपसे यही कह रहा था, कि मन के घर को स्वच्छ रखने के लिए उसमें शुद्ध विचार की झाड़ू लगाते रहिए। यदि आप ऐसा न करेंगे, तो निश्चय ही, यह मन इतना अपवित्र हो जाएगा, कि फिर इसे स्वच्छ और साफ करने के लिए आपको बडा कठोर परिश्रम करना पडेगा। इससे तो यही अच्छा है, कि आप प्रतिदिन इसे स्वच्छ और पवित्र बनाने का प्रयत्न करते रहे। मन की पवित्रता ही साधना का प्राण है।

शरीर की स्वस्थता का प्रभाव और शरीर की अस्वस्थता का प्रभाव, यदि मन पर पड सकता है, तो फिर मन की स्वच्छता और अस्वच्छता का प्रभाव हमारे जीवन पर क्यो नही पड़ सकता ? अवश्य ही पडता है और पडना भी चाहिए। क्योकि हमारा जीवन वही है, जो कुछ हम सोचते हैं। अपने विचारो का प्रतिफल ही हमारा जीवन है। एक पाश्चात्य कवि ने कहा है कि—"As a man think in his heart, so is he" एक मनुष्य अपने हृदय मे जैसा विचार-करता है, वह वैसा ही बन जाता है। जिसके मन मे राक्षसी भावना रहती है, वह राक्षस बन जाता है। जिसके मन मे दैवी भावना रहती है, वह देव बन जाता है। देव और दानव अन्य कुछ नही हैं, हमारे अपने मन के अच्छे और बुरे विचार ही वस्तुत देव और दानव हैं। राम भी हमारा मन ही है और रावण भी हमारा मन ही है। यूरोप के विख्यात दार्शनिक इमर्सन ने मानव-जीवन के सम्बन्ध मे ठीक ही कहा है—

"Allow the thought it may lead to choice,
Allow the choice it may lead to an act,
Allow the act it forms the habit,
Continue the habit it shapes your character,
Continue the character it shapes your destiny,"

इमर्सन का कथन है कि—"विचारो को स्वतन्त्रता दीजिए, विचार कामनाओ का रूप पकड लेंगे। कामनाओ को स्वतन्त्रता दीजिए, वह कार्य मे परिणित हो जाएँगी। कार्यों को स्वतन्त्रता दीजिए, वे आदत बन जाएँगे और

भोग और योग जीवन के दो छोर हैं। ज्ञान के प्रकाश में मर्यादा के साथ भोग से योग की ओर जाना ही भारतीय संस्कृति का मूल स्वर है। आप कहीं पर भी रहें और आप कहीं पर भी जाएँ, केवल एक बात को याद रखिए आप जहाँ भी जाएँ और जहाँ भी रहें, ईमानदारी के साथ जाइए और वहाँ ईमानदारी के साथ रहिए। मैं आपसे बार-बार एक ही बात कहना चाहता हूँ कि जो भी आप करना चाहें उसे खुले रूप से कीजिए। किसी भी काम को छुपकर करना एक प्रकार का आत्म-हनन है। ईसा ने अपने शिष्यों को एक बड़ा सुन्दर उपदेश दिया था। पूछा था शिष्यों ने उनसे हम क्या करें किस रास्ते पर चलें? आपको मालूम है इस प्रश्न के उत्तर में ईसा ने क्या कहा था? ईसा ने कहा था—(Know thyself) कुछ भी करने से पूर्व अपने आपको समझो अपने आपको जानो और अपने आपको तोलो। पहले सोचो कि तुम क्या हो फिर सोचो कि तुम क्या कर सकते हो? जो कुछ तुम हो उसी के अनुरूप तुम्हें करना चाहिए। अपनी शक्ति से अधिक सोचने और करने का अर्थ होता दम्भ प्रपंच और प्रतारणा। भले ही आप अन्य कुछ करें या न करें परन्तु एक बात आपको अवश्य करनी है और वह यह है कि अपने प्रति ईमानदार रहो। यही सबसे बड़ी साधना है और यही सबसे बड़ी आराधना है। किसी भी प्रकार की साधना को स्वीकार करना कठिन नहीं होता कठिन होता है सच्चे मन से उसका पालन करना। जिस व्यक्ति को अपने पर श्रद्धा नहीं अपने पर विश्वास नहीं और जो केवल तर्क के अनन्त गगन में ऊँचा उड़ता रहता है, उसे कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। तर्क और श्रद्धा में यदि चुनाव करना हो तो पहले श्रद्धा का कीजिए केवल तर्क-शील व्यक्ति अन्त में शून्य हो जाता है। जिस प्रकार प्याज का छिलका उतारते उतारते छिलका ही निकल जाता है, शेष कुछ बचता ही नहीं उसी प्रकार जो व्यक्ति अत्यधिक तर्कशील होता है, उसके हाथ में शून्य के अतिरिक्त अन्य कुछ बचता नहीं है।

कुछ लोगों के सोचने का तरीका अजीब होता है। मैं अपने मन में सोचा करता हूँ, कि इस प्रकार के विचार उनके मन में आएँ कैसे? कहना है लोगों का कि रोज रोज जप करने से क्या होता है? माला फेरने से क्या होता है? प्रभु का ध्यान और स्मरण करने से क्या होता है? मन तो हमारा जैसा है वैसा ही रहता है, फिर रोज रोज उसे इस प्रकार के व्यर्थ कार्य में क्यों लगाया जाए? मैं कहता हूँ उनसे कि तुम रोज भोजन क्यों करते हो? शरीर तो जैसा है, वैसा ही रहेगा फिर रोज भोजन करने से क्या लाभ?

है। अपने क्रोध को रोकने का मैं जितना ही प्रयत्न करता हूँ, उतनी ही अधिक असफलता मेरे पल्ले पडती है। मेरे क्रोधी स्वभाव के कारण, मेरी पत्नी भी मुझसे डरती है और मेरे बच्चे भी मेरी शक्ल देखते ही दूर भाग जाते हैं। मैं जब अपने घर मे प्रवेश करता हूँ, तब मेरे परिजन और परिवार वाले यह समझते हैं, कि घर मे यमराज आ गया है। मैं अपने ही घर मे यमराज बन गया हूँ। मेरे क्रोध के कारण मेरा घर का स्वर्गीय सुख नारकीय दु ख मे बदल गया है। इस आफत से मैं अति परेशान हूँ। क्योकि मेरे अपने ही घर में, मेरे अपने ही स्वभाव ने, मुझे भय का देवता, यमराज बना दिया है। इस दुनिया में मेरे से अधिक अभागा और दुखी व्यक्ति अन्य कौन होगा ? जिसकी इज्जत न अपने घर मे है और न बाहर मे है। जिस इन्सान की इज्जत अपने घर मे नही, बाहर मे भी उसकी इज्जत कैसे हो सकती है ? मुझे कोई ऐसा मन्त्र दीजिए, जिससे मेरा क्रोध दूर हो जाए। बस, इसके अतिरिक्त मुझे आपसे न कुछ मागना है और न कुछ कहना ही है।"

मैंने उस व्यक्ति की बात को बडी गम्भीरता के साथ सुना। अपने ही क्रोध के कारण उसकी अपने ही परिवार मे जो स्थिति बन गई थी, वह बडी ही दयनीय थी। मैंने उससे कहा—"तुम्हारे अन्दर क्रोध उत्पन्न करने वाला कौन है ?" उसने समझदारी के साथ कहा—"दूसरा कोई नही, मैं स्वय हूँ।" मैंने कहा—"जब क्रोध को उत्पन्न करने वाले तुम स्वय हो, तो क्रोध को दूर करने वाला अन्य कौन हो सकता है ? क्रोध को दूर करने का ससार मे अन्य कोई मन्त्र नही है। किसी भी मन्त्र मे अथवा किसी भी देवता मे यह शक्ति नही है, कि वह तुम्हारे मन के क्रोध को दूर कर सके। याद रखो, तुम्हारे मन का विवेक ही तुम्हारे मन के क्रोध को दूर कर सकता है। क्रोध को जीतने का एक ही उपाय है—जब जब तुम्हारे हृदय में क्रोध आए, तब तब तुम शान्ति का चिन्तन करो, शान्ति का विचार करो। शान्ति के अमृत से ही क्रोध के विष को दूर किया जा सकता है। भगवान महावीर ने कहा है—"उवसमेण हणे कोह।" उपशम भाव से क्रोध को दूर करो। शान्ति से क्रोध को जीतो। अपने मन को सदा शान्त विचारो से भरे रहो। जब तुम्हारा मन शान्त विचारों से भरा रहेगा, तब उसमे क्रोध को आने का अवकाश ही नही मिलेगा। शुभ विचार मे अशुभ विचार को दूर किया जा सकता है। यही सबसे बडा मन्त्र है और यही सबसे बडा देवता है। शुभ से अशुभ को नष्ट करने की कला जिसने सीख ली वह व्यक्ति कभी भी अपने जीवन मे दु खी और दीन नही रह सकता। ससार का कोई भी मन्त्र तुम्हारे इस दुर्गुण को नष्ट नही कर सकता।

हमारे जीवन की आदतें ही कुछ दिनों के बाद हमारा चरित्र बन जाती हैं। अन्त में वह चरित्र ही मनुष्य के भाग्य का निर्माण करता है। मैं आपसे जो कुछ कहना चाहता हूँ वह यही है, कि हम अपने विचारों को शुभ और सुन्दर बनाने का प्रयत्न करें। यदि आप अपने मन में सुन्दर विचारों का वपन नहीं कर सकते तो आपका चरित्र भी शानदार नहीं बन सकता। कांटे बोकर फूलों की आशा एक प्रकार की मूर्खता ही होगी। याद रखिए, धरती कैसी ही बुरी क्यों न हो फूलों के बीज से कांटों की खेती नहीं हो सकती और धरती कितनी ही अच्छी क्यों न हो बबूल के बीज से आम के फल नहीं हो सकते। इस मनुष्य को जो कुछ होना है, और जो कुछ पाना है वह सब कुछ अपने आपमें ही खोज करना होगा। अपने आप में खोजने से ही अपना सुख हमें मिल सकता है। बाहर की भटक से न कभी कुछ मिला है और न कभी कुछ मिल ही सकेगा।

मानव-जीवन का शास्त्रकारों ने जो इतना यशोगान किया है, वह व्यर्थ नहीं किया है। उसका एक उद्देश्य है और उसका एक लक्ष्य है। मानव-जीवन अन्य जीवनों से श्रेष्ठ और ज्येष्ठ इसी अर्थ में है, कि वह अपनी साधना के द्वारा अपने समग्र बन्धनों को काटकर मोक्ष एवं मुक्ति प्राप्त कर सकता है, जब कि अन्य किसी जीवन में यह सम्भव नहीं है। जैन-दर्शन के अनुसार मानव जीवन अपने आप में परिपूर्ण है, जब कि मानव-जीवन से भिन्न जितने भी जीवन हैं, सब अपने आपमें अपूर्ण हैं। बात यह है, कि मनुष्य में एक ऐसी शक्ति है कि वह अपना सुधार भी कर सकता है और अपना बिगाड़ भी कर सकता है। मनुष्य के जीवन के न विकास का अन्त है और न पतन का ही अन्त है। उत्थान और पतन कहीं बाहर से नहीं आते वे मनुष्य के अन्दर से ही उत्पन्न होते हैं। जब मनुष्य अपनी दुर्बलताओं का दास बन जाता है, तब वह अनन्त शक्ति-सम्पन्न होते हुए भी कुछ कर नहीं सकता। कितनी विचित्र बात है, कि जो मनुष्य देवताओं का स्वामी है, वह अपनी दुर्बलता के कारण देवताओं का दास बनकर गिड़गिड़ाने लगता है।

एक बार की बात है, मैं किसी ग्राम में ठहरा हुआ था। सन्तों को देखकर गाँव के कुछ लोग एकत्रित हो गए थे। उनमें से एक व्यक्ति आगे बढ़कर आया और मेरे समीप आकर बैठ गया। वह विनम्र भाषा में बोला— 'यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं कुछ पूछना चाहता हूँ।" मैंने कहा— 'अवश्य पूछो। जो कुछ मुझे आता है, मैं तुम्हें अवश्य बतलाऊँगा। वह व्यक्ति बोला— 'महाराज! मुझे क्रोध बहुत अधिक आता है। जरा-जरा सी बात पर मुझे क्रोध आ जाता

के लिए ही हो। इसके अतिरिक्त लौकिक सुख-सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए की जाने वाली साधना, वस्तुतः साधना नही है। मनुष्य को सोचना चाहिए कि, मैं इस ससार मे महान् हूँ, पर मेरी महानता का आधार मेरा धन-वैभव नही है, मेरी बाह्य विभूति नही है, मेरा जन और परिजन भी नही है, मेरी महानता का एकमात्र आधार है, मेरी आत्मा। जिन व्यक्तियो को अध्यात्म-विकास नही हुआ है, वे दूसरो को खोजने का प्रयत्न करते हैं। इसके विपरीत अध्यात्मवादी साधक दूसरे को न खोजकर स्वयं अपने को ही खोजने का प्रयत्न करता है। चीन देश के महान विचारक सन्त कन्फ्यूसियस ने लिखा है—"What the undeveloped man seeks is others, what the advanced man seeks is himself" अज्ञानी लोग ही दूसरों को जानने का प्रयत्न करते हैं। ज्ञानी वही है, जो अपने आपको जानने का प्रयत्न करता है।

मैं आपसे मानव-जीवन की महिमा और गरिमा की बात कह रहा था। यह कह रहा था कि भारतीय सस्कृति मे और भारतीय धर्म परम्परा में मानव-जीवन को कितना गौरवमय स्थान मिला है? मानव-जीवन की महत्ता, शक्ति, परिवार और धन के आधार पर कभी नही हो सकती। उसकी महानता का एक ही आधार है, विचार और आचार। विचार और आचार के अभाव में मानव-जीवन, पशु-जीवन से अच्छा नही कहा जा सकता। मानव जीवन के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा गया है, उसका तथ्य यही है, कि यह अपने आपमे एक महान् शक्ति है, क्योकि इस नर में नारायण बनने की शक्ति है, इस मानव मे अतिमानव बनने की शक्ति है और भक्त मे भगवान बनने की योग्यता है। एशिया के महान् दार्शनिक और विचारक शिन्तो का कथन है कि—"There exists no highest deity outside the human mind Man himself is Divine" अर्थात् मनुष्य स्वय अपने आप मे दिव्य है। मनुष्य के हृदय से ऊँचा अन्य कोई देवता नही है" वस्तुत अपनी महत्ता को न पहचानने के कारण ही, मनुष्य का पतन होता है। उसका पतन कही बाहर से नही, स्वय उसके अन्दर से ही होता है। लोग कहा करते हैं—राम ने रावण को मारा और कृष्ण ने कस को मारा। परन्तु यह कथन ठीक नही है। राम ने रावण को नही मारा, बल्कि रावण की दुर्बलताओ ने ही रावण को मारा। कृष्ण ने कस को नही मारा, बल्कि कस की दुर्बलताओ ने ही कस को नष्ट कर दिया। जब तक वृक्ष अन्दर से हरा-भरा रहता है और जब तक उसकी जडो में पृथ्वी के अन्दर से जीवन-शक्ति ग्रहण करने की शक्ति रहती है, तब तक बाह्य प्रकृति का कोई भी आघात वृक्ष को नष्ट नही कर सकता। भले ही कितनी भी धूप और वर्षा क्यो न आ जाएँ, उस वृक्ष का वे कुछ भी बिगाड नही सकते, जिसकी जडें सजीव हैं, मजबूत हैं। मानव जीवन के

तुम्हारा अपना विवेक ही इसे दूर कर सकता है। आवश्यकता है, केवल अपने विवेक को जागृत करने की। प्रत्येक बुराई को तभी दूर किया जा सकता है जब कि उसके स्थान में किसी अच्छाई को पकड़ा जाए। क्रोध को दूर करना है तो शान्ति को पकड़ो। अभिमान को दूर करना है तो नम्रता लाओ। माया को दूर करना है तो सरलता का विकास करो और लोभ को दूर करना है, तो सन्तोष को बलवान बनने दो। सद्गुण के चिन्तन से दुर्गुण स्वतः ही नष्ट हो जाता है। *आवश्यकता इसी बात की है कि हम अपने जीवन के जिस किसी* भी दुर्गुण को दूर करना चाहते हैं उसके विरोधी सद्गुण को पहचानें और उस सद्गुण का ही हम अपने जीवन में विकास करें यही सबसे बड़ा मन्त्र है और यही साधना है।

साधना का अर्थ यह नहीं है कि आप अपने समस्त कर्तव्यों को जलांजलि देकर किसी एकान्त वन में जाकर ध्यान लगाएँ। साधना का अर्थ है—अपने मन को और अपने इन्द्रियों को साधना। आप सन्त-जीवन स्वीकार करके भी साधना कर सकते हैं और गृहस्थ-जीवन में रह कर भी साधना कर सकते हैं। परन्तु इस बात को सदा ध्यान में रखिए, कि मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण और विकास तभी होता है, जब उसके जीवन का ध्येय और लक्ष्य स्थिर हो जाए। जब तक संयम की साधना से जीवन की वृत्तियों का संयमन और नियमन नहीं होगा तब तक वस्तुतः हम किसी भी महान् उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकेंगे। नियम और संयम किसी न किसी लक्ष्य की साधना में ही सम्भव है। न केवल यह, कि लक्ष्य के बिना संयम का कुछ अर्थ ही नहीं बल्कि यह भी सच है, कि संयम की प्रेरणा भी लक्ष्य-प्राप्ति की इच्छा के बिना नहीं मिलती। माँझी को यदि नदी के किनारे पहुँचने की अभिलाषा न हो तो उसे नाव खेने की प्रेरणा कौन देगा? जब तक माँझी का लक्ष्य उसके किनारे पर पहुँचने का नहीं बनेगा तब तक वह नदी में इधर-उधर ही भटकता रहेगा। जो लोग संसार-सागर की लहरों पर खेलना ही जीवन समझते हैं, वे कभी भी संयमी जीवन व्यतीत नहीं कर सकते। दूसरे तट पर पहुँचने की इच्छा वाले ही अपनी जीवन-नौका को एक निश्चित दिशा की ओर खेते हैं। कार्य कैसा भी क्यों न हो छोटा अथवा बड़ा उसमें तन्मयता की बड़ी आवश्यकता है। जब तक यह संयम की भावना अथवा त्याग की भावना मनुष्य के हृदय में सहज-भाव से नहीं उभरती है, तब तक हम अपने जीवन को किसी भी साधना में संलग्न नहीं कर सकते। एक बात जो साधक को विशेष रूप से अपने ध्यान में रखनी है वह यह है, कि हम जो कुछ करें वह सब हमारे आत्म-कल्याण

तो आकाश मे एक सूर्य क्या, हजार सूर्य के आने पर भी कमल खिल नही सकेगा। यह सब उपादान की ही महिमा है।

शास्त्रकार हमे बतलाते हैं, कि हमे अपने जीवन को किस मार्ग पर और कैसे चलाना चाहिए? परन्तु यदि मन मे वैराग्य-भाव नही है और सयम-पालन की क्षमता नही है, तो शास्त्र-स्वाध्याय से भी हमे कुछ लाभ नही हो सकता। आपने राजर्षि नमि की जीवन-गाथा सुनी होगी। नमि मिथिला नरेश थे। उनके पास विशाल साम्राज्य था। भोग और विलास मे डूबे रहना ही, मिथिला नरेश नमि का काम था। भोग के अतिरिक्त योग और वैराग्य की ओर कभी उनका ध्यान ही नही गया था। जब एक बार उनके शरीर मे दाहज्वर उत्पन्न हो गया, तब वे बडे हैरान और परेशान थे। उपचार कराने पर भी जब उनका रोग शान्त नही हुआ, और उनके हृदय की अशान्ति एव व्याकुलता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई, तब सहसा एक दिन ककण-ध्वनि से उनके हृदय मे एक सकल्प जागृत हुआ, कि मेरा यह विराट् साम्राज्य, विशाल परिवार और मेरी यह अथाह धन-सम्पत्ति भी मुझे रोग से मुक्त नही कर सकी, यह सब व्यर्थ है। इस ससार मे सार जैसी वस्तु कुछ भी नही है। राजर्षि नमि की चिन्तन-धारा बदल चुकी थी, सोचने का प्रकार बदल गया था। मन मे सकल्प जगा कि मैं इस ससार मे अकेला आया था और आज भी मैं इस रोग की भयकर वेदना को अकेला भोग रहा हूँ, और भी सुनिश्चित है, कि मैं अकेला ही ससार से विदा लूँगा। राजर्षि नमि ने अनुभव किया कि, मैं सबमे रह कर भी अकेला हूँ। इसलिए एकत्व ही जीवन का वास्तविक स्वरूप है। अनेकत्व वास्तविक नही है, कल्पना-जन्य है। सुख अनेकत्व मे नही है। यदि अनेकता मे सुख होता, तो आज मैं दु:खी क्यो होता? सुख यदि कही है, तो वह एकत्व मे ही है, जीवन की निर्लिप्त अवस्था में ही है। हाथ के अनेक ककण ही परस्पर सघर्षरत होकर ध्वनित होते हैं एक ककड ध्वनित नही होता। राजर्षि नमि के मन के इस जागरण ने उसे ससार के बन्धनो से विमुक्त कर दिया। विशाल साम्राज्य छोडकर उन्होंने अध्यात्म-साधना प्रारम्भ कर दी। सब कुछ समेटनेवाले व्यक्ति ने एक दम सब कुछ छोड दिया। यह है जीवन का जागरण, और यह है जीवित विवेक। भगवान् महावीर ने अध्यात्म-साधक बनने के लिए कहा था—"दूसरो का दमन मत करो, स्वय अपना ही दमन करो। जो साधक स्वय अपना दमन करता है, वह इस लोक मे और परलोक मे सुखी हो जाता है।" अध्यात्मसाधना की यह वाणी आज भी आगमो के पृष्ठो पर चमक रही है और राह भूले राही को उसके गन्तव्य पथ की दिशा का सकेत कर रही है।

●

सम्बन्ध में भी यही सत्य है। जब तक मनुष्य अपने अन्दर में पवित्र रहता है, तब तक बाहर की किसी भी अपवित्रता का प्रभाव उसके जीवन पर नहीं पड़ सकता। यह एक अटल सिद्धान्त है।

मैंने कहा कि साधना का कुछ भी रूप क्यों न हो आवश्यकता इस बात की है, कि उसमें सहज भाव होना चाहिए। जब तक साधना का रस अन्तर् हृदय में नहीं उतरता है तब तक कुछ भी नहीं है। साधना कोई ऐसा बीज नहीं है, जिसे बाहर से अन्दर में डाल दिया जाए। गुरु और शास्त्र का काम इतना ही है, कि साधक की सुषुप्ति को दूर कर दिया जाए। और तो क्या साधना के बीज अन्दर में डालने की शक्ति तीर्थंकरों में भी नहीं होती। तीर्थंकर भी साधना के बीज दूसरे में डाल नहीं सकते। अगर डाल सकते होते तो गोशालक के अन्दर भगवान महावीर ने क्यों नहीं डाल दिया? उनके युग में हजारों मनुष्य पापी और दुराचारी थे उनमें क्यों नहीं डाल दिया? बात यह है कि कोई भी किसी को कुछ दे नहीं सकता है। जब तक उपादान शुद्ध नहीं है, तब तक निमित्त के मिलने पर भी जीवन में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आता। गोशालक को भगवान् महावीर जैसी परम विभूति का निमित्त मिला था परन्तु स्वयं उसका उपादान शुद्ध नहीं था। जागरण बाहर का नहीं अन्दर का ही काम आता है। गोशालक भगवान की सेवा में लगभग छह वर्ष तक रहा किन्तु वह उस अमृत के महासागर में भी विष-कण ही ढूंढता रहा। दूसरी ओर हम देखते हैं कि पावापुरी के समवसरण में उस युग के महापण्डित इन्द्र भूति गौतम ने भगवान महावीर के प्रथम दर्शन में ही सब कुछ प्राप्त कर लिया था। विशेषता उपादान की होती है, निमित्त की नहीं। शुद्ध उपादान के अभाव में शुद्ध निमित्त भी अशुद्ध बन जाता है। इस सब पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। सोचना चाहिए कि हम जो कुछ साधना कर रहे हैं उसका रस और उसका सार हमारे जीवन की धरती पर उतरा है अथवा नहीं। भगवान् महावीर हों अथवा अन्य कोई तीर्थंकर अथवा कोई समर्थ आचार्य हो—इन सबका कार्य केवल जागरण करा देना ही है। महापुरुषों की वाणी का उपयोग जीवन में इतना ही है, कि हमें अपने कर्तव्य मार्ग का ज्ञान हो जाए। परन्तु उस मार्ग पर चलना अथवा नहीं चलना यह हमारा अपना काम है। महापुरुष की वाणी गुरु की शिक्षा और शास्त्र का ज्ञान यह हमारे मन के जागरण में निमित्त है। उपादान तो हम स्वयं हैं। देखिए, सूर्य के उदय होने पर सरोवर में कमल स्वयं खिल जाता है। सूर्य उसे पकड़ कर विकसित नहीं करता। यदि कमल में स्वयं विकसित होने की शक्ति नहीं है

भगवान महावीर ने अनेकान्त एव स्याद्वाद की सज्ञा दी, बुद्ध ने उसे विभज्य-वाद कहा और वेदान्त के प्राचीन आचार्यों ने उसे समन्वय कहा। मेरे कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है, कि प्रत्येक परम्परा के महापुरुष ने ज्ञान और क्रिया मे सतुलन साधने का प्रयत्न किया है। इस विवाद मे पडने की आवश्यकता नही है, कि किस परम्परा ने इसे कितना महत्व दिया। यहाँ पर विचारणीय इतना ही है, कि संतुलन के विना हमारा जीवन किसी भी प्रकार की साधना मे सार्थक और सफल नही हो सकता। जो कुछ सीखा है उसे आचरण मे उतरने दो और आचरण मे उसे ही उतारो जो कुछ सीखा है। ज्ञान और क्रिया के सतुलन के अभाव मे हमारी साधना पंगु रहेगी, उसमे शक्ति और बल का आधान न हो सकेगा।

मैं आपसे यह कह रहा था, कि मनुष्य का जीवन धर्म और अध्यात्म-साधना के बिना निष्फल है। यदि कोई व्यक्ति यह सोचता है, कि जीवन भोग के लिए है, तो मेरे विचार मे वह व्यक्ति नास्तिक है, फिर भले ही वह किसी भी परम्परा से सम्बन्धित क्यो न हो। एक बात आप ध्यान मे रखें, और वह यह है, कि जीवन की विशुद्धि को ही मैं साधना कहता हूँ। पर वह विशुद्धि आन्तरिक होनी चाहिए, केवल बाह्य ही नहीं। बाह्य विशुद्धि हमने हजारो, लाखो, करोडो जन्मो तक की, किन्तु उसका कोई भी शुभ परिणाम हमारे जीवन मे दृष्टिगोचर नहीं होता। तन की शुद्धि का अपने आप मे कुछ अर्थ अवश्य है, पर वही सब कुछ नही है। किसी भी प्रकार की आध्यात्मिक साधना करने के लिए, तन की विशुद्धि की अपेक्षा मन की विशुद्धि ही अधिक उपयोगी एव अधिक अर्थकारी है। तन की विशुद्धि होने पर भी यदि मन की विशुद्धि नही है, तो जीवन के कल्याण से हम बहुत दूर हैं। इसके विपरीत तन की विशुद्धि न होने पर भी यदि मन की विशुद्धि परिपूर्ण है, तो हम अपनी साधना के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। अध्यात्म साधनाओ का का केन्द्र विन्दु और मूल बिन्दु तन नही, मन है। मानव के इस स्थूल देह मे उसका मेरुदण्ड केन्द्र माना जाता है, जिससे शरीर की समग्र नसो का सम्बन्ध जुडा रहता है। यदि मेरुदण्ड स्वस्थ है, प्राणवान है और वह सीधा-तना रहता है, तो सम्पूर्ण शरीर मे एक अजीब स्फूर्ति और जागृति उत्पन्न हो जाती है। यदि मेरुदण्ड मे किसी प्रकार की गडवडी पैदा हो गई है, तो जीवन रहते भी शरीर वेकार हो जाता है। यही वात मन के सम्बन्ध मे भी है। हमारी जितनी भी इन्द्रियाँ हैं उनका सम्वन्ध मन से है। आँख रूप को अव[illegible]नी है, पर रूप का ज्ञान तभी होता है, जव आँख के साथ मन का

मन ही साधना का केन्द्र-बिन्दु है

मनुष्य-जीवन में किस प्रकार की साधना करनी चाहिए, इस सम्बन्ध में आपने बहुत कुछ सुना और पढ़ा है। पर जो कुछ पढ़ा और सुना है, उसे जीवन में कैसे उतारा जाए? साधना के क्षेत्र का सबसे बड़ा प्रश्न यही है। अध्ययन और मनन सार्थक तभी हो सकता है, जब कि जीवन में उसका उपयोग और प्रयोग किया जाए, अन्यथा ज्ञान मस्तिष्क का केवल भार ही रह जाता है। भारतीय संस्कृति में और भारतीय दर्शन में ज्ञान और क्रिया के संतुलन पर एवं समन्वय पर अत्यधिक भार दिया गया है। मैं किसी विशेष परम्परा की बात नहीं कहता सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में समन्वय और संतुलन को जो गौरवपूर्ण स्थान मिला है, वह अपने आपमें अद्वितीय और अनुपम है। ज्ञान और क्रिया में संतुलन एवं समन्वय के विशिष्ट पुरस्कर्ता यद्यपि श्रमण भगवान महावीर थे किन्तु उनके समकालीन बुद्ध ने भी उनकी इस उदात्तभावना को अपनाया तथा उत्तरकाल के समस्त भारतीय साहित्य में उसकी प्रतिध्वनि होने लगी थी। संतुलन और समन्वय के इस सिद्धान्त को

भगवान महावीर ने अनेकान्त एव स्याद्वाद की सज्ञा दी, बुद्ध ने उसे विभज्य-वाद कहा और वेदान्त के प्राचीन आचार्यों ने उसे समन्वय कहा। मेरे कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है, कि प्रत्येक परम्परा के महापुरुष ने ज्ञान और क्रिया मे सतुलन साधने का प्रयत्न किया है। इस विवाद मे पडने की आवश्यकता नही है, कि किस परम्परा ने इसे कितना महत्व दिया। यहाँ पर विचारणीय इतना ही है, कि सतुलन के विना हमारा जीवन किसी भी प्रकार की साधना मे सार्थक और सफल नही हो सकता। जो कुछ सीखा है उसे आचरण मे उतरने दो और आचरण में उसे ही उतारो जो कुछ सीखा है। ज्ञान और क्रिया के सतुलन के अभाव मे हमारी साधना पगु रहेगी, उसमे शक्ति और बल का आधान न हो सकेगा।

मैं आपसे यह कह रहा था, कि मनुष्य का जीवन धर्म और अध्यात्म-साधना के बिना निष्फल है। यदि कोई व्यक्ति यह सोचता है, कि जीवन भोग के लिए है, तो मेरे विचार मे वह व्यक्ति नास्तिक है, फिर भले ही वह किसी भी परम्परा से सम्बन्धित क्यों न हो। एक बात आप ध्यान मे रखें, और वह यह है, कि जीवन की विशुद्धि को ही मैं साधना कहता हूँ। पर वह विशुद्धि आन्तरिक होनी चाहिए, केवल बाह्य ही नही। बाह्य विशुद्धि हमने हजारो, लाखो, करोडो जन्मो तक की, किन्तु उसका कोई भी शुभ परिणाम हमारे जीवन मे दृष्टिगोचर नही होता। तन की शुद्धि का अपने आप मे कुछ अर्थ अवश्य है, पर वही सब कुछ नही है। किसी भी प्रकार की आध्यात्मिक साधना करने के लिए, तन की विशुद्धि की अपेक्षा मन की विशुद्धि ही अधिक उपयोगी एव अधिक अर्थकारी है। तन की विशुद्धि होने पर भी यदि मन की विशुद्धि नही है, तो जीवन के कल्याण से हम बहुत दूर हैं। इसके विपरीत तन की विशुद्धि न होने पर भी यदि मन की विशुद्धि परिपूर्ण है, तो हम अपनी साधना के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। अध्यात्म साधनाओ का का केन्द्र विन्दु और मूल विन्दु तन नही, मन है। मानव के इस स्थूल देह मे उसका मेरुदण्ड केन्द्र माना जाता है, जिससे शरीर की समग्र नसो का सम्बन्ध जुडा रहता है। यदि मेरुदण्ड स्वस्थ है, प्राणवान है और वह सीधा-तना रहता है, तो सम्पूर्ण शरीर मे एक अजीव स्फूर्ति और जागृति उत्पन्न हो जाती है। यदि मेरुदण्ड मे किसी प्रकार की गडवडी पैदा हो गई है, तो जोवन रहते भी शरीर वेकार हो जाता है। यही वात मन के सम्वन्ध मे भी है। हमारी जितनी भी इन्द्रियाँ हैं उनका सम्वन्ध मन से है। आँख रूप को अवश्य देखती है, पर रूप का ज्ञान तभी होता है, जब आँख के साथ मन का

संयोग रहता है। कान शब्दों को सुनते हैं, किन्तु शब्द ज्ञान तभी होता है, जब कि कानों का मन से सम्बन्ध होता है। रसना रस को ग्रहण करती है, परन्तु रस का ज्ञान तभी होता है, जब कि रसना के साथ मन का संयोग रहता है। घ्राण गन्ध को ग्रहण करता है पर गन्ध का ज्ञान तभी होता है, जब कि घ्राण का सम्बन्ध मन से होता है। स्पर्शन स्पर्श करती है पर स्पर्श का ज्ञान तभी होता है, *जब कि स्पर्शन का सम्बन्ध मन के साथ होता है।* मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण करते हुए भी उन-उन विषयों का ज्ञान तभी करती हैं, जब कि इन्द्रियों के साथ मन का योग्य का सम्बन्ध हो जाता है।

मैं आपसे जीवन-विशुद्धि की बात कह रहा था। जीवन की विशुद्धि का आधार तन नहीं मन है। मन की विशुद्धि ही समस्त साधनाओं का मेरुदण्ड कहा जा सकता है किन्तु विवेक-विकल जन मन की विशुद्धि को भूलकर एकमात्र तन की विशुद्धि को ही अपने धर्म का आधार मान बठे हैं। एक बार की बात है मैं किसी गाँव में ठहरा हुआ था। गाँव छोटा था उसमें ठहरने के लिए अच्छा स्थान न मिला। अतः गाँव की चौपाल में ही ठहरना पड़ा। जिस स्थान पर मैं ठहरा हुआ था उसके समीप ही सामने एक कूप था। मैंने वहाँ देखा कि एक व्यक्ति अपने लोटे को मिट्टी से बार-बार माँज रहा था एक दो बार ही नहीं पूरे सात बार उसने अपने लोटे को माँजा। जिस *डोर से वह पानी भर रहा था उसे भी इसी प्रकार माँजा और कुल्ला* करने की बारी आई तो फिर डोल के डोल उसने कुल्ला करने में लगा दिए। इसी बीच में एक दूसरे सज्जन वहाँ पर आए, उन्होंने अपने लोटे को एक बार माँजा और कुल्ला करने बैठ गए। एक दो लोटे में ही उसने कुल्ला भी कर लिया और हाथ मुँह भी धो लिया और फिर जब वह व्यक्ति वहाँ से चलने लगा तो पहले व्यक्ति ने कहा—"क्या कुल्ला कर लिया ?" दूसरे व्यक्ति ने हाँ में उत्तर दिया तो पहले व्यक्ति ने मुँह बना कर कहा—तुम्हारे जैसे व्यक्तियों ने *ही धर्म को भ्रष्ट कर दिया है।? दूसरा व्यक्ति कुछ तर्कशील था बोला*—क्या ? पहले ने कहा कि— 'इसलिए कि तुम लोग पूरी तरह शुद्धि नहीं करते। उसने पूछा—"पूरी तरह शुद्धि कैसे होती है ? तब उस शुद्धिवादी व्यक्ति ने कहा— 'कम से कम चार-पाँच डोल से तो कुल्ला करना ही चाहिए, तभी मुख की शुद्धि हो सकती है।" फिर तो तर्कशील व्यक्ति ने कूप से चार-पाँच डोल खींचे और बहुत देर तक कुल्ला करता रहा। फिर उसने उस शुद्धिवादी व्यक्ति से मधुर मुस्कान के साथ पूछा—"कहिए, अब तो मेरे मुख की शुद्धि हो गयी न?

शुद्धिवादी वोला—"हाँ अब तुम्हारा मुख शुद्ध हो गया है।" जव वह तर्कशील व्यक्ति वहाँ से चला, तो उसने चलते समय शुद्धिवादी पर कुल्ला कर दिया, यह देखकर वह विगड गया और वोला—"तू वडा वद्तमीज है।" जो कुछ उसके मुख मे आया वह वकता ही रहा। वह तर्कशील व्यक्ति उसकी गन्दी से गन्दी गाली को सुनकर भी मुस्कराता रहा, पर वोला नही। जव गाली देने वाला व्यक्ति गाली दे-दे कर थक गया और चुप हो गया, तव उसने कहा—,आपने तो कहा था, कि तेरे मुख की शुद्धि हो गयी है, जव कि मेरे मुख की, शुद्धि हो चुकी और अपने शुद्ध मुख का शुद्ध जल आपके ऊपर डाल दिया, तव आपको विगडने की क्या आवश्यकता थी ? इसका अर्थ तो यही हुआ, कि मेरे मुख की शुद्धि नही हुई, तभी आप मेरे ऊपर विगड पडे हैं।" वह शुद्धि-वादी व्यक्ति कुछ झेंप-सा गया। उस तर्कवादी व्यक्ति ने कहा—"मेरा मुख न शुद्ध है, न अशुद्ध है, वह तो जैसा था वैसा ही है और जैसा है, वैसा ही रहेगा। पर गन्दे शब्द वोलने के कारण तुम्हारा मुख तो निश्चय ही अपवित्र हो गया है। जिस व्यक्ति मे वाणी का सयम नही है, उसके मुख की शुद्धि कभी नही हो सकती। फिर वह कितना भी अपने मुख का प्रक्षालन क्यो न करता हो। मुख की शुद्धि जल से नही, मधुर वाणी से और प्रिय शब्दो से होती है।" जव तक आन्तरिक शुद्धि नही होगी, तब तक वाणी मधुर नही हो सकती। बाह्य शुद्धि क्षणिक होती है, आन्तरिक शुद्धि वस्तुत स्थायी रहती है। इस शरीर को हजार वार भी स्नान कराया जाय, तब भी यह गन्दा ही रहेगा। इस तन पर कितना भी चन्दन का लेप लगाया जाय, तव भी इसकी अपवित्रता दूर नही हो सकती।

मैं आपसे जीवन-विशुद्धि की बात कह रहा था। जीवन की विशुद्धि किस प्रकार होती है, इसके लिए शास्त्रकारो ने बहुत से साधन बतलाए हैं। उन साधनो मे सर्वश्रेष्ठ साधन है, मन की विशुद्धि। मन की विशुद्धि के अभाव मे तन की विशुद्धि का कुछ भी मूल्य नही है। मन की विशुद्धि प्रत्येक साधना मे अपेक्षित है, फिर भले ही वह साधना गृहस्थ-जीवन की हो अथवा साधु-जीवन की हो। जीवन की आन्तरिक विशुद्धि के सम्बन्ध मे वैदिक परम्परा मे एक श्लोक वोला जाता है—

"अपवित्र पवित्रो वा सर्वावस्था गतोऽपि वा।
य स्मरेत् पुण्डरीकाक्ष स बाह्याभ्यन्तर शुचि ।"

इसमे कहा गया है, कि कोई व्यक्ति तन से चाहे पवित्र हो अथवा अपवित्र हो, अथवा किसी भी अवस्था मे क्यो न हो, जो व्यक्ति अपने मन मे भगवान विष्णु का स्मरण करता है, वह अवश्य ही पवित्र है। क्यो कि प्रभु के स्मरण

संयोग रहता है। कान शब्द को सुनते हैं, किन्तु शब्द-ज्ञान तभी होता है, जब कि कानों का मन से सम्बन्ध होता है। रसना रस को ग्रहण करती है परन्तु रस का ज्ञान तभी होता है, जब कि रसना के साथ मन का संयोग रहता है। घ्राण गन्ध को ग्रहण करता है पर गन्ध का ज्ञान तभी होता है जब कि घ्राण का सम्बन्ध मन से होता है। स्पर्शन स्पर्श करती है पर स्पर्श का ज्ञान तभी होता है जब कि स्पर्शन का सम्बन्ध मन के साथ होता है। मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण करते हुए भी उन-उन विषयों का ज्ञान तभी करती हैं, जब कि इन्द्रियों के साथ मन का योग का सम्बन्ध हो जाता है।

मैं आपसे जीवन-विशुद्धि की बात कह रहा था। जीवन की विशुद्धि का आधार तन नहीं मन है। मन की विशुद्धि ही समस्त साधनाओं का मेरुदण्ड कहा जा सकता है किन्तु विवेक-विकल जन मन की विशुद्धि को भूलकर एकमात्र तन की विशुद्धि को ही अपने धर्म का आधार मान बैठे हैं। एक बार की बात है मैं किसी गाँव में ठहरा हुआ था। गाँव छोटा था उसमें ठहरने के लिए अच्छा स्थान न मिला। अतः गाँव की चौपाल में ही ठहरना पड़ा। जिस स्थान पर मैं ठहरा हुआ था उसके समीप ही सामने एक कूप था। मैंने वहाँ देखा कि एक व्यक्ति अपने लोटे को मिट्टी से बार-बार माँज रहा था एक दो बार ही नहीं पूरे सात बार उसने अपने लोटे को माँजा। जिस डोर से वह पानी भर रहा था उसे भी इसी प्रकार माँजा और कुल्ला करने की बारी आई तो फिर डोल के डोल उसने कुल्ला करने में लगा दिए। इसी बीच में एक दूसरे सज्जन वहाँ पर आए, उन्होंने अपने लोटे को एक बार माँजा और कुल्ला करने बैठ गए। एक दो लोटे में ही उसने कुल्ला भी कर लिया और हाथ मुँह भी धो लिया और फिर जब वह व्यक्ति वहाँ से चलने लगा तो पहले व्यक्ति ने कहा—"क्या कुल्ला कर लिया ?" दूसरे व्यक्ति ने हाँ में उत्तर दिया तो पहले व्यक्ति ने मुँह बना कर कहा—तुम्हारे जैसे व्यक्तियों ने ही धर्म को भ्रष्ट कर दिया है। ? दूसरा व्यक्ति कुछ तर्कशील था बोला—क्या ? पहले ने कहा कि— 'इसलिए कि तुम लोग पूरी तरह शुद्धि नहीं करते। उसने पूछा—"पूरी तरह शुद्धि कैसे होती है ? तब उस शुद्धिवादी व्यक्ति ने कहा— 'कम से कम चार-पाँच डोल से तो कुल्ला करना ही चाहिए, तभी मुख की शुद्धि हो सकती है। फिर तो तर्कशील व्यक्ति ने कूप से चार-पाँच डोल खींचे और बहुत देर तक कुल्ला करता रहा। फिर उसने उस शुद्धिवादी व्यक्ति से मधुर मुस्कान के साथ पूछा—"कहिए, अब तो मेरे मुख की शुद्धि हो गयी न?

शान्त एव सुन्दर बनाने के लिए मनोविज्ञान का अध्ययन परमावश्यक है। यद्यपि मैं इस बात को मानता हूँ कि मानव जीवन मे प्रत्येक विद्या का अपना महत्व होता है, परन्तु अपने जीवन को समझने के लिए मनोविज्ञान का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। इसकी उपयोगिता इसी पर निर्भर है, कि आज के युग में अधिकाश छात्र इसी को अपने अध्ययन का विषय बना रहे हैं। मनोविज्ञान के पण्डितो का यह दावा है, कि हम इसके अध्ययन के द्वारा समाज की समस्याओ को हल कर सकते हैं और राष्ट्र की उलझनो को सुलझा सकते हैं और व्यक्ति की व्यक्तिगत भावनाओ एव इच्छाओ का विश्लेषण करके उन्हे किसी प्रशस्त पथ पर केन्द्रित किया जा सकता है, जिससे उस व्यक्ति के जीवन का विकास और उत्थान आसानी के साथ किया जा सकता है। मन की विविध वृत्तियो का विश्लेषण करके, मन के अच्छे और बुरे सस्कारो को भली भाँति जाना जा सकता है और फिर उन्हे मोड भी दिया जा सकता है। इस प्रकार मनोविज्ञान का अपने आपमे एक सुन्दर उपयोग हो सकता है।

एक प्रश्न यहाँ पर यह भी किया जा सकता है, कि क्या हमारे प्राचीन साहित्य मे मन के सम्बन्ध मे कुछ भी नही कहा गया है ? इसके उत्तर मे मैं यही कहूँगा कि बहुत कुछ कहा गया है, आवश्यकता है, केवल उसे खोजने की। भगवान महावीर ने, तथागत बुद्ध ने मन की वृत्तियो के सम्बन्ध मे बहुत कुछ कहा है और उनकी उस वाणी को आधार बनाकर उभय परम्परा के आचार्यों ने उक्त विषय पर विभिन्न ग्रन्थो की रचना भी की है। भारतीय दर्शन मे जिसे योग-दर्शन कहा जाता है, वह वस्तुत एक प्रकार का मनोविज्ञान ही है। यद्यपि आज का मनोविज्ञान और प्राचीन युग के योग-शास्त्र बहुत सी बातो मे मिलते नहीं हैं, फिर भी जीवन को सस्कारित करने के लिए जिन सिद्धान्तो का विश्लेषण योग-शास्त्र मे किया गया है, आज के मनोविज्ञान मे भी उनका सर्वथा अभाव नही है। फिर भी मैं यह कहूँगा, कि पतञ्जलिकृत 'योग-शास्त्र' मे मनकी वृत्तियो का बडा ही सुन्दर विश्लेषण किया गया है। बौद्ध परम्परा का 'विशुद्धि-मार्ग' ग्रन्थ भी इसी विषय का एक अनुपम ग्रन्थ है। जैन-परम्परा मे आचार्य हरिभद्र ने एक नही, अनेक ग्रन्थो की रचना इसी विषय पर की है। आचार्य हरिभद्र के योग-ग्रन्थ भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर हैं। इतना ही नही, उन ग्रन्थो मे आचार्य ने जिस समन्वयात्मक दृष्टिकोण को अपनाया है, वह उनकी एक विशिष्ट और अनुपम देन है। आज का मनोविज्ञान एक विज्ञान है, जब कि प्राचीन युग का 'योग' विज्ञान न होकर एक शास्त्र था और एक विशिष्ट दर्शन था। योग-शास्त्र मे मन और इन्द्रियो को वश मे करने के लिए अथवा उन्हे नियन्त्रित — लिए अनेक प्रकार के साधनो का उल्लेख

से जब उसका मन पवित्र हो चुका है, तब बाहर की पवित्रता और अपवित्रता से उसके जीवन पर किसी प्रकार प्रभाव नहीं पड़ सकता। साधना में मन की पवित्रता ही सबसे मुख्य है।

जो बात वैदिक परम्परा के इस श्लोक में कही गयी है, वही बात जैन परम्परा में भी कही गई है। इसी प्रकार का एक दूसरा श्लोक जैन-परम्परा में भी चिरकाल से प्रचलित है। उस श्लोक का पूर्वार्ध तो ज्यों का त्यों है, किन्तु उत्तरार्ध में कुछ परिवर्तन है—

"अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् परमात्मानं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥"

आपने देखा कि इस श्लोक का भी वही अभिप्राय है जो पहले का था। केवल पुण्डरीकाक्ष के स्थान पर परमात्मा कहा गया है। जो व्यक्ति वीतराग परमात्मा का स्मरण करता है वह अन्दर से पवित्र रहता है, मन से पवित्र रहता है फिर बाहरी पवित्रता हो अथवा न हो उसका अपने आपमें कुछ भी मूल्य नहीं है। मूल्य है, केवल मन की पवित्रता का।

साधना के क्षेत्र में जो स्थान मन को मिला है वह किसी अन्य साधन को नहीं मिल सका। मन क्या वस्तु है? इस सम्बन्ध में प्राचीन साहित्य में बहुत लिखा गया है। आज के मनोविज्ञान में भी मन का विश्लेषण और मन की क्रियाओं का अध्ययन बड़ी सूक्ष्मता से किया जाता है। आज के विद्यालय और विश्वविद्यालयों में हजारों लाखों छात्र एवं छात्राएं अपने अध्ययन का विषय मनोविज्ञान को बनाते हैं। दसवीं कक्षा से लेकर और एम ए तथा पी एच डी तक मनोविज्ञान का अध्ययन विधिवत् कराया जाता है। कहा जाता है, कि मनोविज्ञान आज के युग का एक दर्शन-शास्त्र है। अन्य दर्शन की अपेक्षा आज के युग में मनोविज्ञान बहुत ही लोकप्रिय हो चुका है। भारत की अपेक्षा विदेशों में तो इसका बहुत ही प्रचार और प्रसार होता जा रहा है। आपके मन में यह प्रश्न उठ सकता है, कि मनोविज्ञान का प्रचार इतना अधिक क्यों हो गया? इस प्रश्न के उत्तर में यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मनोविज्ञान का हमारे जीवन से सीधा सम्बन्ध है। मनोविज्ञान जीवन का एक दर्शन है एक जीवन का शास्त्र है और जीवन की एक कला है। हमारे किस विचार का प्रभाव हमारे शरीर पर क्या पड़ सकता है, मनोविज्ञान इसका बड़ा सुन्दर विश्लेषण करता है। हमारे विचारों का प्रभाव हमारे अपने परिवार पर, समाज पर और राष्ट्र पर कैसा पड़ता है? मनोविज्ञान इसका भी सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत करता है। मन की वृत्तियों को समझने के लिए तथा जीवन को

देगा ?" किन्तु मेरे विचार मे यह बात नही वैठती है, क्योकि पछी प्रात काल अपने घोसले से निकलता है और पेट भरने के लिए दिन भर चक्कर काटता रहता है, तब कही उसके पेट की पूर्ति हो पाती है। अजगर को भी अपने भोजन के लिए कुछ न कुछ सघर्ष करना ही पडता है। किन्तु आलसी व्यक्ति तो रावण के भाई उस कुम्भकर्ण के समान होता है, जो एक बार खा-पीकर छह महीने तक सोता ही रहता था। आप अपने ही जीवन को देखिए, आप अपनी दुकान पर अथवा अपने दफ्तर मे कम से कम छह अथवा आठ घण्टे काम करते ही हैं, फिर भी मैं समझता हूँ कि आपके समय की एक सीमा है, लेकिन एक कीडा जो दिन और रात इधर-उधर घूमता रहता है, उसकी मेहनत का क्या ठिकाना है ? वह कीडा दिन मे ही नही, रात को भी, जबकि आप आराम से अपने बिस्तर पर लेटे अथवा सोते रहते है, वह बेचारा चक्कर ही काटता रहता है। तब यह कैसे कहा जा सकता है, कि सबके दाता राम ही हैं। यह ठीक है कि अपने कर्म का अपने मन मे अहकार जागृत न हो, इसलिए हम प्रभु की आड लेते हैं अथवा कर्म की आड लेते है, परन्तु प्रभु ही सब कुछ करता है, यह सिद्धान्त ठीक नही है। यदि उक्त सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाए, तब तो जीवन मे पुरुषार्थ का कुछ भी मूल्य नही रह सकेगा। यह एक प्रकार की तमोगुणी मनोवृत्ति है, कि मनुष्य निष्क्रिय भी रहे और फल भी प्राप्त करना चाहे। जो व्यक्ति कर्म के बिना और पुरुषार्थ के बिना फल की आकांक्षा रखता है, वह तमोगुणी व्यक्ति है, उसे हम तमोगुणी मन कहते हैं।

दूसरा गुण है—रजोगुण। रजोगुण मे व्यक्ति क्रियाशील रहता है। रजोगुणी व्यक्ति का मन सदा चचल और डावाडोल बना रहता है। रजोगुणी व्यक्ति के मन की इच्छाएँ और कामनाएँ कभी उसे शान्ति से नही बैठने देती हैं। रजोगुणी व्यक्ति का जीवन चचल और अशान्त रहता है। यदि शरीर जवाब दे दे, तो भी वह अपने मन से क्रियाशील बना रहता है। उसका सिद्धान्त एक ही है, कि वह कर्म तभी करेगा, जब कि उसे उस कर्म का फल मिलेगा। वह जो भी कर्म करता है, उसका फल चाहता है। यदि घर वालो के लिए कर्म करता है, तो वह चाहता है, कि उसके शरीर को सबसेअच्छा खाना-पीना-पहनना मिले।रजोगुणी की मनोवृत्ति अपने कर्म के फल मे इतनी आसक्त रहती है, कि वह अपने कर्म के फल को छोडने के लिए कभी तैयार नही होता। कल्पना कीजिए, रजोगुणी व्यक्ति अपने घर पर उस समय पहुँचा, जब कि तैय्यार किया हुआ भोजन समाप्त हो चुका हो। सहसा आने वाले किसी अतिथि को वह भोजन दे दिया गया हो, अथवा द्वार पर आए किसी भिखारी की झोली मे डाल दिया

किया गया है। मेरे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि प्राचीन युग में हमारे यहाँ पर मनोविज्ञान नहीं था मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि प्राचीन योग विद्या का आज के मनोविज्ञान के सन्दर्भ में अध्ययन किया जाए। यदि आज के मनोविज्ञान और प्राचीन योग-शास्त्र का समन्वयात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जाए तो इस विषय पर नया प्रकाश पड़ सकता है और एक नया चिन्तन आज की नवचेतना के समक्ष प्रस्तुत किया जा सकता है। मनोविज्ञान हो अथवा योग-शास्त्र हो और फिर भले ही उन दोनों में मन की वृत्तियों का कितना भी विश्लेषण क्यों न किया गया हो पर यदि उसे जीवन में उतारने का प्रयत्न नहीं किया जाएगा तो हमें उससे कुछ भी लाभ नहीं मिलेगा। अतः मन को समझने का प्रयत्न करो।

भारत के प्राचीन साहित्य में एक अन्य प्रकार से भी मन पर विचार किया गया है। वह अन्य प्रकार है—गुणत्रय। गुण तीन माने गए हैं—तमोगुण रजोगुण और सत्त्वगुण। मनुष्य के मन में कभी तमोगुण अधिक रहता है, कभी रजोगुण अधिक रहता है और कभी सत्त्व गुण अधिक रहता है। तमोगुण क्या है? जब आपके मन में किसी प्रकार की स्फूर्ति एवं स्फुरणा जाग्रत नहीं होती है और जब मन आलस्य एवं तन्द्रा के अधीन हो जाता है, तब समझना चाहिए कि मन में तमोगुण की अधिकता है। तमोगुणी व्यक्ति का जीवन कुछ इस प्रकार का हो जाता है, कि किसी भी कार्य के करने में उसका मन लगता नहीं है। तमोगुणी व्यक्ति अध्यात्म-साधना तो क्या लौकिक कामों के करने से भी जी चुराता रहता है। अजगर के समान पड़े रहना ही उसे अच्छा लगता है। तमोगुण आलस्य और तन्द्रा को बढ़ाता है और वह व्यक्ति को इस सीमा तक पहुँचा देता है, कि पड़े रहने के सिवाय उस व्यक्ति को अन्य कुछ भी अच्छा नहीं लगता। तमोगुणी व्यक्ति किसी भी कर्म में अपने आपको लगा नहीं पाता है। क्रियाहीनता और जड़ता ही तमोगुण का प्रधान लक्षण है। तमोगुणी व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। तमोगुणी व्यक्ति के जीवन में से यह सिद्धान्त निकल आता है, कि वह कहता है—

'अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गए, सबके दाता राम।।

तमोगुण से अभिभूत आलसी व्यक्ति कहता है कि 'जिसने जन्तु दी है, वह भुग्गा भी देगा। फिर काम करने की क्या आवश्यकता है, बेकार में दौड़-धूप करने की क्या आवश्यकता है? अजगर किसी की चाकरी करता है, पंछी किसका काम करता है? राम जब इन सबको देता है, तब मुझे क्यों नहीं

देगा ?" किन्तु मेरे विचार मे यह वात नही वैठती है, क्योकि पछी प्रात काल अपने घोसले से निकलता है और पेट भरने के लिए दिन भर चक्कर काटता रहता है, तव कही उसके पेट की पूर्ति हो पाती है। अजगर को भी अपने भोजन के लिए कुछ न कुछ सघर्ष करना ही पडता है। किन्तु आलसी व्यक्ति तो रावण के भाई उस कुम्भकर्ण के समान होता है, जो एक वार खा-पीकर छह महीने तक सोता ही रहता था। आप अपने ही जीवन को देखिए, आप अपनी दुकान पर अथवा अपने दफ्तर मे कम से कम छह अथवा आठ घण्टे काम करते ही हैं, फिर भी मैं समझता हूँ कि आपके समय की एक सीमा है, लेकिन एक कीडा जो दिन और रात इधर-उधर घूमता रहता है, उसकी मेहनत का क्या ठिकाना है ? वह कीडा दिन मे ही नही, रात को भी, जवकि आप आराम से अपने बिस्तर पर लेटे अथवा सोते रहते हैं, वह बेचारा चक्कर ही काटता रहता है। तब यह कैसे कहा जा सकता है, कि सबके दाता राम ही हैं। यह ठीक है कि अपने कर्म का अपने मन में अहकार जागृत न हो, इसलिए हम प्रभु की आड लेते हैं अथवा कर्म की आड लेते है, परन्तु प्रभु ही सब कुछ करता है, यह सिद्धान्त ठीक नही है। यदि उक्त सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाए, तब तो जीवन मे पुरुषार्थ का कुछ भी मूल्य नही रह सकेगा। यह एक प्रकार की तमोगुणी मनोवृत्ति है, कि मनुष्य निष्क्रिय भी रहे और फल भी प्राप्त करना चाहे। जो व्यक्ति कर्म के विना और पुरुषार्थ के बिना फल की आकांक्षा रखता है, वह तमोगुणी व्यक्ति है, उसे हम तमोगुणी मन कहते हैं।

दूसरा गुण है—रजोगुण। रजोगुण मे व्यक्ति क्रियाशील रहता है। रजोगुणी व्यक्ति का मन सदा चचल और डावाडोल बना रहता है। रजोगुणी व्यक्ति के मन की इच्छाएँ और कामनाएँ कभी उसे शान्ति से नही वैठने देती हैं। रजोगुणी व्यक्ति का जीवन चचल और अशान्त रहता है। यदि शरीर जवाब दे दे, तो भी वह अपने मन से क्रियाशील बना रहता है। उसका सिद्धान्त एक ही है, कि वह कर्म तभी करेगा, जब कि उसे उस कर्म का फल मिलेगा। वह जो भी कर्म करता है, उसका फल चाहता है। यदि घर वालो के लिए कर्म करता है, तो वह चाहता है, कि उसके शरीर को सबसेअच्छा खाना-पीना-पहनना मिले। रजोगुणी की मनोवृत्ति अपने कर्म के फल में इतनी आसक्त रहती है, कि वह अपने कर्म के फल को छोडने के लिए कभी तैयार नहीं होता। कल्पना कीजिए, रजोगुणी व्यक्ति अपने घर पर उस समय पहुँचा, जब कि तैय्यार किया हुआ भोजन समाप्त हो चुका हो। सहसा आने वाले किसी अतिथि को वह भोजन दे दिया गया हो, अथवा द्वार पर आए किसी भिखारी की झोली मे डाल दिया

गया हो या फिर पत्नी की असावधानी के कारण इधर-उधर फिरने वाले कुत्ते बिल्ली ने ही वह खा डाला हो। वह व्यक्ति जब घर पहुँचता है और भोजन माँगने पर उसे भोजन नहीं मिलता तो वह अपनी पत्नी को हजारों गालियाँ सुना डालता है। क्रोध के आवेश में वह यह भी कह डालता है, कि दिन भर घूम फिर कर कठोर परिश्रम करता हूँ मैं और घर में बैठे मौज उड़ाते हो तुम। रजोगुणी व्यक्ति कहता है जब मैं कर्म करता हूँ तो उसका फल सबसे पहले मुझे ही मिलना चाहिए। रजोगुणी व्यक्ति यह नहीं सोचता कि मेरे कर्म का फल मेरी पत्नी को अथवा मेरे बच्चों को मिल गया तो क्या ? मेरे कर्म का फल मेरे घर आए हुए मेहमान अथवा भिखारी को मिल गया है तो क्या ? अथवा मेरे कर्म का फल किसी पशु-पक्षी को मिल गया है, तो क्या ? किसी को तो मिला है। परन्तु रजोगुणी व्यक्ति इस प्रकार सोच नहीं पाता वह अपने कर्म-फल को छोड़ने के लिए कभी तैय्यार नहीं हो सकता। उसकी दृष्टि में परिवार और परिवार का तथा समाज और राष्ट्र का महत्त्व बाद में है, और पहले अपना है। रजोगुणी व्यक्ति जो चाहता है, अपने लिए चाहता है। धन और सम्पत्ति वैभव और विलास तथा पूजा और प्रतिष्ठा के लिए वह जो कुछ भी श्रम करता है इसका फल पहले वह अपने लिए चाहता है। उसका सिद्धान्त है, कि पहले मैं और फिर अन्य लोग। रजोगुणी व्यक्ति परिश्रम करता है, कर्म करता है, इसमें किसी प्रकार सन्देह नहीं है, परन्तु सब कुछ कर लेने पर उसका सारा फल वह स्वयं ही समेट लेना चाहता है। अपने कर्म के फल में वह दूसरे को भागीदार तभी बना सकता है जब पहले स्वयं उसकी इच्छा या अभिलाषा की पूर्ति हो जाए, अन्यथा नहीं। रजोगुणी व्यक्ति का कर्म करने में तो विश्वास होता है किन्तु उस कर्म के फल को बाँटकर उपभोग करने में उसका विश्वास नहीं होता।

एक नवाब था। उसे दान देने का बहुत शौक था। वास्तविकता यह है, कि दान देने में उसे उतना रस नहीं था जितना कि दान के प्रदर्शन में उसे आनन्द आता था। देता कम और दिखावा अधिक करता। जब कोई भिखारी अथवा कोई असहाय व्यक्ति धन-प्राप्ति की अभिलाषा से उसके पास आता तो वह देने से इन्कार तो नहीं करता था लेकिन उसने दान करने का एक अजीबोगरीब तरीका निकाल रखा था। उसकी दाढ़ी बहुत लम्बी थी। कोई भी व्यक्ति जब दान लेने के लिए उसके पास आता था तो वह अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरता था और हाथ फेरने में जितने बाल दाढ़ी से टूटकर हाथ में आ जाते उतने ही पैसे वह उस व्यक्ति को देता था जो था लेने उसके पास आता था। कभी ऐसा भी होता था कि दाढ़ी पर हाथ फेरने से

एक भी बाल हाथ मे न आता, उस स्थिति मे दान लेने के लिए आए हुए व्यक्ति को नवाब साहब के द्वार से निराश होकर ही लौटना पडता ।

एक बार की बात है, राजस्थान का एक चारण कवि उस नवाब साहब के दरबार मे पहुँचा। चारणकवि ने नवाब की प्रशसा मे बडी सुन्दर कविता की रचना की। चारण कवि ने अपनी कविता मे नवाब को इस धरती का सूरज और चांद सब कुछ बना दिया था, पर जब दान का समय आया, तब नवाब साहब कहने लगे कि 'सुनाया तो तुमने बहुत अच्छा है, पर अब तकदीर तुम्हारी है। मैं अपनी दाढी पर हाथ फेरता हूँ और हाथ फेरते ही जितने बाल आ जाएँगे उतने ही पैसे मैं तुम्हे दे दूँगा। नवाब साहब ने अपनी दाढी पर हाथ फेरा तो एक भी बाल उनके हाथ मे नही आया। हँसकर बोले—"तेरी तकदीर ही हेठी है। तेरी तकदीर मे कुछ लिखा ही नही है। एक दो बाल भी आ जाते, तो एक दो पैसे मैं तुझे जरूर दे देता, पर तू इतना भाग्यहीन है, कि मेरी दाढी का एक भी बाल मेरे हाथ मे नही आया।"

चारण ने बडी गम्भीरता से नवाब की बात को सुना। थोडी देर चुप रहकर हँसी के साथ उसने नवाब से कहा—"आपने मेरी तकदीर की बात खूब कही। आपकी ही तो दाढी और आपका ही हाथ। फिर आपने मेरी तकदीर का फैसला कैसे कर लिया ? यदि मेरी तकदीर का फैसला करना चाहते हैं, तो ऐसा कीजिए कि हाथ मेरा हो और दाढी आपकी हो। मेरी तकदीर का फैसला तभी हो सकता है।"

चारण की बात कर्मक्षेत्र की बात है। उसे अपने कर्म पर विश्वास है, कि मैं करूँगा तो मुझे फल अवश्य ही मिलेगा। उसने ठीक ही कहा कि मेरी तकदीर का फैसला नवाब साहब तभी अच्छी तरह हो सकता है, जब कि दाढी आपकी हो और हाथ मेरा हो। दाढी भी आपकी और हाथ भी आपका तो मेरी तकदीर का फैसला कैसे हो सकता है ? कर्मशील व्यक्ति को अपने कर्म पर विश्वास होता है, वह सोचता है कि जब मैं कर्म करता हूँ, तो उसका फल भी मुझे या मेरे साथी को अवश्य ही मिलेगा। परन्तु रजोगुणी व्यक्ति जो कुछ करता है, उसके व्यक्तिगत फल को छोडने के लिए वह तैयार नही होता। रजोगुणी व्यक्ति को जब तक उसके कर्म का फल नहीं मिल जाता है, तब तक वह हैरान, परेशान और बेचैन ही रहता है। रजोगुणी मन कभी शान्त होकर नही बैठता। चचलता, असन्तोष और अशान्ति ही रजोगुणी मन का लक्षण है। रजोगुणी व्यक्ति कहता है—'कर्म तो अवश्य करूँगा, किन्तु उसके फल को भी मैं छोड नही सकता। रजोगुणी व्यक्ति के मन मे फल की आसक्ति इतनी तीव्रतम होती है, कि वह कभी

उसको शान्ति से और सुख से बैठने नहीं देती इसलिए वह सदैव क्रियाशील रहता है।

तीसरा गुण है—सत्त्व गुण। वैसे तो प्रत्येक गुण पर लम्बी व्याख्या हो सकती है किन्तु यहाँ पर संक्षेप में बतलाना ही मुझे अभीष्ट है। सत्त्वगुण की व्याख्या करते हुए कहा गया है, कि सत्त्वगुण प्रकाशक होता है उल्लासमय एवं आनन्दमय होता है। तमोगुण स्थितिशील है, रजोगुण गतिशील है और सत्त्वगुण प्रकाशशील है। जिस व्यक्ति के मन में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है, वह सदा प्रसन्न शान्त और सन्तुष्ट रहता है। भौतिक भोगों की आकांक्षा उसके मन में नहीं रहती। वह कर्म तो करता है किन्तु कर्म के फल की अभिलाषा का उदय उसके मानसिक क्षितिज पर कभी होता ही नहीं। सत्त्वशील व्यक्ति को भौतिकता में नहीं आध्यात्मिकता में ही आनन्द आता है, क्योंकि उसका मन शान्त और प्रसन्न रहता है। सत्त्वशील व्यक्ति का मन उस सरोवर के समान शान्त रहता है, जिसमें एक भी तरंग नहीं उठ रही है और इसीलिए जिसमें प्रतिबिम्ब स्पष्ट प्रतीत होता है। सत्त्वगुण का अर्थ यह नहीं है कि वह कर्म को ही जलाञ्जलि दे दे। कर्म तो वह करता है, किन्तु कर्म के फल की अभिलाषा वह नहीं करता। वह दान करता है, किन्तु दान के बदले में वह कुछ चाहता नहीं है। वह सेवा करता है, किन्तु सेवा के बदले में सत्कार की अभिलाषा उसके मन में नहीं उठती। वह सब कुछ करता है, पर सब कुछ करके भी उस सब कुछ के फल से विरक्त ही रहना चाहता है। वह प्रभु का स्मरण करता है, किन्तु प्रभु से कुछ माँगता नहीं है। परिवार, समाज और राष्ट्र को सब कुछ देकर भी वह उसमें से कुछ भी पाने की आकांक्षा नहीं रखता। प्रभु के नाम की दो चार माला फेर कर और उसके बदले में संसार का वैभव माँगने की इच्छा उसके मन में कभी नहीं उठती। वह अध्यात्म-जीवन की उस ऊँचाई पर पहुँच जाता है, जहाँ पहुँचकर कुछ पाने की अभिलाषा ही शेष नहीं रह पाती। सत्त्वगुणी मन सब कुछ देता है, लेता कुछ नहीं है। देकर लेने की आसक्ति ही सब दुःख और क्लेशों का मूल है। एक मात्र कर्तव्य-बुद्धि से कर्म करना ही सात्त्विक मन की पहचान है। वह संसार में रहकर परिवार और समाज के लिए सब कुछ करता है, किन्तु सब कुछ करके भी सब कुछ करने के अहंकार को वह अपने मन में उत्पन्न नहीं होने देता। सात्त्विक मन विकल्प और प्रपंचों से दूर हटकर शान्ति और निराकुलता की अनुभूति करता है। सात्त्विक मन सदा शान्त प्रसन्न और आनन्दमय रहता है।

भारत के प्राचीन वैदिक साहित्य मे इस सम्बन्ध मे एक बहुत ही सुन्दर श्लोक कहा गया है, जिसमे कहा है कि—

"प्रविहाय निज कम कृष्ण कृष्णेति वादिन ।
ते हरे र्द्वेषिण पापा धर्मार्थं जन्म यद्हरे' ।।"

इसका भाव यह है, कि जो लोग अपने कर्त्तव्य कर्म को छोडकर अथवा अपने कर्त्तव्य को भूलकर, केवल कृष्ण-कृष्ण रटते रहते हैं, वे छली हैं और दम्भी हैं, क्योकि उनकी जिह्वा पर तो कृष्ण का नाम रहता है, किन्तु उनके मन मे और उनके कर्म मे कृष्ण नही होता। जिन व्यक्तियो के मन मे कृष्ण नही और जिनके कर्म मे कृष्ण नही, उन लोगो को इस श्लोक मे, कृष्ण का भक्त नही कहा गया है, बल्कि उन्हे कृष्ण का विद्वेषी और पापात्मा कहा गया है। कृष्ण का जन्म तो कर्त्तव्य-बुद्धि से कर्म करने के लिए था, परन्तु वे लोग कर्त्तव्य को भूलकर और कर्म की अवहेलना करके कृष्ण के जीवन की अवहेलना करते हैं। जो व्यक्ति निष्क्रिय है और जो व्यक्ति कर्मशील नही हैं, वह व्यक्ति चाहे कृष्ण-कृष्ण पुकारें, बुद्ध-बुद्ध पुकारें और चाहे महावीर के नाम की रट लगाते रहे, उनके जीवन का उत्थान और कल्याण कभी नही हो सकता। वे लोग प्रभु के प्रेमी नही हैं, प्रभु के द्वेषी हैं, क्योकि भगवान का जीवन अधर्म स्वरूप नही है। प्रभु अपने नाम की माला जपने से प्रसन्न नही होता, प्रभु को प्रसन्न करने का एक ही उपाय है—उनके बताए मार्ग पर चलना, आत्मा के अन्दर परमात्मा की तलाश करना, अपने निज मे ही जिनत्व को प्राप्त करने का प्रयत्न करना। सब कर्म छोडकर एकान्त मे बैठकर दो चार माला फेर लेना ही सत्वगुण नही है। सत्वगुण यह है, कि सब कुछ करके भी उसके फल से अलिप्त रहे। वस्तुत यही सात्विक गुण-युक्त मन का यथार्थ लक्षण है।

भारतीय साहित्य मे और विशेषत योग-दर्शन में मन की वृत्तियो का बडा सुन्दर विश्लेषण किया गया है। मन की वृत्तियो का सुन्दर विश्लेषण करने का अभिप्राय यही है, कि साधक अपने मन के स्वरूप को समझ सके। प्रत्येक साधक को मन का स्वरूप समझना चाहिए, क्योकि हमारी अध्यात्म-साधना का मूलकेन्द्र विन्दु हमारा मन ही है। जिस मन को साधना है, उसके स्वरूप का परिबोध भी आवश्यक है, अन्यथा हम उसे साध न सकेंगे।

उसको शान्ति से और सुख से बैठने नहीं देती इसलिए वह सदैव क्रियाशील रहता है।

तीसरा गुण है—सत्त्व गुण। वैसे तो प्रत्येक गुण पर लम्बी व्याख्या हो सकती है किन्तु यहाँ पर संक्षेप में बतलाना ही मुझे अभीष्ट है। सत्त्वगुण की व्याख्या करते हुए कहा गया है, कि सत्त्वगुण प्रकाशक होता है उल्लासमय एवं आनन्दमय होता है। तमोगुण स्थितिशील है रजोगुण गतिशील है और सत्त्वगुण प्रकाशशील है। जिस व्यक्ति के मन में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है वह सदा प्रसन्न शान्त और सन्तुष्ट रहता है। भौतिक भोगों की आकांक्षा उसके मन में नहीं रहती। वह कर्म तो करता है, किन्तु कर्म के फल की अभिलाषा का उदय उसके मानसिक क्षितिज पर कभी होता ही नहीं। सत्त्वशील व्यक्ति को भौतिकता में नहीं आध्यात्मिकता में ही आनन्द आता है, क्योंकि उसका मन शान्त और प्रसन्न रहता है। सत्त्वशील व्यक्ति का मन उस सरोवर के समान शान्त रहता है जिसमें एक भी तरंग नहीं उठ रही है और इसीलिए जिसमें प्रतिबिम्ब स्पष्ट प्रतीत होता है। सत्त्वगुण का अर्थ यह नहीं है कि वह कर्म को ही जलाञ्जलि दे दे। कर्म तो वह करता है, किन्तु कर्म के फल की अभिलाषा वह नहीं करता। वह दान करता है, किन्तु दान के बदले में वह कुछ चाहता नहीं है। वह सेवा करता है, किन्तु सेवा के बदले में सत्कार की अभिलाषा उसके मन में नहीं उठती। वह सब कुछ करता है, पर सब कुछ करके भी उस सब कुछ के फल से विरक्त ही रहना चाहता है। वह प्रभु का स्मरण करता है, किन्तु प्रभु से कुछ मांगता नहीं है। परिवार, समाज और राष्ट्र को सब कुछ देकर भी वह उसमें से कुछ भी पाने की आकांक्षा नहीं रखता। प्रभु के नाम की दो चार माला फेर कर और उसके बदले में संसार का वैभव मांगने की इच्छा उसके मन में कभी नहीं उठती। वह अध्यात्म-जीवन की उस भूमिका पर पहुँच जाता है, जहाँ पहुँचकर कुछ पाने की अभिलाषा ही शेष नहीं रह पाती। सत्त्वगुणी मन सब कुछ देता है, लेता कुछ नहीं है। देकर लेने की आसक्ति ही सब दुःख और क्लेशों का मूल है। एक मात्र कर्तव्य-बुद्धि से कर्म करना ही सात्त्विक मन की पहचान है। वह संसार में रहकर परिवार और समाज के लिए सब कुछ करता है, किन्तु सब कुछ करके भी सब कुछ करने के अहंकार को वह अपने मन में उत्पन्न नहीं होने देता। सात्त्विक मन विकल्प और प्रपंचों से दूर हटकर शान्ति और निराकुलता की अनुभूति करता है। सात्त्विक मन सदा शान्त प्रसन्न और आनन्दमय रहता है।

शिष्य अपने गुरु से प्रश्न पूछता है—"गुरुदेव ! किमात्मिका भगवतो व्यक्ति ?" इसके उत्तर मे गुरु कहता है—"यदात्मको भगवान् ।" शिष्य फिर पूछता है—"किमात्मको भगवान् ?" गुरु उत्तर देता है—"ज्ञानात्मको भगवान् ।" वेदान्तशास्त्र के इस प्रश्नोत्तर से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है, कि वेदान्त आत्मा को ज्ञान रूप ही मानता है। वेदान्त के अनुसार ज्ञान आत्मा का निज गुण ही है।

जैन-दर्शन मे आत्मा के लक्षण और स्वरूप के सम्बन्ध मे अत्यन्त सूक्ष्म, गम्भीर और व्यापक विचार किया गया है। आत्मा जैन-दर्शन का मूल केन्द्र-बिन्दु रहा है। जैन-दर्शन मे अभिमत नव पदाथ, सप्त तत्व, षड् द्रव्य और पञ्च अस्तिकाय मे जीव एव आत्मा ही मुख्य है। आगम युग से लेकर और आज के तर्क युग तक, जैन आचार्यों ने आत्मा का विश्लेषण प्रधान रूप से किया है। आचार्य कुन्दकुन्द के अध्यात्मग्रन्थ तो प्रधानतया आत्म स्वरूप का ही प्रतिपादन करते हैं। तर्क युग के जैनाचार्य भी, तर्कों के विकट वन मे रहते हुए भी आत्मा को भूले नही हैं। यदि जैन-दर्शन मे से आत्मा के वर्णन को निकाल दिया जाए, तो जैन दर्शन मे अन्य कुछ भी शेष नही बचेगा। इस प्रकार जैन-दर्शन ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति आत्म-स्वरूप के प्रतिपादन मे लगा दी है। अत जैन-दर्शन और जैन-सस्कृति का प्रधान सिद्धान्त है—आत्म स्वरूप का प्रतिपादन और आत्म स्वरूप का विवेचन।

आत्म-तत्व, ज्ञान स्वरूप है। कुछ आचार्यों ने कहा है, कि आत्मा ज्ञानवान् है। इसका अर्थ यह रहा, कि आत्मा अलग है और ज्ञान अलग है। इसीलिए आत्मा ज्ञान नही, बल्कि ज्ञानवान है। इस कथन मे द्वैतभाव की प्रतीति स्पष्ट होती है। इस कथन मे ज्ञान अलग पडा रहता है और आत्मा अलग रहती है। जिस प्रकार आप कहते हैं, कि यह व्यक्ति धन वाला है, तो इसका अर्थ यह हुआ—व्यक्ति अलग है और धन अलग है। वह व्यक्ति धन को पाने से धन वाला हो गया और जब उसके पास धन नही रहेगा, तो धन वाला भी नही रहेगा। इस कथन में द्वैत-दृष्टि स्पष्ट रूप से झलकती है। जैन-दर्शन की भाषा मे इस द्वैत-दृष्टि को व्यवहार नय कहा जाता है। निश्चय नय की भाषा मे आत्मा ज्ञानवान है, ऐसा नही कहा जाता है, वहाँ तो यह कहा जाता है कि आत्मा ज्ञायक-स्वभाव है, आत्मा ज्ञाता है। इसका अर्थ यह [illegible] कि—ज्ञान ही आत्मा है। जो कुछ ज्ञान है, वही [illegible] है और जो [illegible] है, वह ज्ञान ही है। यह शुद्ध निश्चय नय का [illegible]। शुद्ध निश्च[illegible] दृष्टि मे आत्मा को ज्ञानवान नही कहा जाता,

ज्ञानमयो हि आत्मा

भारतीय दर्शन में एक मात्र चार्वाक दर्शन को छोड़कर शेष समस्त दर्शन आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं और आत्मा के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं। यद्यपि आत्मा के स्वरूप के प्रतिपादन की पद्धति सबकी भिन्न-भिन्न है पर इसमें जरा भी शंका नहीं है कि वे सब समवेत स्वर में आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं। भारतीय दर्शनों में आत्मा के स्वरूप के प्रतिपादन में सबसे अधिक विवादास्पद प्रश्न यह है कि ज्ञान आत्मा का निज गुण है अथवा आगन्तुक गुण है? न्याय और वैशेषिक दर्शन ज्ञान को आत्मा का असाधारण गुण स्वीकार करते हैं पर उनके यहाँ वह आत्मा का स्वाभाविक गुण न होकर आगन्तुक गुण है। उक्त दर्शनों के अनुसार जब तक आत्मा की संसारी अवस्था है तब तक ज्ञान आत्मा में रहता है परन्तु मुक्त अवस्था में ज्ञान नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त उक्त दोनों दर्शनों की मान्यता यह भी है कि संसारी आत्मा का ज्ञान अनित्य है पर ईश्वर का ज्ञान नित्य है। इसके विपरीत सांख्य और वेदान्त दर्शन ज्ञान को आत्मा का निज गुण स्वीकार करते हैं। वेदान्त दर्शन में एक दृष्टि से ज्ञान को ही आत्मा कहा गया है। एक

ज्ञानमयो हि आत्मा

भारतीय दर्शन में एक मात्र चार्वाक दर्शन को छोड़कर शेष समस्त दर्शन आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं और आत्मा के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं। यद्यपि आत्मा के स्वरूप के प्रतिपादन की पद्धति सबकी भिन्न भिन्न है, पर इसमें जरा भी शंका नहीं है कि वे सब समवेत स्वर में आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं। भारतीय दर्शनों में आत्मा के स्वरूप के प्रतिपादन में सबसे अधिक विवादास्पद प्रश्न यह है कि ज्ञान आत्मा का निज गुण है अथवा आगन्तुक गुण है? न्याय और वैशेषिक दर्शन ज्ञान को आत्मा का असाधारण गुण स्वीकार करते हैं पर उनके यहाँ यह आत्मा का स्वाभाविक गुण न होकर आगन्तुक गुण है। उक्त दर्शनों के अनुसार जब तक आत्मा की संसारी अवस्था है तब तक ज्ञान आत्मा में रहता है परन्तु मुक्त अवस्था में ज्ञान नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त उक्त दोनों दर्शनों की मान्यता यह भी है कि संसारी आत्मा का ज्ञान अनित्य है पर ईश्वर का ज्ञान नित्य है। इसके विपरीत सांख्य और वेदान्त दर्शन ज्ञान को आत्मा का निज गुण स्वीकार करते हैं। वेदान्त दर्शन में एक दृष्टि से ज्ञान को ही आत्मा कहा गया है। एक

नष्ट हो जाती है, पर गन्ध का ज्ञान शेष बचा रह जाता है। हवा के झोंके के साथ, कभी सुगन्ध आती है, कभी दुर्गन्ध आती है, और हवा के झोके के साथ ही वह उड जाती है, क्योकि गन्ध एक विजातीय तत्व है। जो विजातीय तत्व होता है, वह आपके पास नही रहता। आपके पास फिर क्या रहा है ? आपके पास तो गन्ध का ज्ञान ही रहा है, क्योकि आप ज्ञान स्वरूप हैं।

मनुष्य भोजन करने बैठता है, उस समय विभिन्न पदार्थों का वह भक्षण करता है, कोई पदार्थ मीठा होता है और कोई पदार्थ खट्टा होता है। पदार्थों के विभिन्न रसो का परिज्ञान जिह्वा से होता है। रस का ज्ञान किसी पदार्थ को चखने के बाद ही होता है। चखना क्या चीज है ? रस तो रस की जगह है, वह पदार्थ मे है। आपने क्या काम किया ? आपने केवल उस रस का ज्ञान किया है। रस सदा स्थायी नही रहता। रस उत्पन्न होता है और नष्ट भी हो जाता है, पर रस का ज्ञान आप मे शेष रह जाता है। जो कुछ पदार्थ आप खाते हैं, वह विभिन्न रूपो मे परिवर्तित हो जाता है, मास, मज्जा, अस्थि और अन्य सब धातु भोजन से ही बनती हैं। रस आपके पास नही रहता, केवल रस का ज्ञान ही आपके पास रह जाता है। रस आत्मा नही है, रस का जो ज्ञान है, वही आत्मा हैं। रस जड है और रस ज्ञान चैतन्य है। इसीलिए रस पुद्गल का धर्म है, वह आत्मा का धर्म नही है। रस-ज्ञान आत्मा का धर्म है।

आपको सरदी लगती है और कभी गरमी लगती है। सरदी आती है और लौट जाती है, गरमी आती है और चली जाती हैं, पर सरदी और गरमी का ज्ञान, आपके पास बचा रह जाता है। कोई पदार्थ आपको मृदु लगता है और कोई पदार्थ आपको कठोर लगता है। आप कहते हैं—यह बडा मृदु है और है बडा कठोर है। यह क्या है ? स्पर्श है। स्पर्श सदा नही रहता, पर स्पर्श का ज्ञान बना रह जाता है। स्पश चला जाता है, पर आपकी अनुभूति के अन्दर स्पर्श का ज्ञान शेष बचा रह जाता है। आप कहते है, इस साल तो बडी गरमी पडी, बडी सरदी पडी और इतनी भयकर सरदी पडी कि उसका ठिकाना नही रहा। वर्ष के वर्ष गुजर जाते हैं। महाकाल बीत जाता है और काल आपको काफी दूर ले जाता है, पर बात क्या है—वह आपके ज्ञान मे अन्तर नही डाल पाता है। सरदी और गरमी का स्पर्श तो नही रहा आपके पास, पर सरदी और गरमी का ज्ञान आज भी आपके पास सुरक्षित है। यदि आपकी आयु सौ वर्ष की है, तो वर्षों तक भी उस स्पर्श का ज्ञान रहेगा। स्पर्श चला जाता है, पर स्पश का ज्ञान बचा रह जाता है। इसका अर्थ यह रहा, कि आत्मा स्वय [illegible] है। आत्मा ज्ञान है और जो कुछ ज्ञान है, वही आत्मा

बल्कि ज्ञानस्वरूप ही कहा जाता है। भगवान महावीर ने आचारांग सूत्र में स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया है, कि 'जे आया से विन्नाया जे विन्नाया से आया।' इसका अभिप्राय यह है कि जो आत्मा है वही विज्ञान है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आत्मा स्वयं ज्ञान-स्वरूप है। ज्ञान के बिना उसकी कोई स्थिति नहीं है। जैन दर्शन के महान दार्शनिक आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है—"आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत् करोति किम् ?" आत्मा साक्षात् ज्ञान है और ज्ञान ही साक्षात् आत्मा है। आत्मा ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं करता है। आत्मा और ज्ञान दो नहीं एक ही हैं। जब आत्मा ज्ञान को ही करता है और ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं करता तब इसका अर्थ यह होता है कि एक ज्ञान-गुण में ही आत्मा के अन्य समस्त गुणों का समावेश कर लिया गया है।

आप कहते हैं, कि हम कान के द्वारा शब्द सुनते हैं। तो मैं पूछता हूँ आपसे कि सुनना क्या चीज है ? सुनने की परिभाषा क्या है ? शब्द का ज्ञान हो जाना बस यही सुनना है। जो शब्द का ज्ञान हुआ है उसे हमने शब्द सुनना कह दिया। शब्द सुना और सुनते ही वह बिखर गया उसकी सत्ता यथावत् अब नहीं रही। शब्द को सुनने के बाद शब्द तो नहीं रहता किन्तु पीछे क्या बचा रहता है ? शब्द तो नहीं रहा पर शब्द का ज्ञान फिर भी बच रहता है। शब्द के नष्ट हो जाने पर भी शब्द का ज्ञान शेष बचा रहता है। शब्द भले ही नष्ट हो गया पर उस शब्द से होने वाला ज्ञान फिर भी शेष रहता है। इसलिए कि आत्मा ज्ञान स्वरूप है।

आप कहते हैं कि आँख से हमने रूप देखा है। देखना क्या चीज है ? रूप का ज्ञान हो जाना ही देखना है। आँख के द्वारा रूप का ज्ञान हो गया। जब आप यह कहते हैं कि हमने आँख से रूप को देखा है तब इसका अर्थ क्या हुआ ? किसी रूप को आपने एक वर्ष पहले देखा किन्तु वह रूप आज उस रूप में नहीं है पर रूप का ज्ञान आज भी उसी रूप में है। रूप जाता है और बदल जाता है पर रूप का ज्ञान बचा रह जाता है। रूप तो देखने के बाद तत्क्षण नष्ट भी हो जाता है, पर रूप का ज्ञान दीर्घ काल तक बना रह सकता है। रूप नष्ट हो जाता है, पर रूप का ज्ञान क्यों बचा रहता है ? केवल इस लिए कि आत्मा ज्ञान-स्वरूप है।

आप नाक से गन्ध को सूँघते हैं। किसी भी पदार्थ की सुगन्ध को और दुर्गन्ध को सूँघने से ही जाना जाता है। सूँघने का अर्थ यह है, कि गन्ध का ज्ञान हो जाना। जो गन्ध है अच्छी है अथवा बुरी है, वह बचा नहीं रहती

नष्ट हो जाती है, पर गन्ध का ज्ञान शेष बचा रह जाता है। हवा के झोके के साथ, कभी सुगन्ध आती है, कभी दुर्गन्ध आती है, और हवा के झोके के साथ ही वह उड़ जाती है, क्योंकि गन्ध एक विजातीय तत्व है। जो विजातीय तत्व होता है, वह आपके पास नही रहता। आपके पास फिर क्या रहा है? आपके पास तो गन्ध का ज्ञान ही रहा है, क्योंकि आप ज्ञान स्वरूप हैं।

मनुष्य भोजन करने बैठता है, उस समय विभिन्न पदार्थों का वह भक्षण करता है, कोई पदार्थ मीठा होता है और कोई पदार्थ खट्टा होता है। पदार्थों के विभिन्न रसो का परिज्ञान जिह्वा से होता है। रस का ज्ञान किसी पदार्थ को चखने के बाद ही होता है। चखना क्या चीज है? रस तो रस की जगह है, वह पदार्थ मे है। आपने क्या काम किया? आपने केवल उस रस का ज्ञान किया है। रस सदा स्थायी नही रहता। रस उत्पन्न होता है और नष्ट भी हो जाता है, पर रस का ज्ञान आप मे शेष रह जाता है। जो कुछ पदार्थ आप खाते हैं, वह विभिन्न रूपो मे परिवर्तित हो जाता है, मास, मज्जा, अस्थि और अन्य सब धातु भोजन से ही बनती हैं। रस आपके पास नही रहता, केवल रस का ज्ञान ही आपके पास रह जाता है। रस आत्मा नही है, रस का जो ज्ञान है, वही आत्मा हैं। रस जड है और रस ज्ञान चैतन्य है। इसीलिए रस पुद्गल का धर्म है, वह आत्मा का धर्म नही है। रस-ज्ञान आत्मा का धर्म है।

आपको सरदी लगती है और कभी गरमी लगती है। सरदी आती है और लौट जाती है, गरमी आती है और चली जाती है, पर सरदी और गरमी का ज्ञान, आपके पास बचा रह जाता है। कोई पदार्थ आपको मृदु लगता है और कोई पदार्थ आपको कठोर लगता है। आप कहते हैं—यह बडा मृदु है और है बडा कठोर है। यह क्या है? स्पर्श है। स्पर्श सदा नही रहता, पर स्पर्श का ज्ञान बना रह जाता है। स्पश चला जाता है, पर आपकी अनुभूति के अन्दर स्पर्श का ज्ञान शेष बचा रह जाता है। आप कहते है, इस साल तो बडी गरमी पडी, बडी सरदी पडी और इतनी भयकर सरदी पडी कि उसका ठिकाना नही रहा। वर्प के वर्ष गुजर जाते हैं। महाकाल बीत जाता है और काल आपको काफी दूर ले जाता है, पर बात क्या है—वह आपके ज्ञान मे अन्तर नही डाल पाता है। सरदी और गरमी का स्पर्श तो नही रहा आपके पास, पर सरदी और गरमी का ज्ञान आज भी आपके पास सुरक्षित है। यदि आपकी आयु सौ वर्प की है, तो वर्षों तक भी उस स्पर्श का ज्ञान रहेगा। स्पर्श चला जाता है, पर स्पश का ज्ञान बचा रह जाता है। इसका अर्थ यह रहा, कि आत्मा स्वय ज्ञानरूप है। आत्मा ज्ञान है और जो कुछ ज्ञान है, वही आत्मा

बल्कि ज्ञानस्वरूप ही कहा जाता है। भगवान महावीर ने 'आचारांग सूत्र' में स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया है, कि 'जे आया से विन्नाए जे विन्नाए से आया।' इसका अभिप्राय यह है कि जो आत्मा है वही विज्ञान है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आत्मा स्वयं ज्ञान-स्वरूप है। ज्ञान के बिना उसकी कोई स्थिति नहीं है। जैन दर्शन के महान दार्शनिक आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है—"आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत् करोति किम्?" आत्मा साक्षात् ज्ञान है और ज्ञान ही साक्षात् आत्मा है। आत्मा ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं करता है। आत्मा और ज्ञान दो नहीं एक ही हैं। जब आत्मा ज्ञान को ही करता है और ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं करता तब इसका अर्थ यह होता है, कि एक ज्ञान-गुण में ही आत्मा के अन्य समस्त गुणों का समावेश कर लिया गया है।

आप कहते हैं, कि हम कान के द्वारा शब्द सुनते हैं। तो मैं पूछता हूँ आपसे कि सुनना क्या चीज है? सुनने की परिभाषा क्या है? शब्द का ज्ञान हो जाना बस यही श्रवण है। जो शब्द का ज्ञान हुआ है, उसे हमने शब्द सुनना कह दिया। शब्द सुना और सुनते ही वह बिखर गया उसकी शब्द पर्याय अब नहीं रही। शब्द को सुनने के बाद शब्द तो नहीं रहता किन्तु पीछे क्या बचा रहता है? शब्द तो नहीं रहा पर शब्द का ज्ञान फिर भी बच रहता है। शब्द के नष्ट हो जाने पर भी शब्द का ज्ञान शेष बचा रहता है। शब्द भले ही नष्ट हो गया पर उस शब्द से होने वाला ज्ञान फिर भी शेष रहता है। इसलिए कि आत्मा ज्ञान स्वरूप है।

आप कहते हैं कि आँख से हमने रूप देखा है। देखना क्या चीज है? रूप का ज्ञान हो जाना ही देखना है। आँख के द्वारा रूप का ज्ञान हो गया। जब आप यह कहते हैं कि हमने आँख से रूप को देखा है, तब इसका अर्थ क्या हुआ? किसी रूप को आपने एक वर्ष पहले देखा किन्तु वह रूप आज उस रूप में नहीं है पर रूप का ज्ञान आज भी उसी रूप में है। रूप आता है और चला जाता है, पर रूप का ज्ञान बना रह जाता है। रूप तो देखने के बाद तत्काल नष्ट भी हो जाता है, पर रूप का ज्ञान दीर्घ काल तक बना रह सकता है। रूप नष्ट हो जाता है, पर रूप का ज्ञान क्यों बना रहता है? केवल इस लिए कि आत्मा ज्ञान-स्वरूप है।

आप नाक से गन्ध को सूँघते हैं। किसी भी पदार्थ की सुगन्ध को और दुर्गन्ध को सूँघने से ही जाना जाता है। सूँघने का अर्थ यह है, कि गन्ध का ज्ञान हो जाना। जो गन्ध है, अच्छी है अथवा बुरी है, वह सदा नहीं रहती

नष्ट हो जाती है, पर गन्ध का ज्ञान शेष बचा रह जाता है। हवा के झोके के साथ, कभी सुगन्ध आती है, कभी दुर्गन्ध आती है, और हवा के झोके के साथ ही वह उड जाती है, क्योकि गन्ध एक विजातीय तत्व है। जो विजातीय तत्व होता है, वह आपके पास नही रहता। आपके पास फिर क्या रहा है ? आपके पास तो गन्ध का ज्ञान ही रहा है, क्योकि आप ज्ञान स्वरूप हैं।

मनुष्य भोजन करने बैठता है, उस समय विभिन्न पदार्थों का वह भक्षण करता है, कोई पदार्थ मीठा होता है और कोई पदार्थ खट्टा होता है। पदार्थों के विभिन्न रसो का परिज्ञान जिह्वा से होता है। रस का ज्ञान किसी पदार्थ को चखने के बाद ही होता है। चखना क्या चीज है ? रस तो रस की जगह है, वह पदार्थ मे है। आपने क्या काम किया ? आपने केवल उस रस का ज्ञान किया है। रस सदा स्थायी नही रहता। रस उत्पन्न होता है और नष्ट भी हो जाता है, पर रस का ज्ञान आप मे शेष रह जाता है। जो कुछ पदार्थ आप खाते हैं, वह विभिन्न रूपो मे परिवर्तित हो जाता है, मास, मज्जा, अस्थि और अन्य सब धातु भोजन से ही बनती हैं। रस आपके पास नही रहता, केवल रस का ज्ञान ही आपके पास रह जाता है। रस आत्मा नही है, रस का जो ज्ञान है, वही आत्मा हैं। रस जड है और रस ज्ञान चैतन्य है। इसीलिए रस पुद्गल का धर्म है, वह आत्मा का धर्म नही है। रस-ज्ञान आत्मा का धर्म है।

आपको सरदी लगती है और कभी गरमी लगती है। सरदी आती है और लौट जाती है, गरमी आती है और चली जाती है, पर सरदी और गरमी का ज्ञान, आपके पास बचा रह जाता है। कोई पदार्थ आपको मृदु लगता है और कोई पदार्थ आपको कठोर लगता है। आप कहते हैं—यह बडा मृदु है और है बडा कठोर है। यह क्या है ? स्पर्श है। स्पर्श सदा नही रहता, पर स्पर्श का ज्ञान बना रह जाता है। स्पर्श चला जाता है, पर आपकी अनुभूति के अन्दर स्पर्श का ज्ञान शेष बचा रह जाता है। आप कहते है, इस साल तो बडी गरमी पडी, बडी सरदी पडी और इतनी भयकर सरदी पडी कि उसका ठिकाना नही रहा। वर्प के वर्ष गुजर जाते हैं। महाकाल बीत जाता है और काल आपको काफी दूर ले जाता है, पर बात क्या है—वह आपके ज्ञान मे अन्तर नही डाल पाता है। सरदी और गरमी का स्पश तो नही रहा आपके पास, पर सरदी और गरमी का ज्ञान आज भी आपके पास सुरक्षित है। यदि आपकी आयु सौ वर्प की है, तो वर्पो तक भी उस स्पर्श का ज्ञान रहेगा। स्पर्श चला जाता है, पर स्पश का ज्ञान बचा रह जाता है। इसका अर्थ यह रहा, कि आत्मा स्वय ज्ञानरूप है। आत्मा ज्ञान है और जो कुछ ज्ञान है, वही आत्मा

है। ज्ञान से अलग आत्मा अन्य कुछ भी नहीं है। आपने देखा कि पाँचों इन्द्रियों से आपको क्या मिला अथवा आपने क्या किया? ज्ञान ही आपको मिला और ज्ञान ही आपने किया।

जब आत्मा ज्ञान स्वरूप है तब आत्मा को निर्मल करने का अर्थ है, ज्ञान को निर्मल करना और ज्ञान को निर्मल करने का अर्थ है आत्मा को निर्मल करना। शास्त्रों में इसीलिए कहा गया है, कि मानव! तू अपने ज्ञान को निर्मल बना अपने ज्ञान को स्वच्छ बना और जब तेरा ज्ञान निर्मल और स्वच्छ हो जाता है तब तेरे अन्य समस्त गुण निर्मल और स्वच्छ हो जाते हैं। ज्ञान को निर्मल बनाने का अर्थ क्या है? संसार में अनन्त पदार्थ हैं, संसार के उन पदार्थों में चेतन पदार्थ भी हैं और जड़ पदार्थ भी हैं। उन पदार्थों को जानना ही ज्ञान का काम है। किसी भी पदार्थ में किसी भी प्रकार का परिवर्तन करना ज्ञान का काम नहीं है। ज्ञान का काम तो केवल इतना ही है। कि जो पदार्थ जिस रूप में स्थित है उसे उसी रूप में जान ले। कल्पना कीजिए, किसी कमरे में दीपक जला दिया गया है, तो दीपक का काम यह है, कि वह जलता रहे और अपना प्रकाश फैलाता रहे। रात भर भी यदि कोई व्यक्ति उस कमरे में न आए और काम न करे, तब भी दीपक जलता ही रहेगा। उस कमरे में कोई आए अथवा न आए दीपक का काम है, उस कमरे को प्रकाशित करते जाना। कोई पूछे उससे कि क्यों व्यर्थ में अपना प्रकाश फेंक रहे हो? जब तुम्हारे प्रकाश का कोई उपयोग नहीं हो रहा है, तब क्यों अपना प्रकाश फैला रहे हो यहाँ तो कोई भी नहीं है, जो तुम्हारे प्रकाश का उपयोग कर सके। दीपक के भाषा नहीं है। अगर उसके पास भाषा होती तो वह कहता कि मुझे इससे क्या मतलब? कोई मेरा उपयोग कर रहा है, अथवा नहीं कर रहा है, इससे मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। मेरा अपना काम है जलते जाना और प्रकाश फैलाते जाना ही मेरा स्वभाव है। किसी भी पदार्थ को अन्दर लाना या बाहर निकालना मेरा काम नहीं है परन्तु जो पदार्थ जिस रूप में स्थित है, उसे उसी रूप में प्रकाशित देना ही मेरा अपना काम है। जो सिद्धान्त दीपक का है वही सिद्धान्त ज्ञान का भी है। ज्ञान पदार्थ को प्रकाशित करता है, किन्तु पदार्थ में किसी प्रकार का परिवर्तन करना ज्ञान का अपना कार्य नहीं है। ज्ञान एक गुण है और उसका अपना काम क्या है? अपने ज्ञेय को जानना। संसार में जितने भी पदार्थ हैं वे सब ज्ञान के ज्ञेय हैं और ज्ञान उनका ज्ञाता है। ज्ञान अनन्त है, क्योंकि ज्ञेय अनन्त हैं, परन्तु ज्ञान जब तक आवृत्त है, तब तक वह अनन्त को नहीं जान सकता और जब उसका आवरण हट जाता है, तब वह असीम और अनन्त बन जाता है। जितना जितना क्षयोपशम होता है, वह उतना ही

कम अथवा अधिक जान सकता है। पर सब कुछ को जानने का सामर्थ्य तो एक मात्र केवल-ज्ञानी मे ही होता है। केवल-ज्ञान के अतिरिक्त जितना भी ज्ञान है, वह सब सीमित ही रहता है। जानना ज्ञान का काम है। एक अणु से लेकर सम्पूर्ण विश्व तक जितने भी छोटे अथवा बडे पदार्थ हैं, वे सब ज्ञान के विषय हैं, ज्ञान से वे जाने जाते हैं। पदार्थ अनन्त हैं, तो उनको जानने वाला ज्ञान भी अनन्त है।

जैन दर्शन के अनुसार विश्व का प्रत्येक पदार्थ अपने आप मे अनन्त है। क्योकि प्रत्येक पदार्थ मे अनन्त धर्म हैं और एक-एक धर्म की अनन्त-अनन्त पर्याय हैं। एक रज-कण से लेकर समग्र ब्रह्माण्ड भी अपने आप मे अनन्त है। भले ही उसकी अनन्तता को देखने की शक्ति आज हममे न हो, पर आवरण के हटते ही हमारे ज्ञान मे वह शक्ति आ जाती है, कि हम प्रत्येक पदार्थ के अनन्त धर्म और अनन्त पर्यायो को जान सकें। जैन-दर्शन के अनुसार प्रत्येक पदार्थ अपने आप मे एक इकाई नजर आता है किन्तु वह इकाई अपने आप मे अनन्त गुण लिए हुए है। एक-एक गुण की अनन्त-अनन्त पर्याय होती हैं। अनन्त भूत काल की पर्याय और अनन्त भविष्य काल की पर्याय। इसका अर्थ यह है, कि अतीत भी अनन्त है और भविष्य भी अनन्त है। अनन्त का ज्ञान अनन्त ही कर सकता है। इसका अर्थ यह है, कि जिस व्यक्ति ने किसी एक पदार्थ को सम्पूर्ण रूप मे जान लिया है, तो वह अन्य सभी पदार्थों को सम्पूर्ण मे जान सकता है और जिसने एक को भी सम्पूर्ण रूप मे नही जाना है, वह सम्पूर्ण को भी सम्पूर्ण रूप मे नही जान सकता। 'आचाराग' सूत्र मे श्रमण भगवान महावीर ने इस सम्बन्ध मे बहुत ही सुन्दर सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है—

"जे एग जाणइ से सव्व जाणइ।
जे सव्व जाणइ से एग जाणइ।"

जो एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सबको जानता है, वह एक को जानता है। इस कथन का अभिप्राय यह है, कि जिसने एक भी पदाथ का पूर्ण ज्ञान कर लिया, उसने समस्त विश्व को जान लिया। क्योकि जो किसी भी एक पदार्थ को पूर्ण रूप मे जान लेता है, वह अनन्त ज्ञानी होगा। अनन्त ज्ञानी मे सब कुछ को जानने की शक्ति होती है। किसी भी एक पदार्थ के अनन्त धर्मों और उमकी अनन्त पर्यायो को जानने का अर्थ यह होता है, कि उसने सम्पूर्ण पदार्थ को पूर्ण रूप से जान लिया है। किसी भी पदाथ को पूर्ण रूप से जानने का सामर्थ्य, केवल ज्ञान के अतिरिक्त किमी भी ज्ञान मे नही है। अत केवल ज्ञान, ज्ञान का पूर्ण विकास है। वह अनन्त है, इमीलिए उसमे अनन्त को जानने की शक्ति है।

जब एक भक्त अपने प्रभु की स्तुति करता है तो वह उसके शरीर की नहीं उसके गुणों की स्तुति करता है। जिन-शासन में कहा गया है, कि तीर्थंकर के शरीर की स्तुति को तीर्थंकर की स्तुति नहीं कहा जा सकता। तीर्थंकर के गुणों की स्तुति को ही तीर्थंकर की स्तुति कहा जाता है। वस्तुतः स्तुति शरीर की नहीं होती गुणों की ही होती है। स्तुतिकार जब अपने प्रभु की स्तुति करता है, तब वह कभी भेद-दृष्टि से करता है और कभी अभेद-दृष्टि से करता है। किसी भी गुणी का वर्णन करना यह भेद दृष्टि है और गुणों का वर्णन करना यह अभेद दृष्टि है। गुणों की स्तुति में गुणी का स्तवन हो ही जाता है। परन्तु जब गुणी की महिमा अलग से वर्णन की जाती है तो वहाँ भेद दृष्टि ही समझना चाहिए। यथार्थ में जब गुणों का स्तवन कर लिया तब गुणी की महिमा अलग से वर्णन करने की आवश्यकता ही नहीं होती। क्योंकि गुणों के स्तवन से गुणी का स्तवन अपने आप हो ही जाता है। किसी का नाम लेकर स्तवन करने का अर्थ होता है— व्यक्ति-पूजा। यदि हम ऋषभदेव पार्श्वनाथ और महावीर का नाम लेकर स्तुति करते हैं तो यह स्तुति व्यक्ति-पूजा कहलाती है परन्तु जब किसी व्यक्ति का नाम न लेकर उसके गुणों का कथन किया जाता है, तो उसमें समस्त व्यक्तियों का समावेश हो जाता है। व्यक्ति को छोड़कर जैन परम्परा के आचार्यों ने गुण प्रधान स्तुति और नमस्कार को ही अधिक महत्व दिया है। इसलिए उन्होंने कहा है, कि अरिहन्त की स्तुति करने से अथवा अरिहन्त को नमस्कार करने से समस्त अरिहन्तों की स्तुति और नमस्कार हो जाता है। मैं अरिहन्त को नमस्कार करता हूँ। यहाँ अरिहन्त कहने से क्या हो गया कि राग और द्वेष जिसने जीत लिया है, उस सबको नमस्कार होगया फिर भले ही वह आत्मा भूतकाल का हो भविष्य काल का हो अथवा वर्तमान काल का हो। फिर भले ही वह किसी भी जाति किसी भी देश का क्यों न हो। सिद्धान्त यह है, कि गुणों की स्तुति करने से गुणी की स्तुति स्वयं ही हो जाती है। अरिहन्त व्यक्ति-विशेष नहीं होता बल्कि वह तो आत्मा का स्वरूप विशेष है। आत्म-स्वरूप को नमस्कार करने का अर्थ यह है, कि सम्पूर्ण विशुद्ध आत्माओं को नमस्कार कर लिया।

जैन-दर्शन के अनुसार पुद्गल भी अनन्त है और जीव भी अनन्त है। एक द्रव्य की अपेक्षा भी अनन्तत्व माना गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, संसार का प्रत्येक पदार्थ अपने आप में अनन्त है क्योंकि प्रत्येक पदार्थ में अनन्त-धर्म होते हैं और एक-एक धर्म की अनन्त पर्याय होती हैं। प्रश्न यह है, कि एक साथ अनन्त पदार्थों का ज्ञान कैसे होता है और वे अनन्त पदार्थ भी कैसे ? अनन्त

भूतकाल के, अनन्त भविष्यकाल के और अनन्त वर्तमानकाल के। और क्या? एक एक पदार्थ मे अनन्त-अनन्त गुण विद्यमान है और एक-एक गुण की अनन्त-अनन्त पर्याय हैं। अनन्त पर्याय वर्तमान काल की, अनन्त पर्याय भूतकाल की और अनन्त पर्याय भविष्य काल की है। पदार्थ की अनन्त पर्याय कैसे होती हैं, इसको समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए। आपके सामने एक वृक्ष है और उस एक वृक्ष मे हजारो-हजार पत्ते हैं। उनमे से एक पत्ता लीजिए। जिस पत्ते को आप इस वर्तमान क्षण मे देख रहे हैं क्या भूत काल मे भी वह वैसा ही था और क्या भविष्यकाल मे भी वह वैसा ही रहेगा? यदि आपको दर्शनशास्त्र का थोडा सा भी परिज्ञान है, तो आप यह नही कह सकते, कि यह पत्ता जिसे आप वर्तमान क्षण मे प्रत्यक्ष देख रहे हैं, भूतकाल मे भी ऐसा ही था और भविप्यकाल मे भी ऐसा ही रहेगा। एक पत्ता जव जन्म लेता है, तव उसका रूप और वर्ण कैसा होता है? उस समय उसके रूप अथवा वर्ण को ताम्र कहा जाता है, फिर धीरे धीरे वह हरा हो जाता है और फिर धीरे-धीरे वह एक दिन पीला पड जाता है। ताम्रवर्ण, हरितवर्ण और पीतवर्ण एक ही पत्ते की ये तीन अवस्थाएँ बहुत स्थूल हैं। इनके बीचकी सूक्ष्म अवस्थाओ का यदि विचार किया जाए, तो ताम्र से हरित तक, हजारो लाखो अवस्थाएँ हो सकती हैं और हरित से पीत तक करोडो अवस्थाएँ हो सकती हैं। वस्तुत यह परिगणना भी हमारी वहुत ही स्थूल है। जैन-दर्शन के अनुसार तो उसमे प्रतिक्षण परिवर्तन आ रहा है, जिसे हम अपनी चर्म चक्षुओ से देख नही सकते। कल्पना कीजिए, आपके समक्ष कोमल कमल के शतपत्र एक के ऊपर एक गड्डी वना कर रक्खे हुए हैं। आपने एक सूई ली और एक झटके मे उन्हे बीध दिया। नुकीली सुई एक साथ एक झटके मे ही कमल के शतपत्रो को पार कर गई। पर सूक्ष्मता से देखा जाए, तो सुई ने प्रत्येक पत्ते को क्रमश ही पार किया है, किन्तु यह कालगणना सहसा ध्यान मे नही आती। शतपत्र कमल-भेदन मे कालक्रम की व्यवस्था है, किन्तु उसकी प्रतीति हमे नही होने पाती है। और फिर पत्ते मे केवल वर्ण ही नही होता, वर्ण के अतिरिक्त उसमे गन्ध, रस, और स्पर्श आदि भी रहते है किन्तु जब हम नेत्र के द्वारा पत्ते को देखतेहैं, तब उसके रूप का ही हमे परिज्ञान होता है। जब हम उसे सूँघते हैं, तब हमे उसके गन्ध का ही परिज्ञान होता है, रूप का नही। जब हम उसको अपनी जिह्वा पर रखते हैं, तब हमको उसके रस का ही परिबोध होता है, वर्ण और गन्ध का नही। जब हम उसे हाथ से छूते हैं, तब हमे उसके स्पर्श का ही ज्ञान होता है, वर्ण, गन्ध और रस का नही। जब हम तज्जन्य शब्द को सुनते हैं तव शब्द का ही हमे ज्ञान होता है, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का नही। फिर हम यह कैसे दावा कर सकते हैं, कि हमने नेत्र से पत्ते को देखकर उसके

जब एक भक्त अपने प्रभु की स्तुति करता है तो वह उसके शरीर की नहीं उसके गुणों की स्तुति करता है। जिन-शासन में कहा गया है कि तीर्थंकर के शरीर की स्तुति को तीर्थंकर की स्तुति नहीं कहा जा सकता। तीर्थंकर के गुणों की स्तुति को ही तीर्थंकर की स्तुति कहा जाता है। वस्तुतः स्तुति शरीर की नहीं होती गुणों की ही होती है। स्तुतिकार जब अपने प्रभु की स्तुति करता है, तब वह कभी भेद-दृष्टि से करता है और कभी अभेद-दृष्टि से करता है। किसी भी गुणी का वर्णन करना यह भेद दृष्टि है और गुणों का वर्णन करना यह अभेद दृष्टि है। गुणों की स्तुति मे गुणी का स्तवन हो ही जाता है। परन्तु जब गुणी की महिमा अलग से वर्णन की जाती है तो वहाँ भेद दृष्टि ही समझना चाहिए। यथार्थ में जब गुणों का स्तवन कर लिया तब गुणी की महिमा अलग से वर्णन करने की आवश्यकता ही नहीं होती। क्योंकि गुणों के स्तवन से गुणी का स्तवन अपने आप हो ही जाता है। किसी का नाम लेकर स्तवन करने का अर्थ होता है—व्यक्ति-पूजा। यदि हम ऋषभदेव पार्श्वनाथ और महावीर का नाम लेकर स्तुति करते हैं तो यह स्तुति व्यक्ति-पूजा कहलाती है परन्तु जब किसी व्यक्ति का नाम न लेकर उसके गुणों का कथन किया जाता है, तो उसमें समस्त व्यक्तियों का समावेश हो जाता है। व्यक्ति को छोड़कर जैन परम्परा के आचार्यों ने गुण प्रधान स्तुति और नमस्कार को ही अधिक महत्व दिया है। इसलिए उन्होंने कहा है, कि अरिहन्त की स्तुति करने से अथवा अरिहन्त को नमस्कार करने से समस्त अरिहन्तों की स्तुति और नमस्कार हो जाता है। मैं अरिहन्त को नमस्कार करता हूँ। यहाँ अरिहन्त कहने से क्या हो गया कि राग और द्वेष जिसने जीत लिया है, उस सबको नमस्कार होगया फिर भले ही वह आत्मा भूतकाल का हो भविष्य काल का हो अथवा वर्तमान काल का हो। फिर भले ही वह किसी भी जाति किसी भी देश का क्यों न हो। सिद्धान्त यह है, कि गुणों की स्तुति करने से गुणी की स्तुति स्वयं ही हो जाती है। अरिहन्त व्यक्ति-विशेष नहीं होता बल्कि वह तो आत्मा का स्वरूप-विशेष है। आत्म-स्वरूप को नमस्कार करने का अर्थ यह है, कि सम्पूर्ण विशुद्ध आत्माओं को नमस्कार कर लिया।

जैन-दर्शन के अनुसार पुद्गल भी अनन्त हैं और जीव भी अनन्त हैं। एक द्रव्य की अपेक्षा भी अनन्तत्व माना गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, संसार का प्रत्येक पदार्थ अपने आप में अनन्त है क्योंकि प्रत्येक पदार्थ में अनन्त-धर्म होते हैं और एक-एक धर्म की अनन्त पर्याय होती हैं। प्रश्न यह है कि एक साथ अनन्त पदार्थों का ज्ञान कैसे होता है और वे अनन्त पदार्थ भी कैसे ? अनन्त

मलिनता वस्त्र की अपनी होती, तो हजार बार धोने से भी वह कभी दूर नहीं हो सकती थी। धवल वस्त्र को आप किसी भी रग मे रग लें, क्या वह रग उसका अपना है ? वह रग उसका अपना नही है। जैसे सयोग मिलते रहे, वैसा ही उसका रग बदलता रहा। अत वस्त्र मे जो मलिनता है अथवा रग है, वह उसका अपना नही है, वह पर-सयोग जन्य है। विजातीय तत्व का सयोग होने पर, पदार्थ मे जो परिवर्तन आता है, जैन-दर्शन की निश्चय दृष्टि और वेदान्त की परमार्थ दृष्टि उसे स्वर मे स्वीकार नही करती। जो भी कुछ पर है, यदि उसे अपना मान लिया जाए, तो फिर ससार मे जीव और अजीव की व्यवस्था ही नही रहेगी। पर सयोग-जन्य राग-द्वेप को यदि आत्मा का अपना स्वभाव मान लिया जाए, तो करोड वष की साधना से भी राग-द्वेष दूर नही किए जा सकते।

जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा ज्ञानावरणादि कर्म से भिन्न है, शरीर आदि नोकर्म से भिन्न है और कर्म-सयोगजन्य रागादि अध्यवसाय से भी भिन्न है। कम मे, मैं हूँ, और नोकम मे, मैं हूँ, इस प्रकार की बुद्धि तथा यह कर्म और नोकर्म मेरे हैं, इस प्रकार की बुद्धि, मिथ्या दृष्टि है। यदि कर्म को आत्मा मान लिया जाए, तो फिर आत्मा को भी कम मानना पडेगा। इस प्रकार जीवन मे अजीवत्व आ जाएगा और अजीवत्व मे जीवत्व चला जाएगा। इस दृष्टि से जैन-दर्शन का यह कथन यथार्थ है, कि यह राग, यह द्वेष, यह मोह और यह अज्ञान न कभी मेरा था और न कभी मेरा होगा। आत्मा के अतिरिक्त ससार मे अन्य जो भी कुछ है, उसका परमाणु मात्र भी मेरा अपना नही है। अज्ञानी आत्मा यह समझता है, कि मैं कर्म का कर्ता हूँ और मैं कर्म का भोक्ता हूँ। व्यवहारनय से यह कथन हो सकता है, किन्तु निश्चय नय से आत्मा न कर्म का कर्ता है और न कर्म का भोक्ता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व आत्मा के धर्म नही हैं, क्योकि परम शुद्धनय से आत्मा न कर्ता है, न भोक्ता है, वह तो एक मात्र ज्ञायक है, ज्ञायक स्वभाव है और ज्ञाता मात्र है। ज्ञान आत्मा का अपना निज स्वभाव है। उसमे जो कुछ मलिनता आती है, वह विजातीय तत्व के सयोग से ही आती है। विजातीय तत्व के सयोग के विलय हो जाने पर ज्ञान स्वच्छ, निर्मल और पवित्र हो जाता है। सावरण ज्ञान मलिन होता है और निरावरण ज्ञान निर्मल और स्वच्छ होता है। ज्ञान की निर्मलता और स्वच्छता तभी सम्भव है, जब कि राग और द्वेप के विकल्पो का आत्मा मे से सर्वथा अभाव हो जाए। निर्विकल्प और निर्द्वन्द्व स्थिति ही आत्मा का अपना सहज स्वभाव है। रागी आत्मा प्रिय वस्तु पर राग करता है और अप्रिय वस्तु पर द्वेप करता है, पर [illegible] दृष्टिकोण से देखा जाए, तो पदार्थ अपने आप मे न

सम्पूर्ण रूप का ज्ञान कर लिया। जब तक हमारा ज्ञान सावरण है, तब तक हम किसी भी वस्तु के सम्पूर्ण रूप को जान नहीं सकते। सावरण ज्ञान खण्ड में ही वस्तु का परिज्ञान करता है। वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान तो एकमात्र निरावरण केवल ज्ञान में ही प्रतिबिम्बित हो सकता है। इसीलिए एक आचार्य ने कहा है—

दर्पण-तल इव सकला प्रतिफलति पदार्थ-मालिका यत्र।

जिस प्रकार दर्पण के सामने आया हुआ पदार्थ उसमें प्रतिबिम्बित हो जाता है उसी प्रकार जिस ज्ञान में अनन्त-अनन्त पदार्थ युगपद् झलक रहे हों वह ज्ञान केवल ज्ञान है। केवल ज्ञान आवरण रहित होता है। उसमें किसी प्रकार का आवरण नहीं रह पाता। अतः पदार्थ का सम्पूर्ण रूप ही उसमें प्रतिबिम्बित होता है। दर्पण में जब किसी भी पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब इसका अर्थ यह नहीं होता है कि पदार्थ दर्पण बन गया अथवा दर्पण पदार्थ बन गया। पदार्थ पदार्थ के स्थान पर है और दर्पण दर्पण के स्थान पर है। दोनों की अपनी अलग-अलग सत्ता है। दर्पण में बिम्ब के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की शक्ति है और बिम्ब में प्रतिबिम्ब होने की शक्ति है। इसीलिए दर्पण में पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़ता है। केवल ज्ञान में पदार्थ को जानने की शक्ति है और पदार्थ में ज्ञान का ज्ञेय बनने का स्वभाव है। जब ज्ञान के द्वारा किसी पदार्थ को जाना जाता है, तब इसका अर्थ यह नहीं होता कि ज्ञान पदार्थ बन गया है, अथवा पदार्थ ज्ञान बन गया है। ज्ञान ज्ञान की जगह है और पदार्थ पदार्थ की जगह है। दोनों को एक समझना एक भयंकर मिथ्यात्व है। ज्ञान का स्वभाव है जानना और पदार्थ का स्वभाव है, ज्ञान के द्वारा ज्ञात होना। केवल ज्ञान एक पूर्ण और निरावरण ज्ञान है। इसीलिए उसमें संसार के अनन्त पदार्थ एक साथ झलक जाते हैं। और एक पदार्थ की अनन्त-अनन्त पर्याय भी एक साथ झलक जाती हैं। इसीलिए आचार्यजी ने यह कहा है, कि संसार की सम्पूर्ण पदार्थ-मालिका केवल ज्ञानी के ज्ञान में प्रतिक्षण प्रतिबिम्बित होती रहती है। केवल ज्ञान अनन्त होता है, इसीलिए उसमें संसार के अनन्त पदार्थों को जानने की शक्ति है। अनन्त ही अनन्त को जान सकता है।

राग और द्वेष आदि कषाय के कारण निर्मल आत्मा मलिन बन जाता है। आत्मा में जो कुछ भी मलिनता है, वह अपनी नहीं है, बल्कि पर के संयोग से आई है। और जो वस्तु पर के संयोग से आती है, वह कभी स्थायी नहीं रहती। अमल-धवल वसन में जो मल आता है वह शरीर के संयोग से आता है। धवल वस्त्र में जो मलिनता है वह उसकी अपनी नहीं है। वह पर की है, अपनी नहीं है, इसीलिए उसे दूर भी किया जा सकता है। यदि

कर्म की शक्ति और उसका स्वरूप

भारतीय दर्शन में कर्म और उसके फल के सम्बन्ध मे बडी गम्भीरता से विचार किया गया है। कर्म क्या है ? और उसका फल कैसे मिलता है तथा किस कर्म का क्या फल मिलता है ? इस विषय मे भारतीय दर्शन ने और भारत के तत्वदर्शी चिन्तको ने जितना गम्भीर विचार किया है, उतना और वैसा पाश्चात्य दर्शन मे नही किया गया है। भारतीय दर्शन मे भी जैन-परम्परा ने कर्म और उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे जो गहन और विशाल चिन्तन प्रस्तुत किया है, वह विश्व के दार्शनिक इतिहास मे वस्तुत अद्‌भुत एव विलक्षण है।

कर्म, कर्म का फल, और कर्म करने वाला इन तीनो का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैन दर्शन के अनुसार जो कर्म का कर्ता होता है, वही कर्म-फल का उपभोक्ता भी होता है। जो जीव जैसा कर्म करता है, उसके अनुसार वह शुभ अथवा अशुभ कर्म का फल प्राप्त करता है, ससार की विचित्रता का आधार यदि कोई तत्त्व है, तो वह कर्म ही है।

मुझसे एक प्रश्न पूछा गया है, कि आत्मा वलवान् है, अथवा कर्म वलवान् है। इस प्रश्न के उत्तर मे प्राचीन साहित्य में वहुत कुछ कहा गया है, वहुत कुछ विचार किया गया है। वात यह है, कि कर्म एक जड पुद्गल है। उसमें

प्रिय है, न अप्रिय है। हमारे मन की रागात्मक और द्वेषात्मक मनोवृत्ति ही किसी भी वस्तु को प्रिय और अप्रिय बनाती है। जब तक किसी भी प्रकार का विकल्प जो कि पर संयोग-जन्य है, आत्मा में विद्यमान है, तब तक स्वस्वरूप की उपलब्धि हो नहीं सकती है। ज्ञानात्मक भगवान आत्मा को समझने के लिए निर्मल और स्वच्छ ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान में यदि निर्मलता का अभाव है तो उससे वस्तु का यथार्थ बोध भी नहीं हो सकता। जैन-दर्शन की दृष्टि से ज्ञान और आत्मा भिन्न नहीं अभिन्न ही है। ज्ञान से भिन्न आत्मा अन्य कुछ भी नहीं है, ज्ञान-गुण में अन्य सब गुणों का समावेश हो जाता है।

●

कर्म की शक्ति और उसका स्वरूप

भारतीय दर्शन मे कर्म और उसके फल के सम्बन्ध मे बडी गम्भीरता से विचार किया गया है। कर्म क्या है ? और उसका फल कैसे मिलता है तथा किस कर्म का क्या फल मिलता है ? इस विषय मे भारतीय दर्शन ने और भारत के तत्वदर्शी चिन्तको ने जितना गम्भीर विचार किया है, उतना और वैसा पाश्चात्य दर्शन मे नही किया गया है। भारतीय दर्शन मे भी जैन-परम्परा ने कर्म और उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे जो गहन और विशाल चिन्तन प्रस्तुत किया है, वह विश्व के दार्शनिक इतिहास मे वस्तुत अद्भुत एव विलक्षण है।

कर्म, कर्म का फल, और कर्म करने वाला इन तीनो का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैन दर्शन के अनुसार जो कर्म का कर्ता होता है, वही कर्म-फल का उपभोक्ता भी होता है। जो जीव जैसा कर्म करता है, उसके अनुसार वह शुभ अथवा अशुभ कर्म का फल प्राप्त करता है, ससार की विचित्रता का आधार यदि कोई तत्त्व है, तो वह कर्म ही है।

मुझसे एक प्रश्न पूछा गया है, कि आत्मा बलवान् है, अथवा कर्म बलवान् है। इस प्रश्न के उत्तर मे प्राचीन साहित्य मे बहुत कुछ कहा गया है, बहुत कुछ विचार किया गया है। बात यह है, कि कर्म एक जड पुद्गल है। उसमें

अनन्त शक्ति है। दूसरी ओर आत्मा भी एक चेतन तत्त्व है और उसमें भी अनन्त शक्ति है। यदि कर्म में शक्ति न होती तो संसार के ये नानाविध विचित्र खेल भी न होते। कर्म में शक्ति है तभी तो वह जीव को नाना गतियों में और विविध योनियों में परिभ्रमण कराता है। कर्म की शक्ति से इन्कार नहीं किया जा सकता किन्तु मूल प्रश्न यह है कि कर्म का कर्ता है आत्मा। आत्मा स्वयं अपने किए हुए कर्मों से बद्ध हो जाता है। उस बन्धन से मुक्त होने की शक्ति भी आत्मा में ही है। कर्म-पुद्गल चैतन्य शक्ति का सर्वथा और सर्वदा घात नहीं कर सकते। अनन्त गगन में मेघों की कितनी भी घनघोर घटा छा जाए फिर भी वे सूर्य की प्रभा का सर्वथा विलोप नहीं कर सकती। बादलों में सूर्य को आच्छादित करने की शक्ति तो है किन्तु उसके आलोक को सर्वथा विलुप्त करने की शक्ति उन बादलों में नहीं है। यही बात आत्मा के सम्बन्ध में है। कर्म में आत्मा के सहज स्वाभाविक गुणों को आच्छादित करने की शक्ति है इसमें जरा भी असत्य नहीं है, पर आत्मा को आच्छादित करने वाले कर्म कितने भी प्रगाढ़ क्यों न हों उनमें आत्मा के एक भी गुण को मूलतः नष्ट करने की शक्ति नहीं है। दूसरी बात यह है कि जैसे सूर्य स्वयं मेघों को उत्पन्न करता है उनसे आच्छादित हो जाता है और फिर वही सूर्य अपनी शक्ति से उन्हें छिन्न-भिन्न भी कर डालता है। इसी प्रकार आत्मा भी स्वयं कर्मों को उत्पन्न करता है उनसे आच्छादित हो जाता है, और फिर स्वयं ही उन कर्मों को निर्जरा के द्वारा छिन्न-भिन्न भी कर डालता है। कर्म की शक्ति अनन्त मानने पर भी उसकी अपेक्षा आत्मा की शक्ति अधिक है। कर्म शक्तिशाली होते हुए भी जड़ है और आत्मा चैतन्य रूप है। अतः आत्मा का संकल्प ही कर्म को उत्पन्न करता है और आत्मा का संकल्प ही कर्म को नष्ट कर डालता है। आपके कितने भी कर्म हैं चाहे वे कितने ही बलवान् क्यों न हों लेकिन आत्मा के बल के आगे वे कुछ नहीं हैं क्योंकि कर्म को जो रूप मिला है, वह आपके ही संकल्पों से मिला है। आपको अपने इस वर्तमान जीवन में कर्मों का जो रूप मिला है, यदि उसे आप नष्ट करना चाहते हैं, तो उसे नष्ट करने की शक्ति आपके अन्दर है। लेकिन जब तक आत्मा में अज्ञान है और जब तक उसे अपने स्वरूप का भान नहीं है, तभी तक वह बन्धन में बद्ध रहता है। आपकी आत्मा केवल आत्मा ही नहीं है, बल्कि वह परमात्मा भी है। कर्म की शक्ति से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। जब आपकी आत्मा में अनन्त शक्ति है, तब भय किस बात का। चैतन्य स्वरूप आत्मा को कर्म से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता इस बात की है, कि आप अनन्त-अनन्त काल से विस्मृत अपने

स्वरूप और अपनी शक्ति का परिबोध प्राप्त करने का प्रयत्न करें, इसी पर आपकी सफलता है।

कुछ लोग कहा करते है, कि कर्म जब हल्के हो, तब आत्मा की शुद्धि हो, आत्मा पवित्र हो। और आत्मा की विशुद्धि एव पवित्रता होने पर ही कर्म हल्के होते हैं। यह एक अन्योन्याश्रय दोष है। आत्मा की शुद्धि होने पर कर्म का हल्का होना और कर्म के हल्के होने पर आत्मा की विशुद्धि होना, इस प्रकार का अन्योन्याश्रित चिन्तन जैन दर्शन का मूल चिन्तन नही है। आत्मा की विशुद्धि और आत्मा की विमुक्ति कर्म के हल्के होने पर नही, बल्कि आत्मा के प्रसुप्त पुरुषार्थ को जागृत करने से होती है। भोग भोगकर कर्मों को हल्का करने की प्रक्रिया, एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसका कभी अन्त नही हो सकता। क्योकि आत्मा जितना अपने कर्मों को भोगता है, उससे भी कही अधिक वह भोगकाल मे राग द्वेष मे उलझकर नये कर्मों का बन्ध कर लेता है। इसलिए कर्म टूटें तो आत्मा विशुद्ध हो, यह सिद्धान्त नही है, बल्कि सिद्धान्त यह है, कि आत्मा का शुद्ध पुरुषार्थ जागे, तो कर्म हल्के हो।

शास्त्रो मे दो प्रकार की मुक्ति मानी है—द्रव्य-मुक्ति और भाव-मुक्ति। द्रव्य-मुक्ति प्रतिक्षण होती रहती है, क्योकि आत्मा प्रतिक्षण अपने पूर्व कर्मों को भोग रहा है, किन्तु भाव-मुक्ति के बिना वास्तविक विमुक्ति नही मिल सकती है। द्रव्य की अपेक्षा भाव का मूल्य अधिक है, क्योकि आत्मा के प्रसुप्त पुरुषार्थ को प्रबुद्ध करने की शक्ति द्रव्य मे नही, भाव मे ही है, आत्मा का ज्ञान चेतना मे ही है। आत्मा का जो स्वोन्मुखी पुरुषार्थ है और आत्मा का जो वीतराग जागरण है, वस्तुत वही भाव-मोक्ष है। साधना के द्वारा ज्यो ही विकार मुक्तिरूप भाव-मोक्ष होता है, साथ ही जड कर्म पुद्गलो से विमुक्तिस्वरूप द्रव्य-मोक्ष भी हो जाता है।

मुख्य प्रश्न भाव-मोक्ष का है। द्रव्य-मोक्ष के लिए पुरुषार्थ करने की अलग से जरूरत नही है। कल्पना कीजिए, घर मे अँधेरा है, दीपक जलाते ही प्रकाश हो जाता है। यहाँ पर क्या हुआ ? पहले अन्धकार नष्ट हुआ फिर प्रकाश आया अथवा पहले प्रकाश हुआ और फिर अन्धकार नष्ट हुआ। वस्तुत दोनो अलग अलग कार्य नही हैं। प्रकाश का हो जाना ही अन्धकार का नष्ट हो जाना है और अन्धकार का नष्ट हो जाना ही प्रकाश का हो जाना है। सिद्धान्त यह है कि प्रकाश और अन्धकार का जन्म और मरण साथ-साथ ही होता है। जिस क्षण प्रकाश जन्मता है, उसी क्षण अन्धकार मरता है। इधर प्रकाश होता है और उधर अन्धकार नष्ट हो जाता है। एक ही समय मे एक

का जन्म होता है और दूसरे का मरण हो जाता है। यही बात द्रव्य मोक्ष और भाव-मोक्ष के सम्बन्ध में भी है। ज्यों ही भाव-मोक्ष हो जाता है त्यों ही द्रव्य मोक्ष भी हो जाता है। भाव-मोक्ष और द्रव्य-मोक्ष का जन्म एक साथ ही होता है उसमें समय मात्र का भी अन्तर नहीं रह पाता।

मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि कर्मों से लड़ने से पहले आत्मा के पुरुषार्थ को जागृत करने की आवश्यकता है। अन्धकार को नष्ट करने के लिए शस्त्र लेकर उससे लड़ने की आवश्यकता नहीं होती बल्कि प्रकाश को जागृत करने की ही आवश्यकता है। प्रकाश को जागृत कर लिया तो अन्धकार स्वयं ही नष्ट हो गया। प्रकाश की सत्ता के समक्ष अन्धकार की सत्ता खड़ी नहीं रह सकती। यही बात कर्म और आत्मा के पुरुषार्थ के सम्बन्ध में भी है। आत्मा के पुरुषार्थ को जागृत करो। यही सबसे बड़ी साधना है और यही कर्म विमुक्ति का मूल कारण है।

कुछ साधक इस प्रकार के हैं, जो कर्मों को बलवान मानकर चलते हैं और अपनी आत्मा की शक्ति को भूलकर कर्म-शक्ति के सामने झुक जाते हैं। वे अपनी साधना में हताश और निराश हो जाते हैं। एक ओर वे साधना भी करते जाते हैं और दूसरी ओर वे कर्म की शक्ति का रोना भी रोते जाते हैं। यदि आपके मन में यह दृढ़ विश्वास है, कि आत्मा दुर्बल है, वह कुछ नहीं कर सकती। कर्म ही बलवान है, कर्म में ही अनन्त शक्ति है, तो आप हजारों जन्मों की साधना से भी कर्मों से विमुक्त नहीं हो सकते। यह बड़ी विचित्र बात है, कि हम साधना तो करें, किन्तु साधना की अनन्त शक्ति में हमारा विश्वास न हो। यह तो वही बात हुई, कि हम भोजन करके किसी दूसरे से यह पूछें कि हमारी भूख कब मिटेगी और पानी पीकर यह पूछें कि हमारी प्यास कब मिटेगी? साधना करके यह पूछना कि मेरी विमुक्ति कब होगी? यह एक विचित्र प्रश्न है। इस प्रकार का प्रश्न उसी आत्मा में उठता है जिसे अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं होता। एक साधक की आत्मा में इस प्रकार का दृढ़ विश्वास जागृत होना ही चाहिए, कि काम क्रोध आदि विकल्प चाहे कितने ही प्रबल क्यों न हों पर अन्त में मैं उन पर विजय प्राप्त कर लूँगा। आत्मा का यह संकल्प ही आत्मा की सबसे बड़ी शक्ति है और सबसे बड़ा जागरण है। आत्मा का जागरण ही हमारी साधना का एक मात्र लक्ष्य होना चाहिए।

मुझे एक बार एक वयोवृद्ध साधक से बातचीत करने का अवसर मिला। वह एक बहुत बड़े साधक थे। सम्भवत: मेरे जन्मकाल से भी पहले ही वे साधना मार्ग पर चल पड़े थे। उस समय मैं बालक था और वे वयोवृद्ध थे। न जाने वह

अपने जीवन मे कितनी सामायिक कर चुके थे, कितने व्रत और उपवास कर चुके थे, कितने प्रतिक्रमण कर चुके थे और न जाने कितनी माला जाप चुके थे। परन्तु उनके जीवन मे शान्ति और सन्तोप कभी नही आया। धन मे और परिजन में उनकी वडी तीव्र आसक्ति थी। एक दिन जव कि वे सामायिक करके वैठे हुए थे, तो इन्होंने मेरे से पूछा—"महाराज जी! आप वडे ज्ञानी है, शास्त्रो के ज्ञाता हैं, आप यह वतलाइए, कि मैं भव्य हूँ अथवा अभव्य हूँ।" मैंने अपने मन मे सोचा—"यह क्या प्रश्न है? यह प्रश्न तो साधना के प्रारम्भ मे ही हल हो जाना चाहिए था।" मैंने उस वृद्ध श्रावक से कहा—"जव तुम्हारे जीवन मे आध्यात्मिक पुरुषार्थ जागा, जब तुम्हारे जीवन मे ससार की वासना को दूर करने की भावना जागी और जव तुम्हारे जीवन मे भगवान के सिद्धान्तो पर आस्था जागी, तभी यह समझ लेना चाहिए था, कि मैं भव्य हूँ, अभव्य नही हूँ। यदि तुम्हारे मन मे भगवान् के वचनो मे आस्था है, प्रशम भाव है और कषाय का उपशम भाव है, तो समझलो कि तुम भव्य हो, इसमे किसी प्रकार का सन्देह नही है। इसके विपरीत यदि इतनी लम्बी साधना के बाद भी तुम्हारे जीवन मे यह सव कुछ नही है, तो तुम अभव्य हो। भव्य-अभव्य का निर्णय कोई दूसरा नही कर सकता, स्वय अपनी आत्मा ही कर सकती है। मैं भव्य हूँ, अथवा अभव्य हूँ यह जानने से पहले, यह जानो कि मेरे जीवन मे शान्ति और सन्तोष आया है अथवा नही। अन्तश्चेतना को जगाने का प्रयत्न करो। शून्य मन से की जाने वाली साधना वस्तुत साधना ही नही है।"

कुछ विचारक इस प्रकार भी सोचा करते हैं, कि कहाँ अनन्त जन्मो के अनन्त कर्म और कहाँ इस छोटे से जीवन की छोटी सी साधना। भला, अनन्त जीवन के अनन्त कर्म एक जीवन मे क्षय कैसे किए जा सकते हैं? जो लोग इस प्रकार सोचा करते हैं, मेरे विचार मे उन लोगों के सोचने का यह स्वस्थ तरीका नही है। मैं पूछता हूँ, आपसे कि किसी पर्वत की एक ऐसी गुफा है, जिसमे हजारो वर्षों से अन्धकार रह रहा है, किन्तु ज्यो ही उस गुफा मे दीपक की ज्योति जलाई कि हजारो वर्षों का अन्धकार एक क्षणमात्र में ही विलुप्त हो जाता है। जरा विचार तो कीजिए, कहाँ हजारो वर्षों का अन्धकार और कहाँ एक नन्ही सी दीपक-ज्योति। वस्तुत जैसा कि मैंने अभी आपको पहले कहा था कि प्रकाश के समक्ष खडे रहने की शक्ति अन्धकार मे है ही नही। इसी प्रकार आत्म-जागरण की ज्योति प्रकट होते ही अनन्त-अनन्त जन्म के कर्म भी क्षण भर मे ही नष्ट हो सकते हैं। इसमे जरा भी सन्देह की बात नही है। गजसुकुमार ने कितने जन्मो के कर्मों को अल्पकाल की साधना से ही नष्ट कर दिया था। अर्जुन मालाकार के कर्म कितने घोर थे, केवल अल्प साधना से

ही उसने अपने कर्मों को कितनी तीव्रता के साथ नष्ट किया ? मानव मन के किसी भी परापेक्षी विकल्प में यह शक्ति नहीं है, कि आत्मा के स्वोन्मुखी संकल्प के सामने वह खड़ा रह सके। कर्म कितना भी प्रबल क्यों न हो वह कितना भी पुराना क्यों न हो किन्तु आत्म-जागरण की ज्योति के समक्ष वह टिक नहीं सकता है। आत्मा में अनन्त शक्ति है, उसमें परमात्मा होने की भी शक्ति है किन्तु तभी जब कि उसे अपने पर विश्वास हो अपनी शक्ति पर आस्था हो अपने आध्यात्मिक पुरुषार्थ में निष्ठा हो।

कर्म बलवान् है यह सत्य है, क्योंकि तभी तो वे जीव को नाच नचाते हैं। पर याद रखिए, कर्म को उत्पन्न करने वाला यह आत्मा ही है। आत्मा की शक्ति के समक्ष कर्म की शक्ति अवश्य ही हीनकोटि की है। आत्मा में अपने आपको बाँधने की शक्ति भी है और इस आत्मा में अपने को मुक्त करने की शक्ति भी है। आत्मा न जाने कितनी बार नरकों में गया और न जाने कितनी बार स्वर्गों में गया तथा न जाने कितनी बार यह पशु-पक्षी बना और न जाने कितनी बार इसने मानव-तन पाया। जन्म और मरण का यह खेल आज का नहीं अनन्त अनन्त काल का है। इस खेल को बनाने वाला भी आत्मा है और इस खेल को मिटाने वाला भी यह आत्मा ही है। जब यह आत्मा अज्ञान और मिथ्यात्व आदि विकल्पों से अभिभूत हो जाता है, तब यह अपने स्वरूप को भूल बैठता है। अपने स्वरूप को भूल बैठना ही सारी बुराइयों की जड़ है। आत्मस्वरूप को समझना यही हमारी साधना है। जब तक साधक अपने आपको नहीं समझता है, तब तक न वह अपने मन के विकल्पों पर विजय प्राप्त कर सकता है और न वह कर्म की घनघोर घटाओं को ही छिन्न भिन्न कर सकता है। प्रत्येक साधक के हृदय में यह दृढ़ विश्वास होना ही चाहिए, कि मैं अनन्त शक्ति सम्पन्न हूँ और मुझमें आज से ही नहीं अनन्तकाल से अनन्त शक्ति रही है। प्रश्न शक्ति प्राप्त करने का नहीं है वह तो आज से ही क्या अनन्त काल से ही प्राप्त है मुख्य प्रश्न है, उस शक्ति के आवरण का। आत्म-शक्ति के आवृत होते ही कर्म छिन्न भिन्न हो जाते हैं।

जैन दर्शन में कर्म के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, और जो कुछ लिखा गया है उसे एक दिन में और केवल एक घण्टे के व्याख्यान में बतला सकना कदापि सम्भव नहीं है फिर भी मैं संक्षेप में आपको यह बतलाने का प्रयत्न करूँगा कि जैन दर्शन के अनुसार कर्म का स्वरूप क्या है और कर्म का फल कर्म करने वाले आत्मा को किस रूप में मिलता है ? इस सन्दर्भ में यह बात भी विचारणीय है, कि आत्मा कर्म कैसे बाँधता है और फिर साधना के द्वारा उससे कैसे विमुक्ति प्राप्त कर सकता है ? कर्म के सम्बन्ध में जितना

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और दार्शनिक चिन्तन जैन-दर्शन के ग्रन्थो मे किया गया है, वह विश्लेषण और वह चिन्तन अन्यत्र आपको इस रूप मे उपलब्ध नही हो सकेगा। यदि आपने मेरी बातो को शान्त और एकाग्रता से सुना, तो आप इस सम्बन्ध मे कुछ समझ सकेंगे।

कर्म की परिभाषा

कर्म की परिभाषा करते हुए कहा गया है, कि आत्म सम्बद्ध पुद्गल द्रव्य, कर्म कहा जाता है और द्रव्य-कर्म के बन्ध के हेतु रागादि भाव, भाव-कर्म माना गया है। आचार्य देवेन्द्र सूरि ने अपने स्वरचित कर्म-विपाक ग्रन्थ मे कर्म का स्वरूप बतलाते हुए कहा है—

"कीरइ जीएण हेउहि, जेण तो भण्णए कम्म।"

कम का यह लक्षण द्रव्य कर्म और भाव कर्म दोनो मे घटित होता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—इन पाँच कारणो से आत्म-प्रदेशो मे परिस्पन्दन (कम्पन) होता है, जिससे उसी आकाश-प्रदेश मे स्थित अनन्तान्त कर्म-योग्य पुद्गल जीव के साथ सम्बद्ध हो जाता है। वह आत्म सम्बद्ध पुद्गल द्रव्य ही कर्म कहा जाता है। जीव और कर्म का यह सम्बन्ध नीर-क्षीरवत् एव अग्नि-लोह-पिण्डवत् होता है। जीव और कर्म का सम्बन्ध कर्म शास्त्र मे दो प्रकार का माना गया है—अनादि-अनन्त और अनादि-सान्त। सब भव्यो मे तो नही, प्राय निकट भव्य जीवो मे अनादि सान्त सम्बन्ध रहता है और अभव्य जीवो मे तो एकान्तत अनादि अनन्त सम्बन्ध रहता है। क्योकि अभव्य जीवो की कभी मुक्ति नही होती है और भव्यो में अनन्त आत्मा अतीत मे मोक्ष गए हैं और भविष्य मे अवश्य जाएँगे। इसी आधार पर जीव का कर्म के साथ सम्बन्ध दो प्रकार का बताया गया है।

कर्म के भेद

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, मुख्य रूप मे कर्म के दो भेद हैं—द्रव्यकर्म और भाव कर्म। कर्म-वर्गणा के पुद्गलो का सूक्ष्म विकार द्रव्य कर्म है और आत्मा के राग-द्वेष आदि वैभाविक परिणाम भाव हैं। राग-द्वेष आदि वैभाविक परिणामो का उपादान कारण जीव है, इसलिए उपादान रूप से भाव कर्म का कर्ता जीव ही है। द्रव्य कर्म मे जीव के शुभाशुभ भाव निमित्ति कारण हैं। इसलिए निमित्त रूप से द्रव्य कर्म का कर्ता भी जीव ही है। भाव कर्म के होने मे पूर्वबद्ध द्रव्य कर्म निमित्त है और वर्तमान मे बध्यमान द्रव्य कर्म मे भाव कर्म निमित्त है। दोनो मे निमित्त-नैमित्तिक रूप कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है। सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र ने स्वप्रणीत 'गोम्मटसार' ग्रन्थ के

कर्मकाण्ड में द्रव्यकर्म और भावकर्म का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है— "पोग्गल-पिंडो दव्वं तस्सत्ति भाव-कम्मं तु।" पुद्गल पिण्ड को द्रव्यकर्म और उसकी फल देने की शक्ति विशेष को भावकर्म कहा है।

कर्म के अस्तित्व में प्रमाण

प्रश्न होता है कि हम इस तथ्य को कैसे समझें कि कर्म का अस्तित्व होता है? कर्म भौतिक होते हुए भी इतना सूक्ष्म तत्व है, कि इन्द्रियों से उसे जाना और देखा नहीं जा सकता। जो ज्ञान ऐन्द्रियक नहीं है, उन्हीं के द्वारा कर्म का साक्षात्कार हो सकता है। हाँ हेतु और तर्क के द्वारा भी कर्म के अस्तित्व को प्रमाणित किया जा सकता है।

संसार के सभी जीव एक जैसे नहीं होते जीवों की यह विविधता ही और संसार की यह विचित्रता ही कर्म के अस्तित्व में सबसे बड़ा प्रमाण है। जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार कर्म के अस्तित्व में प्रमाण इस प्रकार माना गया है कि संसार के सभी जीव आत्म-स्वरूप की अपेक्षा से भले ही एक हैं फिर भी वे भिन्न भिन्न योनियों में और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में होने से पृथक्-पृथक् स्थिति एवं दशा में होते हैं। एक राजा है दूसरा रंक। एक विद्वान है, दूसरा मूर्ख। एक निरोग है, दूसरा रोगी। एक सुखी है, दूसरा दुखी। एक सुन्दर है, दूसरा कुरूप। अधिक क्या एक ही माता के उदर से उत्पन्न हुए और एक ही परिस्थिति में पले हुए दो बालकों में से भी एक धनी हो जाता है, दूसरा निर्धन रह जाता है। एक मूर्ख रह जाता है दूसरा विद्वान् हो जाता है। यह विषमता यह विचित्रता और यह असमानता अकारण नहीं हो सकती। उसका कुछ न कुछ कारण अवश्य होना चाहिए और वह कारण दूसरा कुछ नहीं कर्म ही है। जिस प्रकार बीज के बिना अंकुर नहीं हो सकता उसी प्रकार कर्म के बिना सुख-दुःख भी नहीं हो सकते। संसार में सुख और दुःख प्रत्यक्ष देखा जाता है। दो व्यक्ति जो कि समान स्थिति में रहते हैं, उनमें भी देखा जाता है कि एक सुखी है और दूसरा दुखी रहता है। आखिर इस सुख दुःख का कारण कोई तो अवश्य होना ही चाहिए और वह कारण कर्म ही हो सकता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि सुख-दुःख का कारण तो इस लोक में प्रत्यक्ष ही है उसके लिए कर्म मानने की आवश्यकता ही क्या? जिसके पास वस्त्र नहीं है उसे वस्त्र मिल जाने पर सुखानुभूति होती है। जिसके पास भोजन नहीं है उसे भोजन मिल जाने पर सुख का अनुभव होता है। इसी प्रकार मान और सम्मान भी सुख के कारण बन जाते हैं। इनके विपरीत भौतिक साधनों

के अभाव मे मनुष्य दु ख का अनुभव करने लगता है, अत भौतिक वस्तुओ के सद्भाव से सुख और असद्भाव से दु ख प्रत्यक्ष देखा जाता है। फिर उस सुख-दु ख के कारण रूप मे अदृश्यभूत कर्म की कल्पना क्यो की जाए ? इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार से किया गया है कि—सुख एव दु ख के बाह्य दृष्ट साधनो से भी परे हमे सुख-दुख के कारणो की खोज इसलिए करनी पडती है, कि सुख-दु ख की समान सामग्री प्राप्त होने पर भी मनुष्यो के सुख-दु ख मे अन्तर देखा जाता है। एक व्यक्ति सुख के कारण प्राप्त करने पर भी सुखी नही रहता और दूसरा व्यक्ति दु ख के साधन मिलने पर भी सुखी रहता है। अत बाह्य वस्तुओ के सद्भाव और असदभाव की अपेक्षा किसी आन्तरिक कारण से ही इसका समाधान किया जा सकता है। एक व्यक्ति को जीवन मे सुख के कारण प्राप्त होते हैं और दूसरे को दु ख के कारण। इसका भी कोई नियामक होना चाहिए और वह कर्म ही हो सकता है। कर्म के अस्तित्व मे एक यह भी तर्क दिया जाता है, कि दान आदि क्रिया फलवती होती है, क्योकि वह चेतन के द्वारा की जाती है। जो क्रिया चेतन द्वारा की जाती है, वह अवश्यमेव फलवती होती है, जैसे कृषि आदि। दान आदि क्रिया भी चेतनकृत होने से फलवती होनी चाहिए। दान आदि क्रिया का फल शुभ कर्म के अतिरिक्त दूसरा नही हो सकता। जिस प्रकार अध्ययन क्रिया का फल ज्ञान-सचय होता है, उसी प्रकार कर्म के फल सुख-दु ख आदि ही होते हैं।

कर्म की मूर्तता

जैन दर्शन की परिभाषा के अनुसार द्रव्य कर्म को मूर्त माना गया है। जिसमे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श यह चार गुण हो, वह पदार्थ मूर्त होता है। पुद्गल में ये चारों गुण विद्यमान हैं। अत छह द्रव्यो मे पुद्गल को मूर्त द्रव्य माना गया है। जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य कर्म पुद्गल जन्य है, अत मूर्त है। कारण यदि मूर्त है, तो उसका कार्य भी मूर्त ही होता है। जैसे मिट्टी एक मूर्त उपादान कारण है, तो उसका कार्य घट भी मूर्त ही होता है। कारण के अनुसार ही कार्य होता है। कारण मूर्त है, तो कार्य भी मूर्त होगा और यदि कारण अमूर्त है, तो उसका कार्य भी अमूर्त ही होगा।

कारण से जैसे कार्य का अनुमान होता है उसी प्रकार कार्य से भी कारण का अनुमान होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार शरीर आदि कार्य मूर्त है, तो उनका कारण कम भी मूर्त ही होना चाहिए। ज्ञान अमूर्त है, तो उस का उपादान कारण आत्मा भी अमूर्त है। दोनो ही पद्धति से कर्म का मूर्तत्व सिद्ध है।

यहाँ यह शका की जा सकती है, कि जिस प्रकार शरीर आदि कम के

कार्य है, उसी प्रकार सुख-दुःख भी कर्म के ही कार्य हैं पर वे अमूर्त हैं। फिर आपका कार्य-कारण सम्बन्धी उक्त नियम स्थिर कैसे रह सकता है? उक्त शंका का समाधान यही है कि सुख-दुःख आदि आत्मा के धर्म हैं और आत्मा ही उनका उपादान कारण है। कर्म तो सुख दुःख में निमित्त कारण ही होता है उपादान कारण नहीं। अतः उक्त नियम में किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती। कर्म की मूर्तता सिद्ध करने के लिए कुछ तर्क इस प्रकार दिए जा सकते हैं— कर्म मूर्त है, क्योंकि उसके सम्बन्ध से सुख-दुःख आदि का ज्ञान होता है जैसे भोजन से। कर्म मूर्त है, क्योंकि उसके सम्बन्ध से वेदना होती है जैसे अग्नि से। कर्म मूर्त है क्योंकि उसके सम्बन्ध से आत्मा को सुख-दुःख भोगना पड़ता है। यदि कर्म अमूर्त होता तो वह गगन जैसा होता। जैसे गगन से किसी का उपघात और अनुग्रह नहीं होता वैसे कर्म से भी उपघात और अनुग्रह नहीं होना चाहिए। परन्तु कर्म से होने वाले उपघात और अनुग्रह प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, अतः कर्म मूर्त ही है।

मूर्त का अमूर्त पर प्रभाव

यदि कर्म मूर्त है जड़ है, तो फिर वह अमूर्त एवं चेतन स्वरूप आत्मा पर अपना प्रभाव कैसे डालता है? जिस प्रकार वायु और अग्नि का अमूर्त आकाश पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता उसी प्रकार अमूर्त आत्मा पर भी मूर्त कर्म का कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए? इसका उत्तर इतना ही है कि जैसे अमूर्त ज्ञान आदि गुणों पर मूर्त मदिरा आदि का प्रभाव पड़ता है, वैसे ही अमूर्त जीव पर भी मूर्त कर्म का प्रभाव पड़ सकता है। उक्त प्रश्न का एक दूसरा समाधान इस प्रकार से किया गया है कि कर्म के सम्बन्ध से आत्मा कथंचित् मूर्त भी है। क्योंकि संसारी आत्मा अनादि काल से कर्म-संतति से सम्बद्ध है। इस अपेक्षा से आत्मा सर्वथा अमूर्त नहीं है, अपितु कर्म-सम्बद्ध होने के कारण मूलतः अमूर्त होते भी कथंचित् मूर्त है। इस दृष्टि से अमूर्त आत्मा पर मूर्त कर्म का उपघात अनुग्रह और प्रभाव पड़ता है।

अमूर्त का मूर्त से सम्बन्ध

प्रश्न होता है कि आत्मा अपने मूल स्वरूप से जब अमूर्त है और कर्म जब अपने मूल स्वरूप से मूर्त है, तब फिर अमूर्त आत्मा का मूर्त कर्म से सम्बन्ध कैसे हो जाता है? उक्त प्रश्न के समाधान में यह कहा जाता है कि—जैसे मूर्त घट का अमूर्त आकाश के साथ सम्बन्ध असम्भव नहीं है, वैसे ही अमूर्त आत्मा का मूर्त कर्म से सम्बन्ध असम्भव नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में एक दूसरा तर्क यह है, कि जिस प्रकार अँगूठी आदि मूर्त द्रव्य का आकुञ्चन आदि अमूर्त क्रिया

से सम्बन्ध होता है, इसी प्रकार अमूर्त जीव का मूर्त कर्म के साथ सम्बन्ध होने मे किसी भी प्रकार विप्रतिपत्ति नही हो सकती। एक तीसरा तर्क यह भी हो सकता है, कि आत्मा और कर्म दोनो अगुरु-लघु होते हैं, इसलिए उनका परस्पर सम्बन्ध हो सकता है। इसमे किसी भी प्रकार का दोप नही आता।

जीव और कर्म का सम्बन्ध

जीव और कर्म का सम्बन्ध कैसे होता है, इस सम्बन्ध मे तीन प्रकार के विचार उपलब्ध होते है—पहला है नीर-क्षीरवत्। जैसे जल और दुग्ध परस्पर मिलकर एकमेक हो जाते हैं, वैसे ही कर्म पुद्गल के परमाणु आत्म-प्रदेशो के साथ सश्लिष्ट हो जाते हैं। दूसरा विचार है—अग्निलोहपिण्डवत्। जिस प्रकार लोह-पिण्ड को अग्नि मे डाल देने से उसके कण-कण मे अग्नि परिव्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा के असख्यात प्रदेशो पर अनन्त-अनन्त कर्म-वर्गणा के कर्म दलिक सम्बद्ध हो जाते हैं, सश्लिष्ट हो जाते हैं। तीसरा विचार है—सर्प-कञ्चुकीवत्। जिस प्रकार सर्प का उसकी कांचली के साथ सम्बन्ध होता है उसी प्रकार आत्मा का भी कर्म के साथ सम्बन्ध हो जाता है। यह तृतीय अभिमत जैन परम्परा के ही एक विद्रोही विचारक सातवें निह्नव गोष्ठा-माहिल का है। मूलत जैन-दर्शन मे और कर्म-ग्रन्थो मे इस अभिमत को स्वीकार नही किया गया है।

कर्म और उसका फल

हम देखते हैं, कि ससार मे जितने भी जीव हैं, वे दो ही प्रकार के कर्म करते हैं—शुभ और अशुभ, अच्छा और बुरा। कर्मशास्त्र के अनुसार शुभ कम का फल अच्छा और अशुभ कर्म का फल बुरा होता है। आश्चर्य है, कि सभी प्राणी अच्छे या बुरे कर्म करते हैं, पर बुरे कर्म का दुख रूप फल कोई जीव नही चाहता। ससार का प्रत्येक प्राणी सुख तो चाहता है, किन्तु दुख कोई नही चाहता। अस्तु, यहाँ एक प्रश्न उठता है, कि कर्म स्वय जड है, वह चेतन नहीं है, तब वह फल कैसे दे सकता है? क्योकि फल-प्रदान चेतन की बिना प्रेरणा के नही हो सकता। और यदि स्वय कर्म कर्ता चेतन ही भोग लेता है, तो वह सुख तो भोग सकता है, परन्तु दुख स्वय कैसे भोगेगा? दुख तो कोई भी नही चाहता। अत कर्मवादी अन्य दार्शनिको ने कर्मफल भोग करने वाला ईश्वर माना है। परन्तु जैनदार्शनिक इस प्रकार के ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नही करते। फिर जैन दर्शन मे कर्म-फल-भोग की क्या व्यवस्था रहेगी? इसका समाधान इस प्रकार से किया गया है कि—प्राणी अपने अशुभ कर्म का फल नही चाहता, यह ठीक है, पर यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए

कि चेतन आत्मा के संसर्ग से अचेतन कर्म में एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे कर्म अपने शुभाशुभ फल को नियत समय पर स्वयं ही प्रकट कर देता है। जैन-दर्शन यह नहीं मानता कि जड़ कर्म चेतन के संसर्ग बिना भी फल देने में समर्थ है। कर्म स्वयं ही अपना फल प्रदान करने का सामर्थ्य रखता है। प्राणी जैसा भी कर्म करते हैं, उनका फल उन्हें उन्हीं कर्मों द्वारा स्वतः मिल जाता है। जिस प्रकार जीभ पर मिर्च रखने के बाद उसकी तिक्तता का अनुभव स्वतः होता है। व्यक्ति के न चाहने से मिर्च का स्वाद नहीं आए, यह नहीं हो सकता। उस मिर्च के तीखेपन का अनुभव कराने के लिए किसी अन्य चेतन आत्मा की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। यही बात कर्म-फल भोगने के विषय में भी समझ लेनी चाहिए। इस सम्बन्ध में बौद्ध साहित्य में भी बहुत कुछ कहा गया है।

मिलिन्द और नागसेन

राजा मिलिन्द स्थविर नागसेन से पूछता है, कि—भन्ते! क्या कारण है कि सभी मनुष्य समान नहीं होते? कोई कम आयु वाला कोई दीर्घ आयु वाला कोई बहुत रोगी कोई नीरोग कोई भद्दा कोई बड़ा सुन्दर, कोई प्रभाव हीन कोई प्रभावशाली कोई निर्धन कोई धनी कोई नीच कुल वाला कोई उच्चकुल वाला कोई मूर्ख और कोई विद्वान क्यों होते हैं? उक्त प्रश्नों का उत्तर स्थविर नागसेन ने इस प्रकार दिया है—राजन्! क्या कारण है कि सभी वनस्पति एक जैसी नहीं होती। कोई खट्टी कोई नमकीन कोई तीखी कोई कड़वी कोई कसैली और कोई मीठी क्यों होती है? मिलिन्द ने कहा—मैं समझता हूँ कि बीजों के भिन्न भिन्न होने ही से वनस्पति भी भिन्न-भिन्न होती है। नागसेन ने कहा—राजन्! जीवों की विविधता का कारण भी उनका अपना कर्म ही होता है। सभी जीव अपने-अपने कर्मों का फल भोगते हैं। सभी जीव अपने कर्मों के अनुसार ही नानागति और योनियों में उत्पन्न होते हैं। राजा मिलिन्द और नागसेन के इस सम्वाद से भी यही सिद्ध होता है कि कर्म अपना फल स्वयं ही प्रदान करता है। 'मिलिन्द-प्रश्न' एक बौद्ध ग्रन्थ है। उसमें यह सम्वाद दिया गया है।

चेतन का सम्बन्ध पाकर जड़ कर्म स्वयं ही अपना फल देता है और आत्मा उसका फल भोगता है। जैन-दर्शन का यह सिद्धान्त बौद्ध दर्शन में भी स्वीकार किया गया है, जिसका स्पष्ट उल्लेख हमें राजा मिलिन्द और स्थविर नागसेन के सम्वाद में उपलब्ध होता है। जैन-दर्शन के अनुसार किसी भी कर्म के फल भोग के लिए, कर्म और उसके करने वाले के अतिरिक्त किसी तीसरे व्यक्ति की

आवश्यकता नही है। क्योकि कर्म करते समय ही जीव के परिणाम के अनुसार एक इस प्रकार का सस्कार पड जाता है, जिससे प्रेरित होकर जीव अपने कर्म का फल स्वय भोग लेता है और कर्म भी चेतन से सम्बद्ध होकर अपने फल को अपने आप ही प्रकट कर देता है। कुछ दार्शनिक यह भी मानते हैं, कि—काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ इन पाँच समवायो के मिलने से जीव कर्म-फल भोगता है। इन सब तर्कों से यह सिद्ध हो जाता है, कि जीव के सयोग से कर्म अपना फल स्वत ही देता है।

शुभ और अशुभ कर्म :

जैन दर्शन के अनुसार कर्म वर्गणा के पुद्गल परमाणु लोक मे सर्वत्र भरे हैं। उनमे शुभत्व और अशुभत्व का भेद नही है, फिर कर्म पुद्गल परमाणुओ मे शुभत्व एव अशुभत्व का भेद कैसे पैदा हो जाता है ? इसका उत्तर यह है कि—जीव अपने शुभ और अशुभ परिणामो के अनुसार कर्म वर्गणा के दलिको को शुभ एव अशुभ रूप मे परिणित करता हुआ ही ग्रहण करता है। इस प्रकार जीव के परिणाम एव विचार ही, कर्मों की शुभता एव अशुभता के कारण हैं। इसका अर्थ यह है, कि कर्म-पुद्गल स्वय अपने आप मे शुभ और अशुभ नही होता, बल्कि जीव का परिणाम ही उसे शुभ एव अशुभ बनाता है। दूसरा कारण है, आश्रय का स्वभाव। कर्म के आश्रय भूत ससारी जीव का भी यह वैभाविक स्वभाव है, कि वह कर्मो को शुभ एव अशुभ रूप मे परिणित करके ही ग्रहण करता है। इसी प्रकार कर्मों मे भी कुछ ऐसी योग्यता रहती है, कि वे शुभ एव अशुभ परिणाम-सहित जीव से ग्रहण किए जाकर ही, शुभ एव अशुभ रूप मे परिणत होते रहते हैं, बदलते रहते हैं एव परिवर्तित होते रहते हैं। पुद्गल शुभ से अशुभ रूप मे और अशुभ से शुभ रूप मे कैसे परिणत हो जाते हैं ? इसका समाधान इस प्रकार से किया गया है—

प्रकृति, स्थिति और अनुभाग की विचित्रता तथा प्रदेशो के अल्प बहुत्व का भी भेद जीव कर्म ग्रहण के समय ही करता है। इस तथ्य को समझने के लिए आहार का दृष्टान्त दिया जाता है। सर्प और गाय को भले ही एक जैसा भोजन एव आहार दिया जाए, किन्तु उन दोनो की परिणति विभिन्न प्रकार की होती है। कल्पना कीजिए सर्प और गाय को एक साथ और एक जैसा दूध पीने के लिए दिया गया, वह दूध सर्प के शरीर मे विष रूप मे परिणत होता है और गाय के शरीर मे दूध, दूध रूप मे ही परिणत होता है। ऐसा क्यो होता है ? इस प्रश्न के समाधान मे कहा गया है कि—आहार का यह स्वभाव है कि वह अपने आश्रय के अनुसार परिणत होता रहता है। एक ही समय मे पढी

वर्षा की बूँदों का आश्रय के भेद से भिन्न भिन्न परिणाम देखा जाता है। जैसेकि स्वाति नक्षत्र में गिरी बूँदें सीप के मुख में जाकर मोती बन जाती है और सर्प के मुख में विष। यह तो भिन्न-भिन्न शरीरों में आहार की विचित्रता दिखलाई। किन्तु एक शरीर में भी एक जैसे आहार के परिणाम की विचित्रता देखी जाती है। शरीर द्वारा ग्रहण किया हुआ एक आहार अस्थि मज्जा एवं मलमूत्र आदि सार असार विविध रूपों में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार कर्म भी जीव से ग्रहण किए जाने पर शुभ एवं अशुभ रूप में परिणत हो जाते हैं। एक ही पुद्गल वर्गणा में विभिन्नता का हो जाना सिद्धान्त बाधित नहीं कहा जा सकता है।

जीव का कर्म से अनादि सम्बन्ध

प्रश्न होता है आत्मा चेतन है और कर्म जड़ है। इस चेतन आत्मा का इस जड़ कर्म के साथ सम्बन्ध कब से है? इसके समाधान में कहा गया है कि—कर्म-सन्तति का आत्मा के साथ अनादि काल से सम्बन्ध है। यह नहीं बताया जा सकता कि जीव से कर्म का सर्वप्रथम सम्बन्ध कब और कैसे हुआ। शास्त्र में यह कहा गया है, कि जीव सदा क्रियाशील रहता है। वह प्रतिक्षण मन वचन और काय के योगरूप व्यापार में प्रवृत्त रहता है। अतः वह प्रति समय कर्म बन्ध करता ही रहता है। इस प्रकार अमुक कर्म विशेष दृष्टि से आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध सादि भी कहा जा सकता है। परन्तु कर्म सन्तति की अपेक्षा से जीव के साथ कर्म का अनादि काल से सम्बन्ध है। प्रतिक्षण पुराने कर्म क्षय होते रहते हैं और नये कर्म बँधते रहते हैं।

यदि कर्म सन्तति को सादि मान लिया जाए, तो फिर कर्म सम्बन्ध से पूर्व जीव सिद्ध बुद्ध एवं मुक्त दशा में रहा होगा? फिर वह कर्म से लिप्त कैसे हो गया? यदि अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित जीव कर्म से लिप्त हो सकता है तो सिद्ध आत्मा भी कर्म से लिप्त क्यों नहीं हो जाते? इस प्रकार संसार और मोक्ष का कोई महत्व न रहेगा कोई व्यवस्था न रहेगी। इसके अतिरिक्त कर्म सन्तति को सादि मानने वालों को यह भी बताना होगा कि कब से कर्म आत्मा के साथ लगे और क्यों लगे? इस प्रकार किसी प्रकार का समाधान नहीं किया जा सकता। इन सब तर्कों से यही तथ्य सिद्ध होता है, कि आत्मा के साथ कर्म का अनादि काल से सम्बन्ध रहा है।

कर्म बन्ध के कारण

प्रश्न होता है, कि यह मान लिया जाए कि जीव के साथ कर्म का अनादि सम्बन्ध है। परन्तु इस तथ्य को स्वीकार करने पर यह प्रश्न सामने आता है,

कि वन्ध किन कारणो से होता है ? उक्त प्रश्न के समाधान मे कर्म-ग्रन्थो मे दो अभिमत उपलब्ध होते हैं—पहला कर्म-वन्ध के कारण पाँच मानता है—जैसे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। दूसरा केवल कर्म-वन्ध के कारण दो ही मानता है—कषाय और योग। यहाँ पर यह समझ लेना चाहिए कि कषाय मे मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद अन्तर्भूत हो जाते हैं। अत सक्षेप की दृष्टि से कर्म-वन्धन के हेतु दो और विस्तार की अपेक्षा से कर्म-बन्धन के हेतु पाँच हैं। दोनो अभिमतो मे कोई मौलिक भेद नही है।

कर्म ग्रन्थो मे वन्ध के चार भेद वताए गए हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश। इनमे से प्रकृति और प्रदेश का वन्ध योग से होता है तथा स्थिति और अनुभाग का वन्ध कषाय से होता है। जिस प्रकार मकडी अपनी ही प्रवृत्ति से अपने वनाए हुए जाले मे फँस जाती है, उसी प्रकार यह जीव भी अपनी राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति से अपने आपको कर्म पुद्गल के जाल मे फँसा लेता है। कल्पना कीजिए, एक व्यक्ति अपने शरीर मे तेल लगा कर यदि धूलि मे लेटे तो धूलि उस शरीर मे चिपक जाती है, इसी प्रकार आत्मा के राग-द्वेष रूप परिणामो से जीव भी पुद्गलो को ग्रहण करता है और कषाय भाव के कारण उन कर्म-दलिको का आत्म-प्रदेशो के साथ सलेष हो जाता है और वस्तुत यही बन्ध है। जैन-दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनो मे कर्म बन्ध के कारण माया, अविद्या, अज्ञान और वासना को माना गया है, परन्तु शब्द भेद और प्रक्रिया-भेद होने पर भी मूल भावनाओ मे अधिक मौलिक भेद नही है। न्याय एव वैशेषिक दर्शन मे मिथ्या ज्ञान को, योग दर्शन मे प्रकृति और पुरुष के सयोग को, वेदान्त मे अविद्या एव अज्ञान को तथा बौद्ध दर्शन मे वासना को कर्म-बन्ध का कारण माना गया है।

मोक्ष के साधन

भारतीय दर्शन मे जिस प्रकार कर्म-बन्ध और कर्म-बन्ध के कारण माने गए है, उसी प्रकार मुक्ति और मुक्ति के उपाय भी माने गए हैं। मुक्ति, मोक्ष और निर्वाण प्राय समान अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। बन्धन से विपरीत दशा को ही मुक्ति एव मोक्ष कहा जाता है। यह ठीक है, कि जीव के साथ कर्म का प्रतिक्षण बन्ध होता है। पुरातन कर्म अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं और नये कर्म प्रतिसमय बँधते रहते है। परन्तु इसका फलितार्थ यह नही निकाल लेना चाहिए, कि आत्मा कभी कर्मों से मुक्त होगा ही नही। जैसे स्वर्ण और मिट्टी परस्पर मिलकर एकमेक हो जाते हैं, किन्तु ताप आदि की प्रक्रिया के द्वारा जिस प्रकार मिट्टी को अलग करके शुद्ध स्वर्ण को अलग कर

लिया जाता है, उसी प्रकार अध्यात्म-साधना से कर्म रज से छूट कर मुक्त बुद्ध एवं मुक्त हो सकता है। यदि एक बार कर्मविमुक्त हो जाता है तो फिर कभी वह कर्म-बद्ध नहीं होता। क्योंकि कर्म-बन्ध के कारणीभूत साधनों का सर्वथा अभाव हो जाता है। जैसे बीज के सर्वथा जल जाने पर उससे फिर अंकुर की उत्पत्ति नहीं हो सकती वैसे ही कर्म रूपी बीज के जल जाने पर उससे संसार-रूप अंकुर उत्पन्न नहीं होता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है, कि जो आत्मा एक दिन बद्ध हुआ है वह आत्मा एक दिन कर्मों से विमुक्त भी हो सकता है।

प्रश्न होता है कि कर्म-बन्ध से छूटने के उपाय क्या है, ? उक्त प्रश्न के समाधान में जैन-दर्शन मोक्ष एवं मुक्ति के तीन साधन एवं उपाय बतलाता है—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। कहीं पर यह भी कहा गया है कि 'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः' ज्ञान और क्रिया से मोक्ष की उपलब्धि होती है। ज्ञान और क्रिया को मोक्ष का हेतु मानने का यह अर्थ नहीं है, कि सम्यग्दर्शन को मानने से इन्कार कर दिया हो। जैन-दर्शन के अनुसार जहाँ पर सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र होता है, वहाँ पर सम्यग्दर्शन अवश्य ही होता है। आगमों में दर्शन ज्ञान और चरित्र के साथ तप को भी मोक्ष प्राप्ति में एवं मुक्ति की उपलब्धि में उपाय व कारण माना गया है। इस अपेक्षा से जैन-दर्शन में मोक्ष के हेतु दो एवं चार सिद्ध होते हैं। परन्तु गम्भीरता से विचार करने पर यह ज्ञात होता है, कि वास्तव में मोक्ष के हेतु तीन ही हैं—श्रद्धान ज्ञान और आचरण। बद्ध कर्मों से मुक्त होने के लिए साधक संवर की साधना से नवीन कर्मों के आगमन को रोक देता है और निर्जरा की साधना से पूर्व संचित कर्मों को धीरे-धीरे नष्ट कर देता है। समस्त कर्मों का सर्वतोभावेन नष्ट हो जाना ही मोक्ष एवं मुक्ति है। कर्म-मल-विमुक्त आत्मा ही जैन-दर्शन के अनुसार अन्त में परमात्मा हो जाता है।

कर्मवाद की उपयोगिता

प्रश्न होता है, कि आखिर जीवन में कर्मवाद की उपयोगिता क्या है ? कर्मवाद को क्यों स्वीकार किया जाए ? उक्त प्रश्नों का समाधान करते हुए कहा गया है कि—कर्मवाद मानव-जीवन में आशा एवं स्फूर्ति का संचार करता है। मानव को विकास-पथ पर बढ़ाने के लिए उत्साह प्रदान करता है। जीवन में अनेक प्रकार की उलझनों का सुलझाव प्रस्तुत करता है। कर्मवाद की सबसे बड़ी उपयोगिता यही है, कि वह मानव-आत्मा को दीनता एवं हीनता के गहन गह्वर से निकाल कर विकास के चरम शिखर पर पहुँचने की प्रबल प्रेरणा करता है। जब मानव-जीवन हताश और निराश हो जाता

है, अपने चारो ओर उसे अन्धकार ही अन्धकार दृष्टिगोचर होता है, जब कि गन्तव्य मार्ग का परिज्ञान भी विलुप्त हो जाता है,उस समय उस विह्वल आत्मा को कर्मवाद धैर्य और शान्ति प्रदान करता है। वह कहता है, कि मानव यह सब तूने स्वय ने किया है और जो कुछ किया है, उसका फल भी तुझे स्वय को भोगना है। कभी यह हो नही सकता है, कर्म तू स्वय करे और उसका फल भोगने वाला कोई दूसरा आए। जब मनुष्य अपने दुःख और कष्ट मे स्वय अपने को कारण मान लेता है, तब उस कर्म के फल भोगने की शक्ति भी उसमे प्रकट हो जाती है। इस प्रकार कर्मवाद पर पूर्ण विश्वास हो जाने के बाद जीवन मे से निराशा, तमिस्रा और आत्म-दीनता दूर हो जाती है। उसके लिए जीवन भोग-भूमि न रहकर कर्त्तव्य-भूमि बन जाता है। जीवन मे आने वाले सुख एव दुःख के झझावातो से उसका मन प्रकम्पित नही होता। कर्मवाद हमे यह बताता है, कि आत्मा को सुख दुःख की गलियो मे घुमाने वाला मनुष्य का कर्म ही है और यह कर्म मनुष्य के ही अतीत कर्मों का अवश्य-भावी परिणाम है। हमारी वर्तमान अवस्था जैसी और जो कुछ भी है, वह किसी दूसरे के द्वारा हम पर लादी नही गई है, बल्कि हम स्वय उसके निर्माता हैं। मानव-जीवन मे जो कुछ भी सुख एव दुःख की अवस्थाएँ आती हैं, उनका बनाने वाला कोई अन्य नही, स्वय मनुष्य ही है। अतएव जीवन मे जो उत्थान और पतन आता है, जो विकास और ह्रास आता है तथा जो सुख और दुःख आता है, उस सबका दायित्व हम पर है, किसी और दूसरे पर नही। एक दार्शनिक कहता है—

"I am the master of my fate
I am the captain of my soul"

मैं स्वय अपने भाग्य का निर्माता हूँ। मैं स्वय अपनी आत्मा का अधिनायक एव अधिनेता हूँ। मेरी इच्छा के विरुद्ध मुझे कोई किसी अन्य मार्ग पर नही चला सकता। मेरे मन का उत्थान ही मेरा उत्थान है। मेरे मन का पतन ही मेरा पतन है। मुझे न कोई उठाने वाला है और न गिराने वाला। मैं स्वय ही अपनी शक्ति से उठता हूँ और स्वय ही अपनी शक्ति के ह्रास से गिरता भी हूँ। अपने जीवन मे मनुष्य जो कुछ, जैसा और जितना भी पाता है, वह सब कुछ उसकी बोई हुई खेती का अच्छा या बुरा फल है। अतः जीवन मे हताश, निराश, दीन और हीन बनने की आवश्यकता ही नही।

कर्मवाद और पुरुषार्थवाद

एक प्रश्न किया जा सकता है, कि जब आत्मा अपने पूर्वकृत कर्मों का फल

भोगता है और फल भोगे बिना छुटकारा सम्भव नहीं है तब सुख-प्राप्ति के लिए और दुःख-निवृत्ति के लिए किसी भी प्रकार का प्रयत्न करना व्यर्थ ही है ? भाग्य में जो कुछ लिखा है, वह होकर ही रहेगा वह कभी टल नहीं सकता फिर किसी भी प्रकार की साधना करने का अर्थ ही क्या रहेगा ? क्या कर्मवाद का यह मन्तव्य आत्मा को पुरुषार्थ से विमुख नहीं करता है ? इसके समाधान में कहा जाता है कि—व्यवहार-दृष्टि से यह सत्य है कि अच्छा या बुरा कर्म कभी नष्ट नहीं होता। यह भी सत्य है कि प्रत्येक कर्म अपना फल अवश्य ही देता है। जो तीर हाथ से निकल चुका है वह वापिस लौटकर हाथ में नहीं आएगा। परन्तु निश्चय-दृष्टि से जिस प्रकार सामने से वेग के साथ आता हुआ दूसरा तीर पहले वाले से टकराकर उसके वेग को रोक देता है या उसकी दिशा को ही बदल देता है, ठीक उसी प्रकार कर्म भी शुभ एवं अशुभ परिणामों से कम और अधिक शक्ति वाले हो जाते हैं, दूसरे रूप में परिवर्तित हो जाते हैं और कभी-कभी निष्फल भी हो जाते हैं। जैन-दर्शन में कर्म की विविध अवस्थाओं का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। जैन दर्शन के अनुसार कर्म की उन विविध अवस्थाओं में एक निकाचित अवस्था ही ऐसी है, जिसमें कृत कर्म का फल अवश्य ही प्राप्त होता है। जैन-दर्शन के कर्मवाद का मन्तव्य है, कि *आत्मा अपने प्रयत्न-विशेष से अन्य विभिन्न कार्मिक* अवस्थाओं में परिवर्तन कर सकता है। प्रकृति और प्रदेश स्थिति और अनुभाग में परिवर्तन कर सकता है एक कर्म को दूसरे कर्म के रूप में भी बदल सकता है। दीर्घ स्थिति वाले कर्म को ह्रस्व स्थिति में और तीव्र रस वाले कर्म को मन्द रस में बदल सकता है। वह बलिक कर्म को अल्प बलिक भी बना सकता है। जैन-दर्शन के कर्मवाद के अनुसार कुछ कर्मों का वेदन (फल) विपाक से न होकर प्रदेशों से ही हो जाता है। कर्मवाद के सम्बन्ध में उक्त कथन इस तथ्य को सिद्ध करता है, कि कर्मवाद आत्मा को पुरुषार्थ से विमुख नहीं करता बल्कि पुरुषार्थ के लिए और अधिक प्रेरित करता है। पुरुषार्थ और प्रयत्न करने पर भी जब फल की उपलब्धि न हो तब वहाँ कर्म की प्रबलता समझकर धैर्य रखना चाहिए और यह विचार करना चाहिए कि मेरा पुरुषार्थ कर्म की प्रबलता के कारण भले ही आज सफल न हुआ हो किन्तु कालान्तर में एवं जन्मान्तर में यह अवश्य ही सफल होगा। कभी-कभी जीवन में कुछ ऐसी विचित्र स्थिति आ जाती है कि मनुष्य किसी वस्तु की उपलब्धि के लिए प्रयत्न तो करता है किन्तु उसे उसमें सफलता नहीं मिलती। फलतः वह हताश और निराश होकर बैठ जाता है। किन्तु जीवन की यह स्थिति बड़ी ही विचित्र एवं विडम्बना पूर्ण है। क्योंकि वह मनुष्य यह विचार करता है, कि मेरा

पुरुषार्थ कुछ नही कर सकता, जो कुछ भाग्य मे लिखा है, वह होकर ही रहेगा। इस प्रकार की विषम स्थिति मे साधक को कर्मवाद के सन्दर्भ मे यह विचार करना चाहिए, कि आज मेरा जो कर्म मुझे अच्छा या बुरा फल दे रहा है, आखिर वह कर्म भी तो मैने अपने पुरुषार्थ से ही बना है। आज का पुरुषार्थ कल का कर्म बन जाता है। अत पुरुषार्थ का परित्याग करके अपने जीवन की बागडोर को भाग्यवाद के हाथो मे सौंपकर मनुष्य वीर्यहीन एव शक्तिहीन बन जाता है। मनुष्य के जीवन की इससे अधिक भयकर विडम्बना और विषमता क्या हो सकती है, कि वह एक चेतना-पुज होकर भी, अनन्त शक्ति का अधिनायक होकर भी जड कर्म के अधीन बन जाता है। पुरुषार्थवाद-मूलक कर्मवाद हमे उत्साहवर्धक प्रेरणा देता है, कि भाग्यवाद से भयभीत होने की आवश्यकता नही है, क्योंकि जब आपके इस भाग्य का निर्माण आपके अतीत काल के पुरुषार्थ मे हुआ है, तब आप यह विश्वास क्यों नही करते, कि भविष्य मे, मैं अपने पुरुषार्थ एव प्रयत्न से अपने भाग्य को बदल भी सकता हूँ, बुरे से अच्छा भी बना सकता हूँ। जैन-दर्शन के कर्मवाद मे मनुष्य अपने भाग्य की एव नियति-चक्र की कठपुतली मात्र नही है, इस आधार पर वह अपनी विवेक-शक्ति से तथा अपने पुरुषार्थ एव प्रयत्न से अपने कर्म को, अपने भाग्य को और अपने नियति-चक्र को वह जैसा चाहे वैसा बदलने की क्षमता, योग्यता और शक्ति रखता है। अत जैन-दर्शन के कर्मवाद मे पुरुषार्थवाद एव प्रयत्नवाद को पर्याप्त अवकाश है।

ईश्वर और कर्मवाद

ईश्वरवादी दर्शनो के अनुसार ईश्वर जीवो के कर्मों के अनुसार ही उनके सुख-दु ख की व्यवस्था करता है। यह नही, कि अपने मन से ही वह किसी को मूर्ख बनाए और किसी को विद्वान। किसी को कुरूप बनाए और किसी को सुन्दर। किसी को राजा बनाए तो किसी को रक। किसी को रोगी बनाए तो किसी को स्वस्थ। किसी को विपन्न बनाए तो किसी को सम्पन्न। जैसे जीवन के भले-बुरे कर्म होते हैं, वैसी ही वह व्यवस्था कर देता है। किसी भी जीव के जीवन मे जब वह किसी भी प्रकार का परिवर्तन करता है, तब पहले वह उस जीव के कर्मों का लेखा-जोखा देख लेता है, उसी के अनुसार वह उसमे परिवर्तन कर सकता है। निश्चय ही यह उस सर्व शक्तिमान् ईश्वर के साथ एक खिलवाड है। एक तरफ उसे सर्वशक्तिमान् मानना और दूसरी ओर उसे स्वतन्त्र होकर अणुमात्र भी परिवर्तन का अधिकार न देना निश्चय ही ईश्वर की महती विडम्बना है। यहाँ पर इस कथन से यह सिद्ध होता है, कि कर्म की शक्ति

ईश्वर से भी अधिक बलवती है। ईश्वर को भी उसके अधीन होकर चलना पड़ता है। ईश्वर पर भी कर्मों का नियन्त्रण हो गया। दूसरी ओर कर्म भी स्वयं कुछ नहीं कर सकता। वह किसी चेतना शक्तिशाली का सहारा लेकर ही अपना फल देता है, इस प्रकार कर्म ईश्वर के अधीन और ईश्वर कर्म के अधीन बन जाता है। इसकी अपेक्षा स्वयं कर्म में ही अपने फल देने की शक्ति क्यों न स्वीकार कर ली जाए जिससे ईश्वर का ईश्वरत्व भी सुरक्षित रहे और कर्मवाद में भी किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो। जैन-दर्शन के अनुसार कर्म स्वयं अपना फल देता है उसे फल देने के लिए किसी अन्य व्यक्ति एवं अन्य शक्ति की अपेक्षा नहीं रहती। कर्म स्वयं अपनी शक्ति से समय आने पर फल प्रदान कर देता है। ठीक उसी प्रकार जैसे भंग पीने पर वह स्वयं यथासमय अपना फल नशे के रूप में प्रदान करती है। नशा चढ़ने के लिए भंग किसी दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा और आवश्यकता नहीं समझती।

कर्मवाद और अध्यात्म शास्त्र

कर्मवाद और अध्यात्म-शास्त्र के विशाल एवं विराट भव्य भवन की आधार-शिला है। कर्मवाद हमें यह बतलाता है कि आत्मा किसी भी शक्तिशाली और रहस्य पूर्ण व्यक्ति की इच्छा के अधीन नहीं है। कर्मवाद हमें प्रेरणा देता है कि अपने संकल्प और विचार की पूर्ति के लिए किसी अन्य व्यक्ति के द्वार खटखटाने की आवश्यकता नहीं है आपको जो कुछ पाना है वह आपके अन्दर से उपलब्ध होगा कहीं बाहर से नहीं। इस विशाल विश्व में कौन किसको क्या दे सकता है? भीख माँगने से जीवन का कभी उत्थान नहीं हो सकता। किसी की दया एवं करुणा पर क्या कभी किसी का उत्थान एवं विकास हुआ है? कर्मवाद कहता है, कि अपने पापों का नाश करने के लिए एवं अपने उत्थान के लिए हमें किसी शक्ति के आगे दया की भीख माँगने की आवश्यकता नहीं है और न किसी के आगे रोने तथा गिड़गिड़ाने की ही आवश्यकता है। कर्मवाद का यह भी मन्तव्य है कि संसार की समस्त आत्माएँ अपने मूल स्वरूप से एक समान हैं उनमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। फिर भी इस दृश्यमान जगत में जो कुछ विभेद नजर आता है वह सब कर्मकृत है। जैन-दर्शन के कर्मवाद के अनुसार जो आत्मा विकास की चरम सीमा पर पहुँच जाता है वह परमात्मा बन जाता है। आत्मा की शक्ति कर्मों से आवृत होने के कारण अविकसित रहती है और आत्म-बल द्वारा कर्मों के आवरण को दूर कर देने पर उस शक्ति का विकास किया जा सकता है। विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच कर आत्मा परमात्म-स्वरूप को उपलब्ध

कर लेता है। आत्मा किस प्रकार कर्मों से आवृत होता है और वह किस प्रकार उससे विमुक्त होता है, यह सब कुछ आपको कर्म-शास्त्र के गम्भीर अध्ययन से परिज्ञात हो सकता है।

व्यवहार मे कर्मवाद

मानव-जीवन के दैनिक व्यवहार मे कर्मवाद कितना उपयोगी है, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। कर्म-शास्त्र के पण्डितो ने अपने अपने युग मे इस समस्या पर विचार विमर्श किया है। हम अपने दैनिक व्यवहार मे प्रतिदिन देखते हैं एव अनुभव करते हैं, कि जीवन रूप गगन मे कभी सुख के सुहावने बादल आते हैं और कभी दु ख की घनघोर काली घटाएँ छा जाती हैं। प्रतीत होता है, कि यह जीवन विघ्न, बाधा, दु ख और विविध प्रकार के क्लेशो से भरा पडा है। इनके आने पर हम घवरा जाते हैं और हमारी बुद्धि अस्थिर हो जाती है। मानव-जीवन की वह घडी कितनी विकट होती है, जब कि एक ओर मनुष्य को उसकी वाहरी प्रतिकूल परिस्थिति परेशान करती है और दूसरी ओर इसके हृदय की व्याकुलता वढ जाती है। इस प्रकार की स्थिति मे ज्ञानी एव पण्डितजन भी अपने वास्तविक मार्ग से भटक जाते है। हताश एव निराश होकर वे अपने दु ख,कष्ट एव क्लेश के लिए दूसरे को कोसने लगते हैं, उसको जो केवल बाह्य निमित्त है। मूल उपादान को भूल कर उनकी दृष्टि बाह्य निमित्त पर जा पहुँचती है। इस प्रकार के विशेष प्रसग पर वस्तुत कर्म-शास्त्र ही हमारे गन्तव्य पथ को आलोकित कर सकता है, और पथ-च्युत आत्मा को पुन सन्मार्ग पर ला सकता है। कर्म-शास्त्र वतलाता है, कि आत्मा अपने भाग्य का स्वय निर्माता है। सुख और दु ख का मूल कारण अपना कर्म ही है। वृक्ष का मूल कारण जैसे बीज है, वैसे ही मनुष्य के भौतिक जीवन का कारण इसका अपना कर्म ही होता है। सुख दु ख के इस कार्य-कारण भाव को समझाकर कर्मवाद मनुष्य को आकुलता एव व्याकुलता के गहन गर्त से निकाल कर जीवन के विकास की ओर चलने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार कर्मवाद आत्मा को निराशा के झझावातो से वचाता है, दु ख एव क्लेश सहने की शक्ति देता है और सकट के समय मे भी बुद्धि को स्थिर रखने का दिव्य सदेश देता है। कर्मवाद मे विश्वास रखने वाला व्यक्ति यह विचार करता है, कि जीवन मे जो अनुकूलता एव प्रतिकूलता आती है उसका उत्पन्न करने वाला मैं स्वय हूँ। फलत उसका अनुकूल एव प्रतिकूल फल भी मुझे ही भोगना है। यह दष्टि जीवन को शान्त, सम्पन्न एव आनन्दमय वना देती है।

●

भारतीय दर्शन की समन्वय-परम्परा

दर्शन-शास्त्र विश्व की सम्पूर्ण सत्ता के रहस्योद्घाटन की अपनी एक धारणा बनाकर चलता है। दर्शन-शास्त्र का उद्देश्य है विश्व के स्वरूप को समझना। इस विश्व में चित् और अचित् सत्ता का स्वरूप क्या है? उक्त सत्ताओं का जीवन और जगत पर क्या प्रभाव पड़ता है? उक्त प्रश्न पर अनुसन्धान करना ही दर्शन-शास्त्र का एकमात्र लक्ष्य और उद्देश्य है। भारत के समग्र दर्शनों का मुख्य ध्येय बिन्दु है—आत्मा और उसके स्वरूप का प्रतिपादन। चेतन और परम चेतन के स्वरूप को जितनी समग्रता के साथ और जितनी व्यापकता के साथ भारतीय दर्शन ने समझने का सफल प्रयास किया है उतना विश्व के अन्य किसी दर्शन ने नहीं। यद्यपि मैं इस तथ्य को स्वीकार करता हूँ कि यूनान के दार्शनिकों ने भी आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन किया है तथापि वह उतना स्पष्ट और विशद प्रतिपादन नहीं है जितना भारतीय दर्शनों का। प्रतिपादन शैली यूनान के दर्शन की सुन्दर होने पर भी उसमें चेतन और परमचेतन के स्वरूप का अनुसन्धान गम्भीर और मौलिक नहीं हो पाया है। यूनान का दर्शन तो आत्मा का दर्शन न होकर, केवल प्रकृति का दर्शन है। भारतीय दर्शन में प्रकृति के स्वरूप का प्रतिपादन कम है और आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन ही अधिक है। वह प्रकृति के स्वरूप का

प्रतिपादन भी एक प्रकार से चैतन्यस्वरूप के प्रतिपादन के लिए ही है। भारतीय दर्शन जड और चेतन दोनो के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता है और साथ मे वह यह भी वतलाने का प्रयत्न करता है, कि मानव-जीवन का प्रयोजन और मूल्य क्या है। भारतीय दर्शन का अधिक झुकाव आत्मा की ओर होने पर भी, वह जीवन-जगत की उपेक्षा नही करता। मेरे विचार मे भारतीय दर्शन जीवन और अनुभव की एक समीक्षा है। दर्शन का आविर्भाव विचार और तर्क के आधार पर होता है। दर्शन तर्क-निष्ठ विचार के द्वारा सत्ता और परम सत्ता के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता है और फिर वह उसकी यथार्थता पर आस्था रखने के लिए प्रेरणा देता है। इस प्रकार भारतीय दर्शन मे तर्क और श्रद्धा का सुन्दर समन्वय उपलब्ध होता है। पश्चिमी दर्शन मे बौद्धिक और सैद्धान्तिक दर्शन की ही प्रधानता रहती है। पश्चिमी दर्शन स्वतन्त्र चिन्तन पर आधारित है और आप्त प्रमाण की वह घोर उपेक्षा करता है। इसके विपरीत भारतीय दर्शन आध्यात्मिक चिन्तन से प्रेरणा पाता है। भारतीय दशन एक आध्यात्मिक खोज है। वस्तुत भारतीय दर्शन जो चेतन और परम चेतन के स्वरूप की खोज करता है, उसके पीछे एकमात्र उद्देश्य यही है, कि मानव-जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करना। एक बात और है, भारत मे दर्शन और धर्म सहचर और सहगामी रहे हैं। धर्म और दर्शन मे यहाँ पर न किसी प्रकार का विरोध है और न उन्हें एक दूसरे से अलग रखने का ही प्रयत्न किया गया है। दर्शन सत्ता की मीमासा का है और उसके स्वरूप को तर्क और विचार से पकडता है, जिससे कि मोक्ष की प्राप्ति होती है। यही कारण है, कि भारतीय दर्शन एक बौद्धिक विलास नही है। बल्कि एक आध्यात्मिक खोज है। धर्म क्या है? वह अध्यात्म सत्य को अधिगत करने का एक व्यावहारिक उपाय है। भारत मे दर्शन इतना व्यापक है, कि भारत के प्रत्येक धर्म की शाखा ने अपना एक दार्शनिक आधार तैयार किया है। पाश्चात्य Philosophy शब्द और पूर्वी दर्शन शब्द की परस्पर मे तुलना नही की जा सकती। Philosophy शब्द का अर्थ होता है—ज्ञान का प्रेम, जब कि दर्शन का अर्थ है—सत्य का साक्षात्कार करना। दर्शन का अर्थ है—दृष्टि। दर्शनशास्त्र सम्पूर्ण सत्ता का दर्शन है, फिर भले ही वह सत्ता चेतन हो अथवा अचेतन। भारतीय दर्शन का मूल आधार चिन्तन और अनुभव रहा है। विचार के साथ आचार की भी इसमे महिमा और गरिमा रही है।

आज के भाषण का मुख्य विषय है—भारतीय दर्शनो मे समन्वय-परम्परा। प्रश्न होता है, कि भारतीय दशनो मे विषमता कहाँ है? मुझे तो

कहीं पर भी भारतीय दर्शनों में विषमता दृष्टिगोचर नहीं होती है। बात यह है कि अनेकान्तवाद की दृष्टि से विचार करने पर हम सर्वत्र समन्वय और सामञ्जस्य ही दृष्टिगोचर होता है कहीं पर भी विरोध और विषमता नहीं मिलती। भारतीय दर्शनों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है उनका वर्गीकरण किसी भी पद्धति से क्यों न किया जाए, किन्तु उनका गम्भीर अध्ययन और चिन्तन करने से ज्ञात होता है कि एक चार्वाक दर्शन को छोड़कर, भारत के शेष समस्त दर्शनों का—जिसमें वैदिक दर्शन बौद्धदर्शन और जैन दर्शन की समग्र शाखाओं एवं उपशाखाओं का समावेश हो जाता है, उन सबका मूल ध्येय रहा है, आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन और मोक्ष की प्राप्ति। मत मैं भारतीय दर्शन को दो विभागों में विभाजित करता हूँ—भौतिकवादी और अध्यात्मवादी। एक चार्वाक दर्शन को छोड़कर भारत के अन्य सभी दर्शन अध्यात्मवादी हैं क्योंकि वे आत्मा की सत्ता मे विश्वास रखते हैं। आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में भले ही सब एक मत न हो किन्तु उसकी सत्ता से किसी को इन्कार नहीं है। क्षणिकवादी बौद्ध दर्शन भी आत्मा की सत्ता को स्वीकार करता है। जैन दर्शन भी आत्मा को अमर, अजर और एक शाश्वत तत्त्व स्वीकार करता है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा का न कभी जन्म हुआ है और न कभी उसका मरण ही होता है। न्याय और वैशेषिक दर्शन आत्मा की अमरता में विश्वास रखते हैं, किन्तु आत्मा को वे कूटस्थ नित्य और विभु मानते हैं। सांख्यदर्शन और योग दर्शन चेतन को सत्ता को स्वीकार करते हैं, उसे नित्य और विभु मानते हैं, मीमांसा दर्शन भी आत्मा की अमरता को स्वीकार करता है। वेदान्त दर्शन में तो आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन अद्वैत की चरम सीमा पर पहुँच गया है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह समग्र सृष्टि ब्रह्ममय है। कहीं पर भी ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं। जैन दर्शन सांख्य दर्शन द्वैतवादी है। द्वैतवादी का अर्थ है—जड़ और चेतन प्रकृति और पुरुष तथा जीव और अजीव दो तत्त्वों को स्वीकार करने वाला दर्शन। इस प्रकार एक चार्वाक को छोड़कर भारत के शेष सभी अध्यात्मवादी दर्शनों में आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न होते हुए भी उसकी नित्यता और अमरता पर सभी की आस्था है।

भारतीय दर्शन के अनुसार यह एक सिद्धान्त है, कि जो आत्मा की सत्ता को स्वीकार करता है, उसके लिए यह आवश्यक है, कि वह कर्म की सत्ता को भी स्वीकार करे। चार्वाक को छोड़कर शेष सभी भारतीय दर्शन कर्म और उसके फल को स्वीकार करते हैं। इसका अर्थ यह है, कि शुभ कर्म का फल शुभ होता है और अशुभ कर्म का फल अशुभ होता है, शुभ कर्म से पुण्य

और अशुभ कर्म से पाप होता है। जीव जैसा कर्म करता है, उसी के अनुसार उसका जीवन अच्छा अथवा बुरा बनता रहता है। कर्म के अनुसार ही हम सुख और दुःख का अनुभव करते हैं, किन्तु यह निश्चित है, कि जो कर्म का कर्ता होता है, वही कर्म-फल का भोक्ता भी होता है। भारत के सभी अध्यात्मवादी दर्शन कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। जैन दर्शन ने कर्म के सिद्धान्त की जो व्याख्या प्रस्तुत की है, वह अन्य सभी दर्शनों से स्पष्ट और विशद है। आज भी कर्मवाद के सम्बन्ध मे जैनो के सख्याबद्ध ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। अध्यात्मवादी दर्शन को कर्मवादी होना आवश्यक ही नही, परमावश्यक भी है। प्रश्न यह है, कि यह कर्म कहाँ से अलग आता है, और क्यो आता है ? कर्म एक प्रकार का पुद्गल ही है, यह आत्मा मे एक विजातीय तत्व हैं। राग और द्वेष के कारण आत्मा कर्मों से बद्ध हो जाता है। माया, अविद्या और अज्ञान से आत्मा का विजातीय तत्त्व के साथ जो सयोग हो जाता है, यही आत्मा की बद्ध दशा है। भारतीय दर्शन मे विवेक और सम्यक् ज्ञान को आत्मा से कर्मत्व को दूर करने का उपाय माना है। आत्मा ने यदि कर्म बांधा है, तो वह उससे विमुक्त भी हो सकता है। इसी आधार पर भारतीय दर्शनो मे कर्ममल को दूर करने के लिए अध्यात्म-साधना का विधान किया गया है।

भारतीय दर्शन की तीसरी विशेषता है, जन्मान्तरवाद अथवा पुनर्जन्म। जन्मान्तरवाद भी चार्वाक को छोड कर अन्य सभी दर्शनो का एक सामान्य सिद्धान्त है। यह कर्म के सिद्धान्त से फलित होता है। कर्मसिद्धान्त कहता है, कि शुभ कर्मों का फल शुभ मिलता है और अशुभ कर्मों का फल अशुभ। परन्तु सभी कर्मों का फल इसी जीवन मे नही मिल सकता। इसलिए कर्म-फल को भोगने के लिए दूसरे जीवन की आवश्यकता है। यह ससार जन्म और मरण की एक अनादि शृङ्खला है। इसका कारण मिथ्याज्ञान और अविद्या है। जब तत्वज्ञान से अथवा यथार्थ बोध से पूर्वबद्ध कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है, तब इस ससार का भी अन्त हो जाता है। ससार बध है और बध का नाश ही मोक्ष है, बध का कारण अज्ञान है और मोक्ष का कारण तत्त्वज्ञान है। जब तक आत्मा अपने पूर्वकृत कर्मों को भोग नही लेगा, तब तक जन्म और मरण का चक्र कभी परिसमाप्त नही होगा, यही जन्मान्तरवाद है।

भारतीय दर्शनो की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है—मोक्ष एव मुक्ति। भारतीय दर्शनो का लक्ष्य यह रहा है, कि यह मोक्ष, मुक्ति और निर्वाण के लिए साधक को निरन्तर प्रेरित करते रहें। मोक्ष का सिद्धान्त भारत के सभी अध्यात्मवादी दर्शनों को मान्य है। भौतिकवादी होने के कारण अकेला चार्वाक दर्शन ही इसको स्वीकार नही करता। भौतिकवादी चार्वाक जब इस

शरीर से भिन्न आत्मा की सत्ता को स्वीकार ही नहीं करता तब उसके विचार में मोक्ष का उपयोग और महत्त्व ही क्या रह जाता है ? बौद्ध दर्शन में आत्मा के मोक्ष को निर्वाण कहा गया है। निर्वाण का अर्थ है—सब दुःखों के आत्यन्तिक उच्छेद की अवस्था। जैन दर्शन में मोक्ष एवं मुक्ति और निर्वाण दोनों शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है। जैनदर्शन के अनुसार मोक्ष एवं मुक्ति का अर्थ है—आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था। मोक्ष-अवस्था में आत्मा स्व-स्वरूप में स्थिर रहता है, उसमें किसी भी प्रकार का विजातीय तत्त्व नहीं रहता। सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष के संयोग को संसार कहा गया है और प्रकृति तथा पुरुष के वियोग को मोक्ष कहा गया है। न्याय और वैशेषिक भी यह मानते हैं, कि तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है। वेदान्त दर्शन मुक्ति को स्वीकार करता ही है, उसके अनुसार जीव का ब्रह्म स्वरूप हो जाना ही मुक्ति है। इस प्रकार भारत के सभी अध्यात्मवादी दर्शन मोक्ष एवं मुक्ति का प्रतिपादन करते हैं। हम देखते हैं कि मोक्ष के स्वरूप में और उसके प्रतिपादन की प्रक्रिया में भिन्नता होने पर भी लक्ष्य सबका एक ही है और वह लक्ष्य है—बद्ध आत्मा को बन्धन से मुक्त करना।

भारतीय दर्शनों में एक बात और है, जो सभी अध्यात्मवादी दर्शनों को स्वीकृत है, वह है—अध्यात्म-साधना। साधना सबकी भिन्न-भिन्न होने पर भी उसका उद्देश्य और लक्ष्य प्रायः एक जैसा ही है। अध्यात्मवादी दर्शन के अनुसार इस साधना को जीवन का आचार-पक्ष कहा जाता है। जब तक विचार को आचार का रूप नहीं दिया जाएगा तब तक जीवन उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती। प्रत्येक अध्यात्मवादी दर्शन ने अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार अपने विचार को आचार का रूप देने का प्रयत्न किया है। भारत में एक भी अध्यात्मवादी दर्शन ऐसा नहीं है जिसके नाम पर कोई सम्प्रदाय स्थापित न हुआ हो। यह सम्प्रदाय क्या है ? प्रत्येक दर्शन का अपने विचार-पक्ष को आचार में साधित करने के लिए एक प्रयोग-भूमि। सम्प्रदाय उस-उस विचार की अभिव्यक्ति है, जो उसके द्रष्टाओं ने कभी साक्षात्कार किया था। यही कारण है, कि भारतीय दर्शन में विचार और आचार तथा धर्म और दर्शन साथ-साथ चलते हैं। भारतीय दर्शनों की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यही कि उनमें धर्म और दर्शन को समस्याओं में अधिक भेद नहीं किया गया है। भारत में धर्म शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थों में किया गया है। वस्तुतः भारत में धर्म और दर्शन दोनों एक ही लक्ष्य की पूर्ति करते हैं। भारत के दर्शनों में धर्म केवल विश्वासमात्र ही नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं और जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के

अनुरूप मानवी व्यवहार और आचार का एक क्रियात्मक सिद्धान्त है। यहाँ पर दर्शन के सिद्धान्तो का मूल्याकन जीवन की कसौटी पर किया गया है और धार्मिक सिद्धान्तो को बुद्धि की तुला पर तोला गया है। भारत के अध्यात्मवादी दर्शन की यह एक ऐसी विशेषता है, जो अतीतकाल के और वर्तमान काल के अन्य किसी देश के दर्शन मे नही है। धर्म और दर्शन परस्पर सम्बद्ध हैं। उनमे कही पर भी विरोध और विषमता दृष्टिगोचर नही होती, सर्वत्र समन्वय और सामञ्जस्य ही भारतीय धर्म और सस्कृति का एक मात्र आधार रहा है।

समन्वयवाद के आविष्कार करने वाले श्रमण भगवान महावीर हैं। भगवान महावीर के युग मे जितने भी उनके समकालीन अन्य दार्शनिक थे, वे सब एकान्तवादी परम्परा की स्थापना कर रहे थे। उस युग का भारतीय दर्शन दो भागो मे विभाजित था—एकान्त नित्यवादी और एकान्त अनित्यवादी, एकान्त भेदवादी और एकान्त अभेदवादी, एकान्त सद्‌वादी और एकान्त असद्‌वादी तथा एकान्त एकत्ववादी और एकान्त अनेकत्ववादी। सब अपने-अपने एकान्तवाद को पकड कर अपने पथ, सम्प्रदाय और परम्परा को स्थापित करने मे सलग्न थे। सब सत्य का अनुसधान कर रहे थे और सब सत्य की खोज कर रहे थे, किन्तु सबसे बडी भूल यह थी, कि उन्होने अपने एकाशी सत्य को ही सर्वांशी सत्य मान लिया था। भगवान् महावीर ने अनेकान्तवाद और स्याद्‌वाद के वैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार पर समग्र दर्शनो का विश्लेषण किया और कहा अपनी-अपनी दृष्टि से सभी दर्शन सत्य हैं, परन्तु सत्य का जो रूप उन्होने अधिगत किया है, वही सब कुछ नही है, उससे भिन्न भी सत्य की सत्ता शेष रह जाती है, जिसका निषेध करने के कारण वे एकान्तवादी बन गए हैं। उन्होने अपने अनेकान्त सिद्धान्त के द्वारा अपने युग के उन समस्त प्रश्नो को सुलझाया, जो आत्मा और परलोक आदि के सम्बन्ध मे किए जाते थे। उदाहरण के लिए आत्मा को ही लीजिए, बौद्ध दार्शनिक आत्मा को एकान्त क्षणिक एव अनित्य मान रहे थे। वेदान्तवादी दार्शनिक आत्मा को एकान्त नित्य और कूटस्थ मान रहे थे। भगवान् महावीर ने उन सबका समन्वय करते हुए कहा—पर्याय-दृष्टि से अनित्यवाद ठीक है और द्रव्य-दृष्टि से नित्यवाद ठीक है। आत्मा मे परिवर्तन होता है—इस सत्य से इन्कार नही किया जा सकता, परन्तु यह भी सत्य है कि परिवर्तनो मे रह कर भी और परिवर्तित होता हुआ भी आत्मा कभी अपने मूल चिर स्वरूप से सर्वथा नष्ट नही होगा। इसी प्रकार उन्होंने कर्मवाद, परलोकवाद और जन्मान्तरवाद के

सम्बन्ध में भी अपने अनेकान्तवादी दृष्टिकोण के आधार पर समन्वय करने का सफल प्रयास किया था। भगवान् महावीर के इस अनेकान्तवाद का प्रभाव अपने समकालीन बौद्ध दर्शन पर भी पड़ा और अपने युग के उपनिषदों पर भी पड़ा। उत्तर-काल के सभी आचार्यों ने किसी न किसी रूप में उनके इस उदार सिद्धान्त को स्वीकार किया ही था। यही कारण है, कि भारतीय दर्शनों में कुछ विचार भेद और साधना भेद होते हुए भी उद्देश्य और लक्ष्य में किसी प्रकार का विलक्षण विरोध नहीं है उसमें विरोध की अपेक्षा समन्वय ही अधिक है।

मैं आप से भारतीय दर्शनों की समन्वय परम्परा पर विचार कर रहा था। मैंने जो कुछ कहा है वह आधार-हीन नहीं है उसके पीछे एक ठोस आधार है। भारतीय दर्शन जीवन और जगत के साक्षात्कार का दर्शन है। भारतीय चिन्तकों ने कहा है कि मृत और दृष्ट दोनों में से मृत की अपेक्षा दृष्ट का ही अधिक महत्व है। दर्शन शब्द का मूल अर्थ ही सत्य का दर्शन है, साक्षात्कार है। अतः भारतीय दर्शन श्रोता की अपेक्षा द्रष्टा ही अधिक है। उसने जीवन सत्य को साक्षात्कार करने का प्रयत्न किया है और सफलता भी प्राप्त की है। भारतीय दर्शन जितना महत्व चिन्तन को देता है, उतना हो अधिक महत्व वह अनुभव को भी देता है। भारतीय दर्शनों का अन्तिम लक्ष्य जीवन को भौतिक धरातल से प्रारम्भ करके सत्य की उच्च चरम सीमा तक पहुँचाना है, जिसके आगे अन्य राह नहीं रहती भारतीय जीवन का लक्ष्य वर्तमान जीवन के बन्धनों से निकल कर दिव्य जीवन की ओर अग्रसर होने का है। भारतीय दर्शन के मूल में अध्यात्मवाद है और इसी कारण वह प्रत्येक वस्तु को अध्यात्मवादी तुला पर तोलता है। उसे अध्यात्मवादी कसौटी पर कसकर ही स्वीकार करना चाहता है। जीवन में जो कुछ असारभूत है, उसे वह स्वीकार करना नहीं चाहता फिर भले ही वह कितना ही सुन्दर और कितना ही अधिक मूल्यवान् क्यों न हो। इसी आधार पर भारतीय दर्शन जीवन और जगत को कसौटी पर कसता है और उसके खरे उतरने पर उसकी अध्यात्मवादी व्याख्या करके वह उसे जन-जीवन के लिए ग्राह्य बना देता है जिसे पाकर जनजीवन समृद्ध हो जाता है।

भारतीय दर्शन का उद्देश्य वर्तमान असन्तुष्ट जीवन से निकल कर इधर उधर भटकते रहना ही नहीं है, बल्कि उसकी वर्तमान व्याकुलता का लक्ष्य है, अनाकुलता प्राप्त करना। कुछ आलोचक भारतीय दर्शन पर दुःखवादी और निराशावादी होने का आरोप लगाते हैं, ये प्रवृत्ति पाश्चात्य दार्शनिकों में अधिक है और उनका अनुसरण करके कुछ भारतीय विद्वान भी उनके स्वर में अपना

स्वर मिला देते हैं। मेरे अपने विचार मे भारतीय दर्शन को निराशावादी और दु खवादी कहना सत्य से परे है। भारतीय दर्शन वर्तमान जीवन के दु ख और क्लेशो पर खड़ा होता अवश्य है, परन्तु वह उसे अन्तिम सत्य एव लक्ष्य नही मानता है। उसका एक मात्र लक्ष्य तो इस क्षण भगुर एव निरन्तर परिवर्तन-शील तथा प्रतिक्षण मरण के मुख मे जाने वाले ससार को अमृत प्रदान करना है। भारतीय दर्शन की यह विशेषता रही है, कि उसने क्षण भगुरता मे भी अमरता को देखा है। उसने अन्धकार मे भी प्रकाश की खोज की है और उसने उन्माद मे भी उन्मेष को पाने का निरन्तर प्रयास किया है। उपनिषद् का एक ऋषि अपने हृदय की वाणी को शब्दो मे कहता है—"**असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृत गमय**" प्रभो, मुझे असत्य से सत्य की ओर ले चलो। मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो, और मुझे मरण-शीलता से अमरता की ओर ले चलो। क्या आप इसे भारत का दु खवाद एव निराशावाद कहते हैं? मैं इसे जीवन का पलायनवाद कहने की भूल नही कर सकता। भारत के दर्शन-शास्त्र मे यदि कही पर दु ख निराशा और पलायनवाद के विचार मिलते भी हैं, तो वे इसलिए नही कि वह हमारे जीवन का लक्ष्य है, बल्कि वह इसलिए होता है, कि हम अपने इस वर्तमान जीवन की दीन-हीन अवस्था को छोडकर महानता, उज्ज्वलता और पवित्रता की ओर अग्रसर हो सकें। मूल मे भरतीय दर्शन निराशावादी नही हैं। दु खवाद को वह वर्तमान जीवन मे स्वीकार करके भी अनन्त काल तक दु खी रहने मे विश्वास नही करता। वर्तमान जीवन में मृत्यु सत्य है, किन्तु वह कहता है, कि मृत्यु शाश्वत नही है, यदि साधक के हृदय मे यह भावना जम जाए, कि मैं आज मरणशील अवश्य हूँ, किन्तु सदा मरणशील नही रहूँगा, तो इसे आप निराशावाद नही कह सकते। यह तो उस निराशावाद को आशावाद मे परिणत करने वाला एक अमर सकल्प है। भारतीय दर्शन प्रारम्भ मे भले ही स्थूलदर्शी प्रतीत होता हो, किन्तु अन्त मे वह सूक्ष्मदर्शी बन जाता है। स्थूलदर्शी से सूक्ष्मदर्शी बनना और और सूक्ष्मदर्शी से सर्वदर्शी बनना ही उसके जीवन का लक्ष्य है। मैं आप से यह कह रहा था, कि हमारे दर्शन, हमारे धर्म और हमारी सस्कृति के सम्बन्ध मे जो कुछ विदेशी विद्वानो ने कहा है, उसे आँख मूँद कर स्वीकार करने की आवश्यकता नही है। आप अपनी बुद्धि की तुला पर तोल कर ही उसे ग्रहण करने का अथवा छोडने का प्रयत्न करें, अन्यथा बहुत सा अन्ध-विश्वास आप ग्रहण कर लेंगे।

प्राचीन काल मे भारतीय दर्शन उदार और विशाल दृष्टिकोण का रहा है, क्योंकि वह सत्य का अनुसधान करने के लिए चला था। सत्य-शोधक के लिए

आवश्यक है कि वह अपने दृष्टिकोण को व्यापक और विशाल रखे। जहाँ भी सत्य हो उसे ग्रहण करने की भावना रखे और जो कुछ असत्य है, उसे छोड़ने का साहस भी उसमें होना चाहिए। सत्य के उपासक के लिए किसी के मत का खण्डन करना आवश्यक नहीं है खण्डन और मण्डन दोनों ही सत्य से दूर रहने वाले बौद्धिक द्वन्द्व हैं। दूसरे के खण्डन करने के लिए अपने मण्डन की आवश्यकता रहती है और फिर अपने मण्डन के लिए दूसरे का खण्डन आवश्यक हो जाता है। सत्य की उपलब्धि से खण्डन का किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं है, खण्डन में दूसरे के प्रति घृणा और उपेक्षा का भाव रहता है। मैं इस बात को चुनौती के साथ कह सकता हूँ कि सत्य को पाने का पथ खण्डन और मण्डन से अति दूर है। दुर्भाग्य है कि मध्यकाल में आकर भारतीय दर्शन में खण्डन-मण्डन की परम्परा चल पड़ी अपना मण्डन करना और दूसरों का खण्डन करना यही एक मात्र उसका लक्ष्य बन गया था। प्रारम्भ में खण्डन दूसरों का किया जाता था किन्तु आगे चल कर यह खण्डन की परम्परा सर्वग्रासी बन गई और एक ही पंथ और एक ही परम्परा के लोग भी परस्पर एक दूसरे का खण्डन करने लगे। शंकर के अद्वैत का खण्डन किया मध्व ने और मध्व के द्वैतवाद का खण्डन किया शंकर के शिष्यों ने। शंकर मत का रामानुज ने खण्डन किया और रामानुज मत का शंकर मत ने खण्डन किया। मीमांसक ने नैयायिक का खण्डन किया और नैयायिक ने मीमांसक का खण्डन किया। इस प्रकार जिस वैदिक परम्परा ने जैन और बौद्ध के विरुद्ध मोर्चा खड़ा किया था वे आपस में ही लड़ने लगे। बौद्धों में भी हीनयान और महायान को लेकर एक भयंकर खण्डन-मण्डन हुआ। महायान ने हीनयान को मिटा देना चाहा तो हीनयान ने भी महायान को कुचल देने का संकल्प किया। बुद्ध के भक्त वैदिक और जैनों से लड़ते-लड़ते आपस में ही लड़ मरे। इसी प्रकार जिन के उपासक जैन भी जिनकी साधना का एक मात्र लक्ष्य है, राग और द्वेष से दूर होना वे भी राग और द्वेष के धर्मवाद में उलझ गए। श्वेताम्बर और दिगम्बरों के संघर्ष कम भयंकर नहीं थे। यह बड़ी लज्जा की बात थी कि अनेकान्त के मानने वाले परस्पर में ही लड़ पड़े और अपना मण्डन तथा दूसरों का खण्डन करने लगे। याद रखिए, यदि आप दूसरे के घर में आग लगाते हैं तो वह आग फैलकर आपके घर में भी आ सकती है। यह कभी मत समझिए कि हम दूसरों का खंडन करके अपना मण्डन कर सकेंगे। प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक पंथ कांच के महल में बैठा हुआ है इसलिए उसे दूसरे पर पत्थर मारकर अपने को सुरक्षित समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। खेद है कि भारत का अध्यात्मवादी दर्शन अपने अध्यात्मवाद को भूलकर पंथवादी बनकर लड़ने को तैयार हो

गया। इस खण्डन के युग को मैं भारतीय दर्शन का कलक समझता हूँ। भारतीय दर्शन का उज्ज्वल रूप खण्डन एव मण्डन मे नही है, वह है उसके समन्वय मे और वह है उसके अनेकान्तवादी दृष्टिकोण मे। समन्वय ही भारतीय दर्शन का वास्तविक स्वरूप है और यही उसका मूल आधार है।"

सस्कृत विश्व-विद्यालय, काशी दिनांक २९-१-१९६१

अहिंसा और अनेकान्त

अपना प्रवचन प्रारम्भ करते हुए कवि श्री जी ने कहा— आपके इस विद्यालय का नाम स्याद्वाद विद्यालय है। स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद जैन दर्शन और जैन-संस्कृति का एक आधारभूत सिद्धान्त है। जैन-संस्कृति मे जो एक प्राण निष्ठा है उसका मूलाधार स्याद्वाद और अनेकान्तवाद ही है। जिस प्रकार वेदान्त सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु अद्वैतवाद और मायावाद है, जिस प्रकार सांख्य दर्शन का मूल आधार प्रकृति और पुरुष का विवेकवाद है जिस प्रकार बौद्ध दर्शन का केन्द्र विज्ञानवाद और शून्यवाद है, उसी प्रकार जैन-संस्कृति और जैन दर्शन का मूल आधार केन्द्रबिन्दु और प्राण-शक्ति अहिंसावाद और अनेकान्तवाद ही है। अहिंसा के सम्बन्ध मे अन्य सम्प्रदायों ने भी बहुत कुछ लिखा है। अपने धर्म के अन्य सिद्धान्तों के समान अहिंसा के सिद्धान्त को भी वे स्वीकार करते है, किन्तु अहिंसा का जिस प्रकार सूक्ष्म विश्लेषण और गहन विवेचन श्रमण संस्कृति के साहित्य में उपलब्ध है, उतना अन्यत्र नही। श्रमण-संस्कृति के कण-कण मे अहिंसा की भावना परिव्याप्त है। श्रमण-संस्कृति की प्रत्येक क्रिया और प्रत्येक कर्म अहिंसामूलक होता है। खान-पान रहन-सहन आचार-विचार, तथा करना-कराना आदि सब में अहिंसा को मुख्यता और प्रधानता दी गई है। श्रमण-संस्कृति के अनुसार और विशेषतः जैन संस्कृति के अनुसार केवल धार्मिक

क्रियाओं में ही अहिंसा का विधान नहीं है, किन्तु जीवन के दैनिक व्यवहार में भी अहिंसा का सुन्दर विधान किया गया है। विचार में अहिंसा, वाणी में अहिंसा और व्यवहार में अहिंसा—सर्वत्र अहिंसा दृष्टिगोचर होती है। आचार्य समन्तभद्र के शब्दों में अहिंसा एक ऐसा ब्रह्म है, जो इस जगती के प्राण-प्राण में परिव्याप्त है। यह अहिंसारूप परब्रह्म यद्यपि सत्ता रूप में चेतनमात्र में रहता है, किन्तु इसकी जितनी सुन्दर अभिव्यक्ति और विकास मानव-जीवन में हो सका है, उतना अन्यत्र नहीं हो पाया है। जैन संस्कृति के पास यदि अहिंसा है, तो सब कुछ है, यदि वह अहिंसा का परित्याग कर देती है, तो उसके पास कुछ भी शेष नहीं बचेगा। आज के इस अणु-युग में सांस लेने वाली मानव-जाति के लिए अहिंसा विशेष उपयोगी है। अहिंसा के सम्बन्ध में युग-युगान्तरों से जो प्रयोग किए गए हैं, उनसे यह प्रमाणित होता है, कि यदि विश्व का कोई सार्वभौमिक धर्म बन सकता है, तो वह अहिंसा ही है। अहिंसा की आवश्यकता किस को नहीं है? व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और समग्र विश्व इन सबको अहिंसा की नितान्त आवश्यकता है। अहिंसा के अभाव में न व्यक्ति जीवित रह सकता है, न समाज विकास कर सकता है, न राष्ट्र उठ सकता है और न विश्व ही अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण रख सकता है। राष्ट्रपिता गांधीजी ने राजनीति के क्षेत्र में अहिंसा का प्रयोग करके विश्व को एक नयी दिशा का बोध पाठ दिया है। निश्चय ही आज के इस अणु युग में अणु-शक्ति की भयंकरता से सत्रस्त समग्र मानव-परिवार की सुरक्षा के लिए अहिंसा की जितनी आवश्यकता आज है, उतनी पहले कभी नहीं रही। सर्वग्रासी विनाश से बचने के लिए आज के युग में अहिंसा की नितान्त आवश्यकता है। परन्तु उस अहिंसा की जो जीवन में बोल सके, जीवन में झांक सके और जीवन में चल सके, उस अहिंसा की नहीं, जो किसी भी सम्प्रदाय विशेष के पोथी-पन्नों में बन्द पड़ी हो। अहिंसा मानव-जीवन के लिए एक मंगलमय वरदान है। वह जीवन के प्राण-प्राण में रहने वाला एक अमर तत्व है। अहिंसा वाद-विवाद का नहीं, आचरण का सिद्धान्त है। यह तर्क का नहीं, व्यवहार का सिद्धान्त है। अहिंसा की आराधना आत्मा की आराधना है।

अनेकान्त क्या है? वस्तुतः विचारात्मक अहिंसा ही अनेकान्त है। बौद्धिक अहिंसा ही, अनेकान्त है। उस अनेकान्त दृष्टि को जिस भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है, वही स्याद्वाद है। अनेकान्त दृष्टि है, और स्याद्वाद उस दृष्टि की अभिव्यक्ति की पद्धति है। विचार के क्षेत्र में अनेकान्त इतना व्यापक है, कि विश्व के समग्र दर्शनों का इसमें समावेश हो जाता है। क्योंकि जितने वचन-व्यवहार हैं, उतने ही नय हैं, सम्यक् नयों का समूह ही वस्तुतः अने-

कान्त है। अनेकान्त का अर्थ है—जिसमें किसी एक वस्तु का धर्म विशेष का अथवा एक पक्ष विशेष का आग्रह न हो। सामान्य भाषा में विचारों के अनाग्रह को ही वास्तव में अनेकान्त कहा जाता है। धर्म दर्शन और संस्कृति प्रत्येक क्षेत्र में अनेकान्त सिद्धान्त का साम्राज्य है। जीवन और जगत के जितने भी व्यवहार हैं, वे सब अनेकान्तमूलक ही हैं। अनेकान्त के बिना जीवन-जगत का व्यवहार नहीं चल सकता। जीवन के प्रत्येक पहलू को समझने के लिए अनेकान्त की आवश्यकता है। जैन धर्म समभाव की साधना का धर्म है। समभाव समता समदृष्टि और साम्यभावना—ये सब जैन धर्म के मूल तत्व हैं। श्रम शम और सम—ये तीन तत्व जैन विचार के मूल आधार हैं। मैंने अभी आपसे यह कहा था कि अनेकान्त और स्याद्वाद अहिंसा के बौद्धिक रूप हैं। विचार की समता पर जब भार दिया गया तब उसमें से अनेकान्त दृष्टि का जन्म हुआ। केवल अपनी दृष्टि को अपने विचार को ही पूर्ण सत्य मान कर उस पर आग्रह रखना यह समता के लिए घातक भावना है। साम्य भावना ही अनेकान्त है। अनेकान्त एक दृष्टि है, एक दृष्टिकोण है, एक भावना है, एक विचार है और सोचने और समझने की एक निष्पक्ष पद्धति है। जब अनेकान्त वाणी का रूप लेता है भाषा का रूप लेता है तब वह स्याद्वाद बन जाता है, और जब वह आचार का रूप लेता है तब वह अहिंसा बन जाता है। अनेकान्त और स्याद्वाद में सबसे बड़ा अन्तर यह है, कि अनेकान्त विचार-प्रधान होता है और स्याद्वाद भाषा-प्रधान होता है। अतः दृष्टि जब तक विचार रूप है, तब तक वह अनेकान्त दृष्टि जब वाणी का चोला पहनती है तब वह स्याद्वाद बन जाती है। दृष्टि जब आचार का रूप लेती है, तब वह अहिंसा बन जाती है। इस प्रकार इस विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि अहिंसा और अनेकान्त दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर जो विक्रम की पाँचवी शती के भारत के एक महान् दार्शनिक थे उन्होंने अपने 'सन्मति तर्क' ग्रन्थ में अनेकान्तवाद को विश्व का गुरु कहा है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर का कहना है कि इस अनेकान्त के बिना लोक का व्यवहार नहीं चल सकता। मैं उस अनेकान्त को नमस्कार करता हूँ जो जन-जन के जीवन को आलोकित करने वाला गुरु है। अनेकान्तवाद केवल तर्क का सिद्धान्त ही नहीं है, यह एक अनुभव-मूलक सिद्धान्त है। आचार्य हरिभद्र ने अपने एक ग्रन्थ में अनेकान्तवाद के सम्बन्ध में कहा है कि— कदाग्रही व्यक्ति की जिस विषय में मति होती है उसी विषय में वह अपनी युक्ति (तर्क) को लगाता है। परन्तु एक निष्पक्ष व्यक्ति उस बात को स्वीकार करता है, जो युक्ति-सिद्ध होती है। अनेकान्त के व्याख्याकार आचार्यों में आचार्य सिद्धसेन ने

अपने 'सन्मति-तर्क' ग्रन्थ मे अनेकान्त की प्रौढ भाषा मे और तर्क-पद्धति से व्याख्या की है। आचार्य समन्तभद्र ने अपने आप्त मीमासा ग्रन्थ मे अनेकान्त की जो गम्भीर और गहन व्याख्या की है, वह अपने ढग की एक अनूठी है। आचार्य हरिभद्र ने अपने 'अनेकान्तवाद प्रवेश' और 'अनेकान्तजय-पताका' जैसे मूर्धन्य ग्रन्थो मे अनेकान्त का तर्कपूर्ण प्रतिपादन किया है। आचार्य अकलकदेव ने अपने 'सिद्धि विनिश्चय' ग्रन्थ में अनेकान्त का जो उज्ज्वल रूप प्रस्तुत किया है, वह अपने आप मे अद्भुत है। उपाध्याय यशोविजय ने नव्य न्याय की शैली मे अनेकान्त, स्याद्वाद, सप्तभगी और नयवाद पर अनेक ग्रन्थ लिखकर स्याद्वाद को सदा के लिए अजेय बना दिया है। इस प्रकार हमारे प्राचीन आचार्यों ने जिस अहिंसा और अनेकान्त को पल्लवित और विकसित किया, वह भगवान् महावीर की मूल वाणी मे बीज रूप मे पहले से ही सुरक्षित था। उक्त आचार्यों की विशेषता यही है, कि उन्होने अपने-अपने युग मे अहिंसा और अनेकान्त पर, तथा स्याद्वाद और सप्तभगी पर होने वाले आक्षेप और प्रहारो का तर्कसगत एव तर्कपूर्ण उत्तर दिया है। यही उनकी अपनी विशेषता है।

आप और हम अहिंसा एव अनेकान्त के गीत तो बहुत गाते हैं, किन्तु क्या कभी आपने यह समझने का प्रयत्न किया है, कि आपके व्यक्तिगत और आपके सामाजिक जीवन मे अहिंसा कितनी है और अनेकान्त कितना है ? कोई भी सिद्धान्त पोथी के पन्ने पर कितना ही अधिक विकसित और पल्लवित क्यो न हो गया हो, किन्तु जब तक जीवन की धरती पर उसका उपयोग और प्रयोग नही किया जाएगा, तब तक उससे कुछ भी लाभ नही है। जिस प्रकार अमृत के स्वरूप का प्रतिपादन करन से और उसके नाम की माला जपने मात्र से जीवन मे सजीवनी शक्ति नही आती है, वह तभी आ सकती है, जबकि अमृत का पान किया जाए, उसी प्रकार अहिंसा और अनेकान्त का नाम रटने से और उसकी विशद व्याख्या करने से जीवन मे स्फूर्ति और जागरण नही आ सकता, वह तभी आएगा, जबकि अहिंसा और अनेकान्त को जीवन की धरती पर उतार कर, जिन्दगी के हर मोर्चे पर उसका उपयोग और प्रयोग किया जाएगा। खेद की बात है, कि अनेकान्तवादी कहलाने वाले जैन भी अपने-अपने एकान्त को पकड कर बैठ गए हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बरो के सघर्ष, स्थानकवासी और तेरापथियो के झगडे, इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं, कि ये लोग केवल अनेकान्तवाद की कोरी बात करते हैं, किन्तु इनके जीवन मे अनेकान्त है नही। सिद्धसेन दिवाकर ने और समन्तभद्र ने अपने-अपने युग मे जिस अनेकान्तवाद के आधार पर विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायो का समन्वय किया था, आश्चर्य है, उसी परम्परा के अनुयायी अपना समाधान नही कर

सके। इससे अधिक उपहास्यता और विडम्बना अनेकान्त की अन्य क्या होगी? श्वेताम्बरों का दावा है, कि समग्र सत्य हमारे पास है और दिगम्बरों का दावा है कि समस्त तथ्य हमारे पास है। परन्तु मैं इसे एकान्तवाद कहता हूँ। एकान्तवाद फिर भले ही वह अपना हो या पराया हो वह कभी अनेकान्त नहीं बन सकता। सम्प्रदायवाद और पंथवाद का पोषण करने वाले व्यक्ति जब अनेकान्त की चर्चा करते हैं, तब मुझे बड़ी हँसी आती है। मैं सोचा करता हूँ, कि इन लोगों का अनेकान्तवाद केवल पोथी के पन्नों का अनेकान्तवाद है, वह जीवन का जीवन्त अनेकान्त नहीं है। आज हमें उस अहिंसा और उस अनेकान्त की आवश्यकता है, जो हमारे जीवन के कालुष्य और मालिन्य को दूर करके, हमारे जीवन को उज्ज्वल और पवित्र बना सके तथा जो हमारे इस वर्तमान जीवन को सरस सुन्दर और मधुर बना सके एवं समन्वय की भावना हमें अर्पित कर सके।

—स्याद्वाद विद्यालय काशी ६ २ १९६१

भारतीय संस्कृति में अहिंसा :

भारतीय सस्कृति मे कृषि का बडा महत्व और गौरव माना गया है। प्रारम्भ से ही भारत कृषि प्रधान देश है। आज भी भारत मे कृषि-कर्म करने वाले व्यक्तियो की सख्या अधिक है। कृषि अहिंसा की आधार-शिला है। मासाहार से विरत होने के लिए और सात्विक भोजन की स्थापना के लिए, कृषि का बडा ही महत्व है। मासाहार से बचने के लिए कृषि-कर्म से बढ़कर अन्य कोई साधन नही हो सकता। इसी आधार पर भारतीय सस्कृति मे कृषि को अहिंसा का देवता माना गया है। कृषि करने वाले व्यक्ति को वैदिक भाषा मे पृथ्वी-पुत्र कहा गया है। जैन परम्परा के अनुसार कृषि-कर्म के सर्वप्रथम उपदेष्टा भगवान् ऋषभदेव हैं। उन्होंने ही अपने युग के अबोध एव निष्क्रिय मानव को कृषि-कला की शिक्षा दी थी। उस युग की मानव-जाति के उद्धार के लिए कृषि-कर्म का उपदेश और शिक्षा आवश्यक ही नही, अनिवार्य थी। जैन-धर्म मे कृषि-कर्म को आर्य-कर्म कहा गया है। जैन-परम्परा के विख्यात श्रावको ने कृषि-कर्म स्वय किया था, इस दृष्टि से भी जैन-सस्कृति मे कृषि-कर्म का एक विशिष्ट स्थान है। जैन-सस्कृति के मूल प्रवर्तको ने कृषि को आर्य-कर्म कहा था, परन्तु मध्यकाल मे आकर कुछ व्यक्तियो ने इसे हिंसामय कर्म करार देकर त्याज्य समझा। जैन सस्कृति आरम्भ, समारम्भ और महारम्भ के परित्याग का उपदेश देती है, यह ठीक है, किन्तु हमें यह देखना होगा कि

मांसाहार जैसे महारम्भ से बचने के लिए, कृषि के अतिरिक्त अन्य साधन नहीं हो सकता। एक समय ऐसा आया कि कुछ विचारकों ने तत्कालीन जन-मानस में अहिंसा की एक धुँधली तस्वीर खड़ी कर दी। परिणामतः उन्होंने जिन्दगी के हर मोड़ पर पाप-ही-पाप देखना प्रारम्भ कर दिया। आरम्भ समारम्भ का परिमाण अच्छी बात है पर खेती में भी महापाप समझना और इसे छोड़ कर भाग खड़े होना यह जब प्रारम्भ हुआ तब कृषि का धन्धा हमारी नजरों में हेय हो गया। हमारा सामाजिक दृष्टिकोण यह बन गया कि कृषि का धन्धा निकृष्ट कोटि का है, अतः हेय है। कृषि द्वारा अन्न का उत्पादन हो इसके पीछे हमारा अहिंसा का दृष्टिकोण यह था कि मांसाहार की प्रवृत्ति लोगों में मन्द हो और वे कृषि की ओर आकृष्ट हों। अनेक प्रकार के फल और अनेक प्रकार की वनस्पति प्रकृति के द्वारा प्राप्त हो सकती है और हमारा सात्विक जीवन उस पर निर्भर हो सकता है। जब कृषि जैसे सात्विक कर्म को अपनाया जाएगा तभी मांसाहार जैसे भयंकर पाप से हम बच सकेंगे। मांसाहार छोड़ना यह हमारी सांस्कृतिक जीवन यात्रा का प्रारम्भिक उद्देश्य है और इस उद्देश्य की पूर्ति कृषि कर्म से ही हो सकती है। इसी आधार पर जैन संस्कृति में कृषि कर्म को अल्पारम्भ और आर्य-कर्म कहा गया है।

अभिप्राय यह है, कि अहिंसा की स्मृति जितनी हमारी आगे बढ़ी उसके साथ-साथ उसमें एक धुँधलापन भी आगे बढ़ता गया और हमारा उसमें जो मूल अभिप्राय था वह समय के साथ-साथ क्षीण होता चला गया। इसलिए आगे चलकर कुछ लोगों ने कृषि को महारम्भ स्वीकार कर लिया और जब उसे महारम्भ स्वीकार कर लिया तो उसे छोड़ने की बात भी लोगों के ध्यान में आने लगी। लोग अपनी बात सिद्ध करने के लिए आगम का आधार तलाश करने लगे परन्तु आगम में कहीं पर भी कृषि को महारम्भ नहीं कहा गया। क्योंकि आगम में जो महारम्भ का फल बताया है उसमें कहा गया है कि महारम्भ नरक में जाने का कारण बनता है। अब विचार कीजिए, कि जब कृषि को महारम्भ बताया गया तब उसकी फलश्रुति के अनुसार नरक में जाने की बात भी लोगों के सामने आई। लोगों ने विचार किया परिश्रम भी करें और फिर नरक में भी जाना पड़े तो इस प्रकार का गलत धन्धा क्यों करें? इस प्रकार के मिथ्या तर्कों से जनता के मानस को बदलने का प्रयत्न किया गया। परिणामतः जैनों ने कृषि-कर्म का परित्याग कर दिया। अन्यथा भारतीय संस्कृति और विशेषतः जैन संस्कृति में मूलतः अहिंसा का दृष्टिकोण लेकर चला था यह कृषि-कर्म।

मैंने आपसे भगवान् ऋषभदेव की बात कही थी। भगवान् ऋषभ

देव के युग मे कृषि-कर्म एक पवित्र कर्म समझा जाता था। उस युग के मानव-समाज मे यह एक बहुत बडी क्रान्ति थी। जब जन-जीवन मे नयी क्रान्ति आती है, और जब वह अनेक विघ्न बाधाओ से निकलकर प्रशस्त पथ पर आगे बढती है, तब जन-जीवन मे आनन्द और उल्लास छा जाता है। उस क्रान्ति का उल्लास और आनन्द होलिका के रूप मे हमारे सामने आया। प्रतिवर्ष वह हमारी परम्परा और सस्कृति का अग बन कर हमारे सामने आता रहता है, आज भी। इस शुभ अवसर पर हम एक दूसरे से मिल-जुल कर सामाजिक आनन्द का उपभोग करते हैं। होलिका पर्व पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब परस्पर मिलकर, आनन्द और उल्लास मनाते हैं। होलिका के पर्व के अन्दर किसी प्रकार का भेद-भाव न रहता था। यह हमारी मूल सस्कृति का पावन प्रतीक है। यह पर्व हर इन्सान को प्रेम का पाठ पढाकर, मानव-समाज मे परिकल्पित ऊँच-नीच के भाव को दूर करता है। वर्तमान समय मे इसमे कुछ विकृति अवश्य आ गई है। गन्दी गाली देना और गन्दी हरकत करना, इस पर्व के आवश्यक अग मान लिए गए हैं। परन्तु यथार्थ मे यह ठीक नही है। हम स्वय हँसें और दूसरो को हँसाएँ, यह तो ठीक है, पर हम दूसरो के साथ ऐसा मजाक करें, जो हमारी मूल सस्कृति और मूल परम्परा के विरुद्ध हो, उसका परित्याग करना ही आवश्यक है। जीवन मे विनोद अवश्य होना चाहिए, पर किसी प्रकार का विरोध नही। पर्व हम आज भी मनाते हैं, किन्तु आज हम केवल उसके शरीर की आराधना करते हैं, उसकी मूल आत्मा को आज हम भूल चुके हैं। आवश्यकता इस बात की है, कि हम पर्व के शरीर को नही, उसकी मूल आत्मा को पकडने का प्रयत्न करें, तभी सच्चे अर्थों मे जन-जीवन मे उल्लास और आनन्द प्रकट हो सकेगा। होली के पर्व की सार्थकता इसी मे है, कि हम सब मिलजुल कर आनन्द और उल्लास प्राप्त कर सकें।

दीपावली-पर्व भी भारत का एक प्रसिद्ध पर्व है। होलिका के समान दीपावली-पर्व भी हमारा एक सामाजिक एव राष्ट्रीय पर्व है। क्योकि दीपावली पर्व को भी समाज के सभी व्यक्ति बडे उल्लास के साथ मनाते हैं। दीपावली पर्व के मनाने वाले व्यक्तियो मे, किसी भी प्रकार का वर्ग-भेद और वर्ण-भेद नही माना जाता। दीपावली पर्व को मनाने मे हमारा मूल उद्देश्य क्या है? यह बहुत ही सुन्दर प्रश्न है, जो मुझसे पूछा गया है। प्रत्येक पर्व का जब विश्लेषण किया जाता है, तो उसका मूल स्वरूप उसमे से ही निकल आता है। दीपावली पर्व की पृष्ठभूमि को समझने के लिए, हमे प्राकृतिक दृष्टिकोण से भी इस पर विचार करना चाहिए। बात यह है कि वर्षाकाल मे अनेक प्रकार के विषैले प्राणी पैदा हो जाते हैं। वर्षाकाल मे प्रकृति मे जो नमी और सीलन

रहती है उससे जीवों की उत्पत्ति में अभिवृद्धि हो जाती है। काले-कजरारे बादलों से आकाश घिरा रहता है, जिससे कि सब ओर अन्धकार-सा छाया रहता है। वर्षा-काल में घर में बहुत सा कूड़ा-कचरा भी इकट्ठा हो जाता है। अतः घर की स्वच्छता और उज्ज्वलता नष्ट हो जाती है और हमारे चारों ओर एक गन्दा वातावरण फैल जाता है। निरन्तर वर्षा होते रहने के कारण बाहर में कीचड़ और अन्दर में गन्दगी फैल जाती है, तथा लगातार आकाश मेघाच्छन्न होने के कारण असंख्य तारकों की नयनाभिराम झिलमिल ज्योति भी दृष्टि गोचर नहीं होती। इस कीचड़ गन्दगी और अन्धकार से मानव-मन ऊब-ऊब जाता है। वर्षा काल की समाप्ति पर जब आकाश स्वच्छ हो जाता है और बाहर का कीचड़ सूख जाता है तब घर के अन्दर की गन्दगी को भी बाहर निकालने का प्रयत्न किया जाता है। शारदी पूर्णिमा के उजियाले में जब हम अनन्त नील गगन मे असंख्य तारों को जगमग करते देखते हैं और चन्द्र ज्योत्स्ना से समग्र विश्व को दुग्धस्नात जैसे उज्ज्वल रूप में देखते हैं तब मानव-मन उल्लास और आनन्द से भर जाता है। शरद पूर्णिमा से ही लोग अपने घरों की सफाई और पुताई शुरू कर देते हैं और तब यह समझा जाता है, कि अब दीपावली-पर्व निकट है और उसकी आराधना के लिए तैयारियाँ होने लगती हैं। उस समय मनुष्य अपने घर और बाहर सबको स्वच्छ और पावन बनाने का प्रयत्न करने लगता है। मनुष्य का उदास मन प्रसन्न हो उठता है, जब कि वह अपने घर के आँगन में दीपकों की माला को जगमग जगमग करते देखता है। दीपकों की इस ज्योतिर्मय माला से उसके घर का अन्धकार ही दूर नहीं होता बल्कि प्रांगण का अन्धकार भी दूर भाग जाता है। इस पर्व के दिन अन्दर और बाहर प्रकाश हो जाता है। इसी आधार पर इसको प्रकाश-पर्व कहा जाता है। अन्धकार मानव-मन को उल्लसित नहीं करता वह उसे उदास बनाता है पर प्रकाश का स्पर्श पाकर वह अन्धकार दूर भाग जाता है और मानव-जीवन का कण-कण आलोक से आलोकित हो उठता है। दीपावली-पर्व क्या था ? इसके पीछे हमारा सही दृष्टिकोण क्या था ? उसे आज हम भूल गए हैं। अन्दर और बाहर की स्वच्छता ही इस पर्व का मुख्य उद्देश्य था। गन्दगी हिंसा का प्रतीक है और स्वच्छता अहिंसा का प्रतीक। हम गन्दगी को दूर करके हिंसा को दूर करते हैं और स्वच्छता को लाकर हम अहिंसा की आराधना करते हैं। दीपावली पर्व की आराधना भी एक प्रकार से अहिंसा की आराधना है। प्रकाश की आराधना को भारतीय संस्कृति में बड़ा ही महत्वपूर्ण समझा गया है।

भारतीय साहित्य और सस्कृति मे प्रकाश की उपासना के वाद कमल को भी बडा गौरवपूर्ण स्थान मिला है। जीवन के प्रत्येक पहलू मे कमल आकर खडा हो गया है। मुख-कमल, कर-कमल, चरण-कमल और हृदय-कमल। भारतीय सस्कृति ने सम्पूर्ण मानव-शरीर को कमलमय वना दिया है। नेत्र को भी कमल कहा गया है। कमल भारतीय सस्कृति मे और भारतीय साहित्य मे इतना अधिक परिव्याप्त हो चुका है, कि उसे जीवन से अलग नही किया जा सकता। साहित्य, सस्कृति और जीवन मे कमल इतना व्यापक है, कि वह हमारे आध्यात्मिक दृष्टिकोण मे भी प्रवेश कर गया है। महाश्रमण महावीर ने अपने एक प्रवचन मे कहा है, कि अध्यात्म साधक को ससार मे इस प्रकार रहना चाहिए, जिस प्रकार सरोवर मे कमल रहता है। कमल जल मे रहता है, कीचड मे पैदा होता है, पर उस कीचड अथवा जल से वह लिप्त नही होता। ससार मे रहते हुए भी, ससार के सकल्पो और विकल्पो की माया से विमुक्त रहना, यही जीवन की सबसे बडी कला है। कमल के समान निर्लिप्त रहने वाला व्यक्ति, फिर भले ही वह कही पर भी क्यो न रहता हो, उसे किसी प्रकार का भय नही रहता। गीता मे श्रीकृष्ण ने भी यही बात कही है, कि अर्जुन ! तुम ससार मे उसी प्रकार अनासक्त रहो, जिस प्रकार जल मे कमल रहता है। इस प्रकार कमल हमारे जीवन मे इतना ओत-प्रोत हो चुका है, कि जीवन से उसे अलग नही किया जा सकता। भारतीय सस्कृति मे शरीर को भी कमल कहा गया है, और मानव-मन को भी कमल कहा गया है। हमारे प्राचीन साहित्य मे पद्मासन और कमलासन जैसे शब्दो का प्रयोग भी उपलब्ध होता है। जीवन मे कमल से वहुत कुछ प्रेरणा हमे प्राप्त होती है। यही कारण है, कि कमल हमारे जीवन मे इतना परिव्याप्त हो चुका है, कि उसे जीवन से अलग नही किया जा सका। जो व्यक्ति ससार मे कमल बन कर रहता है, उसे किसी प्रकार का परिताप नही रहता। कमल के आदश की उपासना करने वाला व्यक्ति भी कमल के समान ही स्वच्छ और पावन बन जाता है।

मैं आपसे यह कह चुका हूँ, कि प्रकाश और कमल भारतीय सस्कृति के दो मुख्य तत्व हैं। जीवन-पथ को आलोकित करने के लिए प्रकाश की नितान्त आवश्यकता रहती है। किन्तु जीवन को सुरभित वनाने के लिए, कमल की उससे भी कही अधिक बडी आवश्यकता रहती है। कमल के जीवन की सवसे वडी और सबसे मुख्य विशेपता है, मनोमोहक सुगन्ध। जिस कमल मे अथवा जिस कुसुम मे सुन्दर सुगन्ध नही होती, उसका जन-जीवन मे न कुछ महत्व होता है और न कुछ गौरव ही हो पाता है। कल्पना कीजिए, किसी फूल मे

रूप भी हो सौन्दर्य भी हो पर सुरभि न हो तो वह जन-मन के लिए ग्राह्य नहीं हो सकता। वस्तुतः वही जीवन धन्य है, जो प्रकाश के समान जगमग करता है और कुसुम के समान सुरभित रहता है।

भगवान महावीर ने 'स्थानांग सूत्र' में चार प्रकार के पुष्पों का वर्णन किया है—एक पुष्प वह है, जिसमें रूप एवं सौन्दर्य तो होता है, परन्तु सुरभि नहीं रहती। दूसरा पुष्प वह है, जिसमें सुरभि तो होती है, पर रूप और सौन्दय नहीं रहता। तीसरा पुष्प वह होता है, जिसमें अद्भुत रूप भी होता है और अद्भुत सुरभि भी रहती है। चौथे प्रकार का पुष्प वह है जिसमें न सौन्दर्य होता है और न सुरभि-सुगन्ध ही होती है। उदाहरण के लिए—हम टेसू के फूल को लें। उसमें रूप सौन्दर्य और आकर्षण तो रहता है, परन्तु उसमें सुगन्ध नहीं होती। बकुल-पुष्प को लीजिए, उसमें मादक सुगन्ध का भण्डार भरा रहता है। अपनी सुरभि और सुगन्ध से वह दूर-दूर के भ्रमरों को आकर्षित करता रहता है और दूरस्थ मनुष्य के मन को भी वह मुग्ध कर लेता है, किन्तु ज्यों ही मनुष्य उसके समीप पहुँचता है, उसके रूप को देखकर वह मुग्ध नहीं हो पाता। जपापुष्प को लीजिए, उसमें रूप और सौन्दर्य दोनों का समन्वय हो जाता है। गुलाब के फूल का रूप भी अद्भुत होता है वह देखने वाले के चित्त को आकर्षित करता है और साथ ही उसमें सुरभि और सुगन्ध भी अपरिमित होती है। चौथा पुष्प आक का है जिसमें न सुन्दरता का अधिवास है और न सुरभि का निवास। वह न देखने में सुन्दर लगता है और न सू घने में। इस प्रकार का पुष्प जन-मन को कभी ग्राह्य नहीं हो सकता।

इसी प्रकार भगवान महावीर ने मानव-समाज के मनुष्यों का चार भागों में वर्गीकरण किया है—एक मनुष्य वह है, जो श्रुत-सम्पन्न तो है, किन्तु शील सम्पन्न नहीं है। दूसरा मनुष्य वह है—जो शील-सम्पन्न है, किन्तु श्रुत-सम्पन्न नहीं है। तीसरा मनुष्य वह है—जो श्रुत-सम्पन्न भी है और शील-सम्पन्न भी है। चौथे प्रकार का मनुष्य वह है—जो न श्रुत-सम्पन्न है और न शील-सम्पन्न ही। मानव-समाज का यह वर्गीकरण मनोवैज्ञानिक आधार पर किया गया है। इसका रहस्य यही है कि मानव-समाज में वही मनुष्य सर्वश्रेष्ठ माना जाता है जो श्रुत सम्पन्न भी हो और शील-सम्पन्न भी हो। यदि उसके जीवन में इन दोनों तत्वों में से एक भी तत्व का अभाव रहता है तो वह जीवन आदर्श जीवन नहीं रहता। आदर्श जीवन वही है जिसमें श्रुत अर्थात् अध्ययन एवं ज्ञान भी हो और साथ ही शील अर्थात् सदाचार भी हो। श्रुत और शील के समन्वय से ही वस्तुतः मनुष्य का जीवन

सुखमय एव शान्तिमय बनता है। यदि मनुष्य के जीवन मे श्रुत का अर्थात् ज्ञान का प्रकाश तो हो, किन्तु उसमे शील की सुरभि न हो, तो वह जीवन, श्रेष्ठ जीवन नही कहा जा सकता। इसके विपरीत यदि किसी मनुष्य के जीवन मे शील तो हो, शील की सुरभि उसके जीवन मे महकती हो, किन्तु उसमे श्रुत एव ज्ञान का प्रकाश न हो, तब भी वह जीवन एक अधूरा जीवन कहलाता है, एक एकाङ्गी जीवन कहलाता है। जीवन एकाङ्गी नही होना चाहिए। भारतीय सस्कृति मे एकाङ्गी जीवन को आदर्श जीवन नही कहा गया है। अनेकाङ्गी जीवन ही वस्तुत सच्चा जीवन है। यह अनेकाङ्गता श्रुत और शील के समन्वय से ही आ सकती है। ज्ञान और क्रिया तथा विचार और आचार दोनो की परिपूर्णता ही जीवन की सम्पूर्णता है।

भारतीय सस्कृति मे विचार और आचार को तथा ज्ञान और क्रिया को जीवन-विकास के लिए आवश्यक तत्व माना गया है। दार्शनिक जगत मे एक प्रश्न प्रस्तुत किया जाता है, कि धर्म और दर्शन—इन दोनो मे से जीवन-विकास के लिए कौन सा तत्व परमावश्यक है। पाश्चात्य दर्शन मे जिसे Religion और Philosophy कहा जाता है, भारतीय परम्परा मे उसके लिए प्राय धर्म और दर्शन का प्रयोग किया जाता है। परन्तु मेरे अपने विचार मे धर्म शब्द का अर्थ—Religion से कही अधिक व्यापक एव गम्भीर है। इसी प्रकार दर्शन शब्द का अर्थ—Philosophy से कही अधिक व्यापक और गम्भीर है। पाश्चात्य सस्कृति मे धर्म की धारा अलग बहती रही और दर्शन की धारा अलग प्रवाहित होती रही। परन्तु भारतीय सस्कृति मे धर्म और दर्शन का यह अलगाव एव बिलगाव स्वीकृत नही है। भारत का धर्म दर्शन-विहीन नही हो सकता। और भारत का दर्शन, धर्म-विकल नही हो सकता। धर्म और दर्शन के लिए भारतीय सस्कृति मे बहुविध और बहुमुखी विचार किया गया है। मानव-जीवन को विकसित एव प्रगतिशील बनाने के लिए, श्रद्धा और तर्क दोनो के समान विकास की आवश्यकता है। श्रद्धा की उपेक्षा करके केवल तर्क के आधार पर भारतीय सस्कृति खडी नही रह सकती। और तर्क-विहीन श्रद्धा भी भारतीय सस्कृति को प्रेरणा प्रदान नही कर सकती। भारतीय सस्कृति के अनुसार श्रद्धा का पर्यवसान तर्क मे होता है और तर्क का पर्यवसान श्रद्धा मे होता है। यद्यपि धर्म का मुख्य आधार श्रद्धा है, और दर्शन का आधार तर्क है, किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी भारतीय सस्कृति मे हृदय को बुद्धि बनना पडता है और बुद्धि को हृदय बनना पडता है। हृदय की प्रत्येक धडकन मे, बुद्धि का विमल प्रकाश अपेक्षित रहता है और बुद्धि की

प्रत्येक सूत्र में श्रद्धा से सम्वस को आवश्यकता रहती है। यदि श्रद्धा और तर्क में समन्वय स्थापित नहीं किया गया तो इन्सान का दिमाग आकाश में घूमता रहेगा और उसका दिल धरती के खण्डहरों में दब जाएगा। मेरे विचार में मानवीय जीवन की यह सर्वाधिक विडम्बना होगी।

भारतीय परम्परा में फिर भले ही वह परम्परा वैदिक रही हो अथवा अवैदिक प्रत्येक परम्परा ने आचार के साथ विचार को और विचार के साथ आचार को मान्यता प्रदान की है। यहाँ तक कि चार्वाक दर्शन जो जड़वादी नास्तिकवादी और नितान्त भौतिकवादी है, उसके भी अपने कुछ आचार के नियम हैं। भले ही उस आचार-पालन का फल वह परलोक या स्वर्ग न मानता हो पर समाज-व्यवस्था के लिए वह भी कुछ नियम तथा आचार स्वीकार करता है। एक बात और है, कि प्रत्येक परम्परा का आचार उसके विचार के अनुरूप ही हो सकता है। यह नहीं हो सकता कि विचार का प्रभाव आचार पर न पड़े साथ में यह भी सत्य है कि आचार का प्रभाव भी विचार पर पड़ता है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में भारतीय परम्परा में और भारतीय समाज में विचार और आचार में ज्ञान और क्रिया में श्रद्धा और तर्क में धर्म और दर्शन में *समन्वय माना गया है*। समन्वय के बिना समाज चल नहीं सकता।

आपके सामने अहिंसा की बात चल रही थी। मैंने यह भी बतलाया था कि कृषि-कर्म में हिंसा और अहिंसा को लेकर मध्ययुग में किस प्रकार का विवाद चला था जिसका क्षीण आभास आज भी हमें उस युग के साहित्य में उपलब्ध होता है। विवाद की बात को छोड़कर यदि मूल लक्ष्य पर और मूल बात पर विचार किया जाए, तो निष्कर्ष यह निकलता है कि जैन संस्कृति और जैन परम्परा का मूल आधार अहिंसा ही है। असत्य बोलने में हिंसा होती है चोरी करने में हिंसा होती है व्यभिचार करने में हिंसा होती है परिग्रह रखने में हिंसा होती है इसीलिए इन सबका परित्याग आवश्यक है। हिंसा के परित्याग के लिए और अहिंसा के संरक्षण के लिए ही अन्य व्रतों की परिकल्पना की गई है। मुख्य व्रत अहिंसा ही है। यही कारण है कि जैन-आचार शास्त्र का मुख्य सिद्धान्त अहिंसा है। इसी प्रकार जैन-दर्शन का मुख्य विचार अनेकान्त है। आचार में अहिंसा और विचार में अनेकान्त यह जैन संस्कृति का मूल स्वरूप है। अहिंसा और अनेकान्त का अर्थ है—जैन-धर्म और जैन-दर्शन। अहिंसा धर्म है और अनेकान्त दर्शन है। श्रद्धा धर्म है और तर्क दर्शन है। क्रिया धर्म है और ज्ञान दर्शन है। बौद्ध दर्शन के भी दो पक्ष प्रचलित हैं—हीनयान

और महायान । मुख्यरूप से हीनयान आचार-पक्ष है और महायान विचार-पक्ष । हीनयान मुख्य रूप मे धर्म है और महायान मुख्य रूप मे दर्शन एव तर्क है । सांख्य और योग को लें, तो उसमे भी हमे यही तथ्य मिलता है, कि सांख्य दर्शनशास्त्र है और योग उसका आचार-पक्ष है। यही बात पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा के सम्बन्ध मे समझ लीजिए । पूर्व मीमांसा का अर्थ है—कर्म-काण्ड और उत्तर मीमांसा का अर्थ है—ज्ञान-काण्ड । पूर्व मीमांसा आचार का प्रतिपादन करती है और उत्तर मीमांसा दर्शन और तर्क का आधार लेकर चलती है। मेरे कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि प्रत्येक परम्परा का अपना एक दर्शन होता है और प्रत्येक परम्परा का अपना एक आचार भी होता है । इस धरती पर एक भी सम्प्रदाय ऐसा नही मिलेगा, जिसमे विचार के अनुरूप आचार का और आचार के अनुरूप विचार का प्रतिपादन न किया गया हो । भारतीय परम्परा ही नही, बाहर की परम्पराओ मे भी हमे यही सत्य उपलब्ध होता है । मुस्लिम संस्कृति के उन्नायक मोहम्मद ने भी जीवन के इन्ही दोनो पक्षो को स्वीकार किया है । बाइबिल मे ईसा ने भी विचार के साथ आचार को स्वीकार किया है । चीन के प्रसिद्ध दार्शनिक कन्फ्यूसियस और लाओत्से ने भी अल्पाधिक रूप मे विचार के साथ आचार को मान्यता प्रदान की है ।

मैं आपसे यह कह रहा था, कि मानव-जीवन की परिपूर्णता विचार और आचार के समन्वय से ही होती है और आचार के बिना विचार का कुछ भी मूल्य नही है । इसी प्रकार विचार-विहीन आचार का भी कुछ महत्व नही रहता । आचार क्या है इस प्रश्न का उत्तर यदि एक ही शब्द मे दिया जा सके, तो वह शब्द अहिंसा ही हो सकता है । अहिंसा मे सभी धर्मों का समावेश हो जाता है । क्योकि धरती के सभी धर्मों ने सीधे रूप में अथवा घूम-फिर कर, अहिंसा को ही धर्म माना है । फिर भले ही किसी ने अहिंसा को प्रेम कहा है, किसी ने अहिंसा को सेवा कहा है, किसी ने अहिंसा को नीति कहा है और किसी ने अहिंसा को भ्रातृत्व भाव कहा है । यह सब अहिंसा के ही विविध विकल्प और नाना रूप हैं । अहिंसा ही परमधर्म है ।

व्यक्ति का समाजीकरण

समाज और समज ये दोनों शब्द संस्कृत भाषा के हैं। दोनों का अर्थ है—समूह एवं समुदाय। समाज मानव समुदाय के लिए प्रयुक्त किया जाता है और समज शब्द का प्रयोग पशु-समुदाय के लिए किया जाता है। समाजीकरण जिसे अंग्रेजी में Socialization कहते हैं मानव-जीवन का परमावश्यक *सिद्धान्त है। समाज सामाजिकता और सामाजिक—इन तीन शब्दों का पर*स्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस व्यक्ति में सामाजिक भावना होती है, उसे सामाजिक कहा जाता है। और सामाजिकता है उसका धर्म। जिस मनुष्य में समाज में रह कर भी सामाजिकता नहीं आती समाज-शास्त्र की दृष्टि से उसे मनुष्य कहने में संकोच होता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है यह एक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का मर्म है, कि मनुष्य समाज के बिना जीवित नहीं रह सकता। समाज-शास्त्री यह कहते हैं कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह एक सुन्दर गुणी अथवा सुसंस्कृत व्यक्ति है। व्यक्ति इसी अर्थ में सामाजिक हो सकता है, कि उसे मानव-सम्पर्क और मानव-संगति की इच्छा और आवश्यकता दोनों ही हैं। एक व्यक्ति किसी परिस्थिति-विशेष में भले ही एक दो दिन एकान्त में व्यतीत करले परन्तु सदा-सदा के लिए वह समाज का परित्याग करके जीवित नहीं रह सकता। मनुष्य में यह

सामाजिकता उसके जन्म के साथ ह ' उत्पन्न होती है और उसके मरण के साथ ही परिसमाप्त होती है। मेरे कहने का अभिप्राय केवल यही है, कि मनुष्य समाज का एक आवश्यक अग है और समाज है, अङ्गी। अङ्ग अपने अङ्गी के बिना कैसे रह सकता है।

बोगार्डस ने कहा है कि—साथ काम करने, सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना विकसित करने और दूसरो के कल्याण की आवश्यकताओ को दृष्टि मे रखकर कार्य करने की प्रक्रिया को Socialization समाजीकरण कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति एक स्वार्थी और एक खुदपसन्द के रूप मे जीवन प्रारम्भ करता है। परन्तु आगे चलकर धीरे-धीरे उसकी सामाजिक चेतना और सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना विकसित होती है। समाज-शास्त्र के सिद्धान्तो के अनुसार जीवन के प्रारम्भिक वर्षों मे सकुचित, अहकारी और स्वार्थी इच्छाएँ प्रबल रहती हैं। यहाँ तक कि कुछ घटनाओ मे वे जीवन-पर्यन्त भी स्थायी रह सकती हैं। वास्तव मे उनकी जन्मजात एव आन्तरिक शक्ति इतनी प्रबल होती है, कि मनुष्य का सारा जीवन उनको नियन्त्रित करने और उनका समाजीकरण करने मे व्यतीत हो जाता है। समाज-शास्त्र के प्रसिद्ध पण्डित फिचटर के अनुसार समाज मे समाजीकरण एक व्यक्ति और उसके साथी मनुष्यो के बीच, एक दूसरे को प्रभावित करने की प्रक्रिया है, यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके फलस्वरूप सामाजिक व्यवहार के विभिन्न ढग स्वीकार किए जाते हैं और उनके साथ सामञ्जस्य किया जाता है। समाज-शास्त्र मे समाजीकरण की व्याख्या दो दृष्टिकोणो से की जाती है—Objectively वैषयिक दृष्टि से, जिसमे समाज व्यक्ति पर प्रभाव डालता है, और Subjectively प्रातीतिक दृष्टि से, जिसमे व्यक्ति समाज के प्रति प्रतिक्रिया करता है। वैषयिक दृष्टि से, समाजीकरण एक वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा समाज अपनी सस्कृति को एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरित करता है और सघटित सामाजिक जीवन के स्वीकृत और अनुमोदन-प्राप्त ढगो के साथ, व्यक्ति का सामञ्जस्य करता है। इस प्रकार समाजीकरण का कार्य व्यक्ति के उन गुणो, कुशलताओ और अनुशासन को विकसित करना है, जिनकी व्यक्ति को आवश्यकता होती है, उन आकाक्षाओ और मूलो तथा रहने के ढगो को व्यक्ति मे समाविष्ट और उत्तेजित करना है, जो किसी विशेष समाज की विशेपता है और विशेप कर उन सामाजिक कार्यों को सिखाना है, जो समाज मे रहने वाले व्यक्तियो को करना है। समाजीकरण की प्रक्रिया निरन्तर रूप से व्यक्ति पर वाहर से प्रभाव डालती रहती है। यह केवल बच्चो और देशान्तर मे रहने वालो को, जो पहली वार समाज मे

जाते हैं, केवल उन्हें ही प्रभावित नहीं करती बल्कि समाज के प्रत्येक सदस्य को उसके जीवन पर्यन्त प्रभावित करती है। समाजीकरण की प्रक्रिया उनको व्यवहार के वे ढंग प्रदान करती है, जो समाज और संस्कृति को बनाए रखने के लिए आवश्यक हैं।

प्रातीतिक दृष्टि से समाजीकरण एक वह प्रक्रिया है, जो समाज के अन्दर म रह कर व्यक्ति के अन्दर चलती रहती है। यह समाजीकरण की प्रक्रिया उस समय होती है जबकि वह अपने चारों ओर के व्यक्तियों के साथ साथ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करता है। समाज में रहने वाला व्यक्ति अल्प न अधिक रूप में उस समाज के शील स्वभाव और आदर्शों को ग्रहण कर लेता है, जिसमें वह रहता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शैशव अवस्था से ही धीरे-धीरे समाज के नियमों के अनुकूल चलने लगता है। देशान्तर में रहने वाला व्यक्ति वहाँ के अपने नये समाज में घुल-मिल जाता है। Socialization समाजीकरण की यह प्रक्रिया व्यक्ति में आजीवन चलती है। वह जहाँ-जहाँ भी जाता है और जहाँ जहाँ भी रहता है, वहाँ-वहाँ के समाज के संस्कारों को वह ग्रहण कर लेता है। हम किसी भी एक व्यक्ति के जीवन में जो कुछ अच्छापन अथवा बुरापन देखते हैं, वह सब कुछ उसका अपना नहीं है, उसमें से बहुत कुछ उस समाज से उसने ग्रहण किया है, जिसमें वह रह रहा होता है। जीवन जीने की पद्धति जो उसने सीखी है विचार जो उसके पास हैं, अच्छे अथवा बुरे संस्कार जो वह संग्रह कर पाया है, वे सब अमुक अंश में बाहर से ही उसे प्राप्त हुए हैं। एक प्रकार से यह समाजीकरण की प्रक्रिया के परिणाम एवं फल हैं। व्यक्ति नयी समस्याओं का सामना करता है और वर्तमान घटनाओं को पिछले अनुभवों की सहायता से समझता है। एक अर्थ में वह सामाजिक अनुरूप Conformity की उस मात्रा के अनुसार सोचता और कार्य करता है, जो उसने प्राप्त की है।

समाजीकरण की प्रक्रिया का सार यह है, कि व्यक्ति जो कुछ सीखता है, वह समाज के साथ सम्बन्ध स्थापित करके ही सीखता है। इसका अर्थ यह नहीं है, कि वह व्यक्तिगत रूप से कुछ नहीं सीखता। व्यक्तिगत रूप में भी वह अनेक बातें और अनेक आदतें सीख लेता है। परन्तु अधिकतर वह जो कुछ सीख पाता है उसमें प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में समाज का सम्पर्क ही मुख्य कारण है। समाज में रहकर वह जो कुछ ग्रहण कर पाता है, अथवा ग्रहण कर सकता है, उस ग्रहण में मूल शक्ति स्वयं उस व्यक्ति की ही होती है। ग्रहण करने की मूल शक्ति के अभाव में व्यक्ति कुछ ग्रहण नहीं कर सकता अथवा बहुत कम ग्रहण

कर पाता है। समाजीकरण की प्रक्रिया सदा एक जैसी नही चलती। उदाहरण के लिए किसी एक व्यक्ति का कुछ समूहो के प्रति समाजीकरण हो सकता है, परन्तु दूसरे समाजो के प्रति नही। वह एक दयाशील पति एव पिता हो सकता है, परन्तु अपने नौकरो अथवा अपने अधीन रहने वाले अन्य लोगो के प्रति व्यवहार मे वह समाज-विरोधी Anti-Social भी हो सकता है। दूसरी ओर कुछ व्यक्ति अपने परिवार के सदस्यो अथवा कुछ पडोसियो के प्रति अन्यायी और स्वेच्छाचारी हो सकते हैं, परन्तु साथ ही अपने ग्राहको के प्रति वे सद्व्यवहार रख सकते हैं। एक अर्थ मे सामाजीकरण सामाजिक क्रियाओ मे भाग लेना है। समाज की क्रियाओ मे व्यक्ति भाग तभी ले सकता है, जब कि उसमे सामाजिकता का विकास हो चुका हो। समाजिकता का अर्थ है—अनेकता मे एकता स्थापित करना। समाज मे जितने भी प्रकार के व्यक्ति रहते हैं, समान हित के कारण उनके साथ एकीकरण (Identification) करना ही वस्तुत समाज मे रहने वाले व्यक्ति की सामाजिकता, कही जाती है।

मैं आपसे समाज और समाजीकरण के सम्बन्ध मे कह रहा था। समाजशास्त्र का अध्ययन करने वाले व्यक्ति, भली भाँति इस तथ्य को समझते हैं, कि समाजीकरण का जीवन मे क्या महत्व है ? मेरे अपने विचार मे जो व्यक्ति अपना समाजीकरण नही कर सकता, उसका जीवन उसके लिए भारभूत बन जाता है। अपने स्वय के व्यक्तित्व को समाज के सामूहिक जीवन के अन्दर विलीन कर देना ही, मेरे विचार मे सच्चा समाजीकरण है। समाजीकरण की प्रक्रिया युग-भेद से अथवा परिस्थिति के कारण विभिन्न हो सकती है, किन्तु जीवन-विकास के लिए समाजीकरण प्रत्येक युग मे उपादेय रहा है और भविष्य मे भी वह उपादेय रहेगा। यदि व्यक्ति अपने अहकार मे रहे और वह अपने आपको समाज के जीवन मे विलीन न करे, तो वह जीवित कैसे रह सकता है। सामाजिक मनोवृत्ति वाला व्यक्ति उस व्यापार को नही करेगा, जिससे समाज को किसी प्रकार का लाभ न हो। जिस व्यक्ति ने अपना समाजीकरण कर लिया है, वह व्यक्ति अपने व्यक्तिगत लाभ की अपेक्षा समाज के लाभ को अधिक महत्व देता है। वह व्यक्ति अपने व्यक्तिगत सुख की अपेक्षा सामाजिक सुख को अधिक महत्त्व देता है, वह व्यक्ति यथावसर अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को ठुकरा देता है और प्रत्येक स्थिति मे समाज के हित का ध्यान रखता है। जब तक व्यक्ति मे सर्वोच्च रूप मे सामाजिक भावना का उदय नही हो पाता है, तब तक वह अपने व्यक्तित्व का समाजीकरण नही कर सकता।

प्रश्न उठता है, कि समाजीकरण के साधन क्या हैं ? समाजीकरण यदि प्रत्येक व्यक्ति के लिए साध्य मान लिया जाए, तो यह जानना भी परमावश्यक

है, कि उसके साधन क्या हैं ? सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है, कि मुख्य रूप में व्यक्ति की सामाजिक भावना ही समाजीकरण का प्रधान साधन है। एक विद्वान का कथन है कि सम्पूर्ण समाज ही समाजीकरण का साधन है और प्रत्येक व्यक्ति जिसके सम्पर्क में कोई आता है, किसी न किसी रूप में समाजीकरण का साधन अथवा प्रतिनिधि है। विशाल समाज और व्यक्ति के बीच में अनेक छोटे छोटे समूह होते हैं और वे व्यक्ति के समाजीकरण के मुख्य साधन हैं। उदाहरण के लिए एक नवजात शिशु के समाजीकरण का प्रक्रिया उसके अपने घर से ही प्रारम्भ होती है। परन्तु जसे-जैसे वह विकसित होता जाता है और जैसे-जैसे उसके जीवन के साथ अन्य समूहों का सम्बन्ध होता जाता है वैसे-वैसे वह तीव्रगति से समाजीकरण करता जाता है। शिशु का सर्वप्रथम परिचय उसका अपनी माता से होता है फिर पिता से फिर भाई बहिनों से तथा बाद में परिजन और पौरजनों से। वही व्यक्ति आगे चलकर *नगर से प्रान्त से और एक दिन अपने सम्पूर्ण देश से समाजीकरण कर लेता* है। जब किसी अन्य देश की सेना हमारे देश पर आक्रमण करती है, और हमारे देश की व्यवस्था को छिन्न भिन्न करने पर उतर आती है, तब देश में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति का सामाजिक एवं राष्ट्रीय स्वाभिमान जागृत हो जाता है और वह अपनी पूर्ण शक्ति से अपने अन्य देशवासियों के साथ मिल कर उस आक्रान्ता का विरोध करता है, और उसे पराजित करने के लिए, अपना सर्वस्व देश के लिए निछावर कर डालता है। व्यक्ति के समाजीकरण का यह एक सर्वोच्च रूप है। भले ही हमारे अपने देश मे अनेक जातियाँ अनेक वर्ग और अनेक सम्प्रदाय रहते हों किन्तु विशाल समाजीकरण के द्वारा उस अनेकता में हम एकता स्थापित कर लेते हैं, क्योंकि देश की रक्षा और व्यवस्था में हम सबका समान हित है। कभी-कभी यह भी देखने में आता है कि एक देश के दो वर्ग वर्गों से लड़ते चल जाते हैं परन्तु जब देश पर संकट आता है तब सब अपना विरोध भूल कर एक हो जाते हैं। यह सब क्यों होता है ? समाजीकरण के कारण ही। समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति के जीवन में जैसे-जैसे विकास पाती जाती है वैसे-वैसे उसका जीवन वैयक्तिक से सामाजिक बनता जाता है। मेरे कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि समाजीकरण का मुख्य साधन व्यक्ति के अन्दर रहने वाली सामाजिक भावना एवं समान हित की भावना ही है।

जिस प्रकार समाजीकरण के साधन होते हैं उसी प्रकार समाजीकरण में कुछ बाधाएं भी उपस्थित होती रहती हैं। जब समाजीकरण में किसी भी

प्रकार वाधा उपस्थित हो जाती है, तब व्यक्ति का समाजीकरण नही हो पाता। एक व्यक्ति भले ही कितना भी महत्वाकाक्षी, कितना भी अधिक बुद्धिमान और कितना भी अधिक चतुर क्यो न हो, समय और परिस्थिति से वाध्य होकर जब वह अपना समाजीकरण नही कर पाता, तब वह समाज के और उसकी सस्कृति के उदात्त गुणो को ग्रहण करने मे असमर्थ हो जाता है। इस प्रकार का व्यक्ति समाज के किसी भी क्षेत्र मे अपना विशेषीकरण (Specialization) नही कर पाता। और जब व्यक्ति अपना विशेषीकरण नही कर पाता है, तब वह अपने जीवन की किसी भी योजना मे सफलता प्राप्त नही कर पाता। जीवन की सफलता और समृद्धि के लिए यह परमावश्यक है, कि व्यक्ति का जीवन के किसी भी क्षेत्र मे विशेषीकरण होना चाहिए। विशेषीकरण एक ऐसी शक्ति है, जिससे व्यक्ति का व्यक्तित्व शानदार और चमकदार बन जाता है। विशेषीकरण तो होना चाहिए, परन्तु अहकार नही होना चाहिए। व्यक्ति के व्यक्तित्व के समाजीकरण मे अहकार सबसे वडी बाधा है। अहकारी व्यक्ति समाज से दूर भागता जाता है, अत उसके जीवन का समाजीकरण नही होने पाता। और जब तक व्यक्ति के जीवन का समाजीकरण न होगा, तब तक उसके जीवन का सम्पूर्ण विकास सम्भव नही है। व्यक्ति परिवार मे रहे, समाज मे रहे अथवा राष्ट्र मे रहे, उसे यह सोचना चाहिए कि मेरा जीवन मेरे अपने लिए नही है, बल्कि सम्पूर्ण समाज के लिए है। जिस प्रकार दूध के भरे हुए कटोरे मे शक्कर घुल-मिल जाती है, वह दुग्ध के कण-कण मे परिव्याप्त हो जाती है और जिस प्रकार एक बिन्दु सिन्धु मे मिलकर अपनी अलग सत्ता नही रखता—उसी प्रकार व्यक्ति का व्यक्तित्व जब समाज मे मिलकर अपनी अलग सत्ता नही रखता, तभी वह इस तत्व को समझ सकता है, कि समाज का लाभ मेरा अपना लाभ है, समाज का सुख मेरा अपना सुख है और समाज का विकास मेरा अपना विकास है। पाश्चात्य दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित हर्बर्ट स्पेंसर ने कहा है —

"Society exist for the benefit of its members, not the members for the benefit of the society"

स्पेंसर का कथन है कि समाज सदस्यो के लाभ के लिए होता है, न कि सदस्य समाज के लाभ के लिए। इसका अर्थ केवल इतना ही है, कि जब व्यक्ति समाज के हाथो मे अपने आप को समर्पित करता है, तब समाज भी उन्मुक्त भाव से उसे सुख के साधन प्रस्तुत कर देता है। मेरे विचार मे सबसे अधिक सुखी समाज वह है, जिसमे प्रत्येक व्यक्ति परस्पर हार्दिक सम्मान

की भावना रखता है और एक दूसरे के जीवन का समादर करता है। याद रखिए, समाज के विकास में ही आपका अपना विकास है। और समाज के पतन में आपका अपना पतन है। समाज का विकास करना यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य हो जाता है। जब तक व्यक्ति में सामाजिक भावना का उदय नहीं होता है तब तक वह अपने आपको बलवान नहीं बना सकता। एक बिन्दु जल का क्या कोई अस्तित्व रहता है? किन्तु वही बिन्दु जब सिन्धु में मिल जाता है, तब क्षुद्र से विराट हो जाता है। इसी प्रकार क्षुद्र व्यक्ति समाज में मिलकर विराट बन जाता है। व्यक्ति का व्यक्तित्व समाजीकरण में ही विकसित होता है।

आज के युग में समाजवाद की बड़ी चर्चा है। कुछ लोग समाजवाद के नाम से भयभीत रहते हैं। वे यह सोचते हैं कि यदि समाजवाद आ गया तब हमारा विनाश हो जाएगा। विनाश का अर्थ है उनकी सम्पत्ति का उनके हाथों से निकल जाना। क्योंकि समाजवाद में सम्पत्ति और सत्ता व्यक्ति की न रहकर समाज की हो जाती है। यह सब कुछ होने पर भी कितने आश्चर्य की बात है, कि आज संसार में सर्वत्र कहीं कम तो कहीं अधिक समाजवाद का प्रसार और प्रचार बढ़ रहा है। इस वर्तमान युग में समाजवाद लोकतंत्रवाद और साम्यवाद का ही प्रभुत्व होता जा रहा है। समाजवाद के विषय में परस्पर विरोधी इतनी विभिन्न धारणाएँ हैं कि समाजवाद का एक निश्चित स्वरूप बतला सकना सम्भव नहीं है। क्योंकि समाजवादी वर्ग विभिन्न दलों में विभक्त है। कौन समाजवादी है और कौन नहीं—यह कहना कठिन है। मेरे विचार में समाजवाद एक सिद्धान्त है और वह एक राजनैतिक आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ है, किन्तु यथार्थ में वह राजनीति का ही सिद्धान्त नहीं है बल्कि उसका अपना एक आर्थिक सिद्धान्त भी है। समाजवाद के राजनीतिक और आर्थिक *सिद्धान्त* इस प्रकार मिले हुए हैं, कि वे एक दूसरे से पृथक नहीं हो सकते। समाजवाद क्या है? इसके सम्बन्ध में पाश्चात्य जगत के महान् विद्वान् जोड ने कहा है—

"Socialism is like a hat that has lost its shape because every body wears it.

समाजवाद उस टोपी के समान है जिसका आकार समाप्त हो गया है क्योंकि सभी लोग उसे पहनते हैं। समाजवाद के सम्बन्ध में भारत के महान् चिन्तक आचार्य नरेन्द्रदेव ने कहा है—"शोषण-मुक्त समाज की रचना करके वर्तमान समाज की प्रचलित दासता विषमता और असहिष्णुता को सदा के लिए दूर करके समाजवाद स्वतन्त्रता समता और भ्रातृत्व की वास्तविक स्थापना करता

चाहता है।" परन्तु याद रखिए, समाजवाद वहीं पर पल्लवित और विकसित हो सकता है, जहाँ के व्यक्ति मे सामूहिक एवं सामाजिक भावना का उदय हो चुका हो। एक विद्वान ने कहा है—"समाजवाद दो ही स्थानो पर काम करता है—एक मधुमक्खियों के छत्ते मे और दूसरे चीटियो के बिल मे।" इसका अभिप्राय केवल इतना ही है, कि मधुमक्खी और चीटी मे व्यापक रूप मे सामाजिक भावना का उदय हुआ है। वर्तमान युग के तत्व-दर्शी कार्लमार्क्स ने अपने एक ग्रन्थ मे कहा है—"समाजवाद मनुष्य को विवशता के क्षेत्र से हटा कर उसे स्वाधीनता के राज्य मे ले जाना चाहता है।" समाजवाद के सम्बन्ध मे इस प्रकार के विभिन्न विचार हैं। फिर भी हमे यह सोचना है, कि समाजवाद समाज को ऐसी क्या वस्तु प्रदान करता है, जिसके कारण वह आज के युग मे प्रत्येक राष्ट्र के लिए अथवा धरती के अधिकाश राष्ट्रो के लिए आवश्यक बनता जा रहा है।

समाजवाद क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा जाता है, कि समाजवाद एक आदर्श है, समाजवाद एक दृष्टिकोण है और समाजवाद जीवन की एक प्रणाली है। आज के युग मे और विशेषत राजनीति मे वह एक विश्वास है,और है एक जीवित जन-आन्दोलन। समाजवाद का राजनीतिक रूप, जैसा कि उसके पुरस्कर्ताओ ने प्रतिपादित किया है, यदि उसी रूप मे वह समाज मे स्थापित किया जाता है, तो वह समाज के लिए एक सुन्दर वरदान ही है, भीषण अभिशाप नही है। समाजवाद क्या चाहता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा जाता है, कि समाजवाद, समाज की भूमि और समाज की पूँजी का सम वितरण चाहता है। वह समाज की भूमि और समाज की सम्पत्ति पर समाज का ही आधिपत्य चाहता है। समाजवाद का ध्येय है—एक वर्गहीन समाज की स्थापना। वह वर्तमान समाज का सघटन इस प्रकार करना चाहता है, कि वर्तमान मे परस्पर विरोधी स्वार्थों वाले शोषक और शोषित तथा पीडक और पीडित वर्गों का अन्त हो जाए। समाज, सहयोग और सहअस्तित्व के आधार पर सघटित व्यक्तियो का एक ऐसा समूह बन जाए, जिसमे एक सदस्य की उन्नति का अर्थ स्वभावत दूसरे सदस्य की उन्नति हो, और सब मिलकर सामूहिक रूप से परस्पर उन्नति करते हुए जीवन व्यतीत कर सकें। समाजवाद में व्यक्ति की अपेक्षा समष्टि की प्रधानता होती है। इसमे सर्व प्रकार के शोषण का अन्त हो जाता है और समाज की पूँजी, समाज के किसी भी वर्ग विशेष के हाथो में न रह कर सम्पूर्ण समाज की हो जाती है। सबका समान उदय ही समाजवाद है।

मैं आपसे समाजवाद के सम्बन्ध में कुछ कह रहा था। इसका अर्थ आप यह मत समझिए, कि मैं किसी राजनीतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन आपके सामने कर रहा हूँ। आज का युग राजनीति का युग है, अतः प्रत्येक सिद्धान्त को राजनीतिक दृष्टि से सोचने और समझने का मनुष्य का दृष्टिकोण बन गया है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि आज के इस युग से पूर्व समाजवाद का अस्तित्व नहीं था। भगवान महावीर और बुद्ध के युग के कुछ राज्य गण तन्त्री थे। गणतन्त्र भी समाजवाद का ही एक प्राचीनतर रूप है। आज के युग में गांधीजी ने सर्वोदय की स्थापना की और आचार्य विनोबा ने उसकी विशद व्याख्या की। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सर्वोदय पहले कभी नहीं था। गांधीजी से बहुत पूर्व जैन संस्कृति के महान उन्नायक आचार्य समन्तभद्र ने भगवान महावीर के तीर्थ एवं संघ के लिए सर्वोदय का प्रयोग किया था। आचार्य के कथन का अभिप्राय यही था कि भगवान् महावीर के तीर्थ में और भगवान् महावीर के शासन में और भगवान् महावीर के संघ में सबका उदय है, सबका कल्याण है और सबका विकास है। किसी एक वर्ग का किसी एक सम्प्रदाय का अथवा किसी एक जाति-विशेष का ही उदय सच्चा सर्वोदय नहीं हो सकता। *जिसमें सर्व सुखहित हो वही सच्चा सर्वोदय है।* मेरे अपने विचार में जहाँ अहिंसा और अनेकान्त है, वही सच्चा समाजवाद है वहीं सच्चा गणतन्त्रवाद है और वहीं सच्चा सर्वोदयवाद है। आज का समाजवाद भले ही आर्थिक आधार पर खड़ा हो पर मेरे विचार में केवल अन्न से ही मानव जीवन की समस्याओं का हल नहीं हो सकता। उसके लिए धर्म और अध्यात्म की भी आवश्यकता रहती है। केवल रोटी का प्रश्न ही मुख्य नहीं है। रोटी के प्रश्न से भी एक बड़ा प्रश्न है, कि मनुष्य अपने को पहचाने और अपनी सीमा को समझे। यदि मनुष्य अपने को नहीं पहचानता और अपनी सीमा को नहीं समझता तो उसके लिए समाजीकरण समाजवाद और सर्वोदयवाद—सभी कुछ निरर्थक और व्यर्थ होगा। समाज की प्रतिष्ठा तभी रह सकेगी जब व्यक्ति अपनी सीमा को समझ लेगा।

संस्कृति की सीमा

सस्कृति और सस्कार एक ही धातु से निष्पन्न शब्द हैं। सस्कृति का अर्थ है—सस्कार और सस्कार का अर्थ है—सस्कृति। सस्कृति शब्द की एक व्याख्या और एक परिभाषा नही की जा सकती। सस्कृति उस सुन्दर सरिता के समान है, जो अपने स्वच्छन्द भाव से निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। यदि सरिता के प्रवाह को बांध दिया जाए, तो फिर सरिता, सरिता न रह जाएगी। इसी प्रकार सस्कृति को, और उस सस्कृति को, जो जन-मन के जीवन मे घुल-मिल चुकी है, शब्दो की सीमा मे बांधना, राष्ट्र की परिधि मे बांधना और समाज के बन्धनो मे बाधना कथमपि उचित नही कहा जा सकता। सस्कृति की सरिता को किसी भी प्रकार की सीमा मे सीमित करना, मानव-मन की एक बडी भूल है। सस्कृति के सम्बन्ध मे पाश्चात्य विचारक मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा है—"Culture is to know the best that has been said and thought in the world" विश्व के सर्वोच्च कथनो और विचारो का ज्ञान ही सच्ची सस्कृति है। महान् विचारक वोबी के कथनानुसार सस्कृति दो प्रकार की होती है—परिमित सस्कृति और अपरिमित सस्कृति। वोबी का कथन है—"Partial Culture runs to the arnote, extreme culture to simplicity"—परिमित सस्कृति शृ गार एव विलासिता की ओर प्रभावित होती है, जब कि अपरिमित सस्कृति सरलता एव सयम की ओर प्रवाहित होती है। यहाँ पर सस्कृति के सन्दर्भ मे एक बात और विचारणीय है। और वह यह है, कि क्या सस्कृति और सभ्यता दोनो एक हैं, अथवा भिन्न-भिन्न हैं? इस सम्बन्ध मे श्री प्रकाशजी ने बहुत सुन्दर कहा है—"While civilization is the body,

culture is the soul while civilization is the result of knowledge and great painful researches in divers field culture is the result of wisdom."— सभ्यता शरीर है, और संस्कृति आत्मा सभ्यता जानकारी और विभिन्न क्षेत्रों की महान एवं विराट खोज का परिणाम है, जब कि संस्कृति विशुद्ध ज्ञान का परिणाम है। इसके अतिरिक्त जिसे हम सच्ची संस्कृति कहते हैं, उसका एक आध्यात्मिक पहलू भी है। इसके सम्बन्ध में महान विचारक मार्सम ने कहा है—Serenity of Spirit, poise of mind is one of the last lesson of culture and comes from a perfect trust in the all controlling force of univers."—स्वभाव की गम्भीरता मन की समता संस्कृति के अन्तिम पृष्ठों में से एक है और यह समस्त विश्व को वश में करने वाली शक्ति में पूर्ण विश्वास से उत्पन्न होती है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि आत्मा की अजरता और अमरता में अटल विश्वास होना ही वास्तविक संस्कृति है। संस्कृति के सम्बन्ध में भारत के महान चिन्तक सानेगुरु का कथन है कि—"जो संस्कृति महान् होती है वह दूसरों की संस्कृति को भय नहीं देती बल्कि उसे साथ लेकर पवित्रता देती है। गंगा की गरिमा इसी में है कि वह दूसरे प्रवाहों को अपने में मिला लेती है और इसी कारण वह पवित्र स्वच्छ एवं आदरणीय कही जा सकती है। लोक में वही संस्कृति आदर के योग्य है, जो विभिन्न धाराओं को साथ में लेकर अग्रसर होती रहती है।

मैं आपसे संस्कृति के विषय में कुछ कह रहा था। आज संसार में सर्वत्र संस्कृति की चर्चा है। सभा में सम्मेलन में और उत्सव में सर्वत्र ही आज संस्कृति का बोलबाला है। सामान्य शिक्षित व्यक्ति से लेकर, विशिष्ट विद्वान् तक आज संस्कृति पर बोलते और लिखते हैं परन्तु संस्कृति की परिभाषा एवं व्याख्या आज तक भी स्थिर नहीं हो सकी है। संस्कृति क्या है? विद्वानों ने विभिन्न पद्धतियों से इस पर विचार किया है। आज भी विचार चल ही रहा है। संस्कृति की सरिता के प्रवाह को शब्दों की सीमा-रेखा में बाँधने का प्रयत्न तो बहुत किया गया है, पर उसमें सफलता नहीं मिल सकी है। भारत के प्राचीन साहित्य में धर्म दर्शन और कला की चर्चा तो बहुत है, पर संस्कृति की नहीं। इसके विपरीत आज के जन-जीवन में और आज के साहित्य में सर्वत्र संस्कृति ही मुखर हो रही है। उसने अपने आप में धर्म दर्शन और कला—तीनों को समेट लिया है। मैं पूछता हूँ आपसे कि संस्कृति में क्या नहीं है? उसमें आचार की पवित्रता है, विचार की गम्भीरता है और कला की प्रियता एवं मधुरता है। अपनी इसी अर्थव्यापकता के आधार पर संस्कृति

ने धर्म, दर्शन और कला—तीनो को आत्मसात् कर लिया है। जहाँ सस्कृति है, वहाँ धर्म होगा ही। जहाँ सस्कृति है, वहाँ दर्शन होगा ही। जहाँ सस्कृति है, वहाँ कला होगी ही। भारत के अध्यात्म-साहित्य मे सस्कृति से बढकर अन्य कोई शब्द व्यापक, विशाल और बहु अथ का अभिव्यजक नही है। कुछ विद्वान् सस्कृति के पर्यायवाची रूप मे सस्कार, परिष्कार और सुधार शब्द का प्रयोग करते हैं, परन्तु यह उचित नही है। वस्तुत सस्कृति की उच्चता, सस्कृति की गम्भीरता और सस्कृति की पवित्रता को धारण करने का सामर्थ्य इन तीनो शब्दो मे से किसी मे भी नही है। अधिक से अधिक खीचातानी करके सस्कार, परिष्कार एव सुधार शब्द से आचार का ग्रहण तो कदाचित् किया भी जा सके, परन्तु विचार और कला की अभिव्यक्ति इन शब्दो से कथमपि नही हो सकती। सस्कृति शब्द से धर्म, दर्शन और कला—तीनो की अभिव्यक्ति की जा सकती है।

सस्कृति एक बहती धारा है। जिस प्रकार सरिता का प्राणतत्व है, उसका प्रवाह, ठीक उसी प्रकार सस्कृति का प्राणतत्व भी उसका सतत प्रवाह है। सस्कृति का अर्थ है—निरन्तर विकास की ओर बढना। सस्कृति विचार, आदर्श और भावना तथा सस्कार-प्रवाह का वह सगठित एव सुस्थिर सस्थान है, जो मानव को अपने पूर्वजो से सहज ही अधिगत हो जाता है। व्यापक अर्थ मे सस्कृति को भौतिक और आध्यात्मिक—इन दो भागो मे बाँटा जा सकता है। भौतिक सस्कृति को सभ्यता भी कहते हैं। इसमे भवन, वसन, वाहन एव यन्त्र आदि वह समस्त भौतिक सामग्री आ जाती है, जिसका समाज ने अपने श्रम से निर्माण किया है। कला का सम्बन्ध इसी भौतिक सस्कृति से है। आध्यात्मिक सस्कृति मे आचार, विचार और विज्ञान का समावेश किया जाता है। सस्कृति का अर्थ सस्कार भी किया जाता है। सस्कार के दो प्रकार हैं—एक वैयक्तिक, जिसमे मनुष्य अपने गुण से एव अपनी शिष्टता से चमकता है। दूसरा सामूहिक, जो समाज मे समाज विरोधी दूषित आचार का प्रतिकार करता है। समान आचार, समान विचार, समान विश्वास, समान भाषा और समान पथ—सस्कृति को एकता प्रदान करते हैं।

सस्कृति मानव के भूत, वतमान और भावी-जीवन का सर्वाङ्गीण चित्रण है। जीवन जीने की कला अथवा पद्धति को सस्कृति कहते हैं। सस्कृति आकाश मे नही, इसी धरती पर रहती है। वह कल्पना मात्र नही है, जीवन का ठोस सत्य है एव जीवन का प्राणभूत तत्व है। मानवीय जीवन के नानाविध रूपों का समुदाय ही सस्कृति है। सस्कृति मे विकास और परिवर्तन सदा होता आया

है। जितना भी जीवन का 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' है, उसका सर्जन मनुष्य के मन प्राण और देह के प्रबल एवं दीर्घकालिक प्रयत्नों के फलस्वरूप हुआ है। मनुष्य-जीवन कभी शान्त नहीं होता पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ता है। धर्म दर्शन साहित्य और कला—ये सब मनुष्य जीवन के विकास के सुफल हैं। इस दृष्टि से संस्कृति मानवी जीवन के प्रयत्न की उपलब्धि है। संस्कृति में जब निष्ठा पक्की होती है तब मन की परिधि भी विस्तृत हो हो जाती है उदारता का भण्डार भी भर जाता है। अतः संस्कृति जीवन के लिए परमावश्यक है। संस्कृति राजनीति और अर्थशास्त्र दोनों को अपने में पचाकर विस्तृत एवं विराट मानवत्व को जन्म देती है। इसी को भारतीय संस्कृति में अर्थ और काम का सुन्दर समन्वय कहा गया है। संस्कृति जीवन-वृक्ष का सम्वर्धन करने वाला रस है। राजनीति और अर्थशास्त्र केवल पथ की साधना है। संस्कृति उस पथ का साध्य है। व्यक्ति समाज और राष्ट्र का सम्वर्धन बिना संस्कृति के नहीं हो सकता।

संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वश्रेष्ठ परिणति कही जा सकती है। संस्कृति मानव-जीवन का एक अविरोधी तत्त्व है। वह समस्त विरोधों में सामञ्जस्य स्थापित करती है। नाना प्रकार की धर्म-साधना कलात्मक प्रयत्न योग-मूलक अनुभूति और अपनी तर्क-मूलक कल्पना शक्ति से मनुष्य उस महान् सत्य के व्यापक तथा परिपूर्ण स्वरूप को अधिगत करता जा रहा है जिसे आज हम संस्कृति कहते हैं। मैं फिर कहूँगा कि संस्कृति की सर्व सम्मत परिभाषा अभी तक नहीं बन सकी है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि और विचार के अनुसार इसका अर्थ कर लेता है। संस्कृति का अर्थ है—मनुष्य की जय-यात्रा। मनुष्य अपनी साधना के बल पर विकृति से संस्कृति और संस्कृति से प्रकृति की ओर निरन्तर गतिशील रहता है। जीवन में विकृति है, इसीलिए संस्कृति की आवश्यकता है। परन्तु संस्कृति को पाकर ही मनुष्य की जय-यात्रा परिसमाप्त नहीं हो जाती। उसे आगे बढ़कर प्रकृति को अपने स्वभाव को प्राप्त करना होगा। यहाँ संस्कृति का अर्थ है—आत्म शोधन। संस्कृति के ये विविध रूप और नाना अर्थ आज के साहित्य में उपलब्ध होते हैं। संस्कृति एक विशाल महासागर है।

भारतीय संस्कृति की विशेषता उसके आचार-पूत स्वतन्त्र चिन्तन में सत्य की खोज में और उदार व्यवहार में रही है। युद्ध जैसे दारुण अवसर पर भी यहाँ के चिन्तकों ने शान्ति की सीख दी है। वैर के बदले प्रेम क्रूरता के बदले मृदुता और हिंसा के बदले अहिंसा दी है। भारतीय संस्कृति की अन्तरात्मा

है—विरोध मे भी विनोद, विविधता मे भी समन्वय-बुद्धि तथा एक सामञ्जस्य दृष्टिकोण। भारतीय सस्कृति हृदय और बुद्धि की पूजा करने वाली उदार पूर्ण भावना और विमल परिज्ञान के योग से जीवन मे सरसता और मधुरता व-ाने वाली है। यह सस्कृति ज्ञान का कर्म के साथ और कर्म का ज्ञान के साथ मेल बैठाकर ससार मे मधुरता का प्रचार तथा सरसता का प्रसार करने वाली है। भारतीय सस्कृति का अर्थ है—विश्वास, विचार और आचार की जीती जागती महिमा। भारत की सस्कृति का अर्थ है—स्नेह सहानुभूति, सहयोग, सहकार और सह-अस्तित्व। इस सस्कृति का सलक्ष्य है—सान्त से अनन्त की ओर जाना, अन्धकार से प्रकाश की ओर जाना, भेद से अभेद की ओर जाना तथा कीचड से कमल की ओर जाना। असुन्दर से सुन्दर की ओर जाना और विरोध से विवेक की ओर जाना। भारत की सस्कृति का अर्थ है—राम की पवित्र मर्यादा, कृष्ण का तेजस्वी कर्म योग, महावीर की सर्वभूत-हितकारी अहिसा, त्याग एव विरोधो की समन्वय-भूमि अनेकान्त, बुद्ध की मधुर करुणा एव विवेक-युक्त वैराग्य और गाधी की धर्मानुप्राणित राजनीति एव सत्य का प्रयोग। अत भारतीय सस्कृति के सूत्रधार हैं—राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध और गाधी। यह भारतीय सस्कृति की सम्पूर्णता है।

भारत की सस्कृति का मूल स्रोत है—"दयता, दीयता, दम्यताम्" इस एक ही सूत्र मे समग्र भारत की सस्कृति का सार आ गया है। जहां दया, दान और दमन है, वही पर भारत की सस्कृति की मूल आत्मा है। यह सस्कृति, भारत के जन-जन की और भारत के मन-मन की सस्कृति है। भारत की सस्कृति का मूल आधार है—दया, दान और दमन। प्राण-प्राण के प्रति दया करो, मुक्त भाव से दान करो, और अपने मन के विकल्पो का दमन करो। भारत के जन-जन के मन-मन मे दया, दान एव दमन रमा है, एव पचा है। वेदो ने इसी को गाया, पिटको ने इसी को ध्याया और आगमो ने इसी को जन-जीवन के कण-कण मे रमाया। क्रूरता से मनुष्यता को सुख नही मिला, तब दया जागी। सग्रह मे मनुष्य को शान्ति नही मिली, तब दान आया। भोग मे मनुष्य को चैन नही मिला, तब दमन आया। विकृत जीवन को सस्कृत बनाने के लिए भारतीय सस्कृति के भण्डार मे दया, दान और दमन से बढकर, अन्य धरोहर नही है, अन्य सम्पत्ति नही हैं। अपने मूल रूप मे भारत की सस्कृति एक होकर भी धारा रूप मे वह अनेक है। वेद-मार्ग से बहने वाली धारा वैदिक सस्कृति है। पिटक मार्ग से बहने वाली धारा बौद्ध सस्कृति है। आगम मार्ग से बहने वाली धारा जैन सस्कृति है। भारत की सस्कृति मूल मे

एक होकर भी वेद जिन और बुद्ध रूप में वह त्रिधाराओं में प्रवाहित है। वेद ज्ञान का, बुद्ध दया का और जिन दमन का प्रतीक है। अपने मनोविकारों को दमित करने वाला विजेता ही जिन होता है और जिन देव की संस्कृति ही वस्तुतः विजेता की संस्कृति है।

मैं आपसे भारतीय संस्कृति के स्वरूप और उसकी सीमा के सम्बन्ध में विचार कर रहा था। भारतीय संस्कृति के सम्पूर्ण स्वरूप को समझने के लिए और उसकी सम्पूर्ण सीमा का अंकन करने के लिए, उसे दो भागों में विभक्त करना होगा—ब्राह्मण की संस्कृति और श्रमण की संस्कृति। ब्राह्मण और श्रमण ने युग-युग से भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व किया है और किसी-न किसी रूप में वह आज भी करता है। ब्राह्मण विस्तार का प्रतीक है और श्रमण श्रम, शम और सम का प्रतीक माना जाता है। जो अपना विस्तार करता है वह ब्राह्मण है और जो शान्ति, तपस्या तथा समत्वयोग का साधक है, वह श्रमण है। श्रम और साधना दोनों का एक ही अर्थ है। प्रत्येक साधना श्रम है और प्रत्येक श्रम साधना है—यदि उसमें मन का पवित्र रस उँडेल दिया गया हो तो। ब्राह्मण-संस्कृति विस्तारवादी संस्कृति है वह सर्वत्र फैल जाना चाहती है, जब कि श्रमण-संस्कृति अपने को सीमित करती है एवं संयमित करती है। जहाँ विस्तार है वहाँ भोग है। जहाँ सीमा है वहाँ त्याग है। इसका अर्थ यह है कि ब्राह्मण-संस्कृति भोग पर आधारित है और श्रमण-संस्कृति त्याग पर। मेरे विचार में भारतीय समाज को यथोचित भोग और यथोचित त्याग दोनों की आवश्यकता है। क्योंकि शरीर के लिए भोग की आवश्यकता है और आत्मा के लिए त्याग की। भोग और योग का यथार्थ विवेकमूलक संतुलन एवं सामञ्जस्य ही भारतीय संस्कृति का मूल रूप है। भारत के ब्राह्मण ने ऊँचे स्वर में शरीर की आवश्यकताओं पर अधिक बल दिया तो भारत के श्रमण ने आत्मा की आवश्यकताओं पर अधिक बल दिया। मेरे कहने का अभिप्राय इतना ही है कि ब्राह्मण-संस्कृति प्रवृत्तिवादी है और श्रमण-संस्कृति निवृत्तिवादी है। प्रवृत्ति और निवृत्ति मानवी जीवन के दो समान पक्ष हैं। जब तक साधक साधक-अवस्था में है तब तक उसे शुभ प्रवृत्ति की आवश्यकता रहती ही है और जब साधक अपनी साधना के द्वारा साधना की चरम कोटि पर पहुँच जाता है, तब उसके जीवन में निवृत्ति स्वतः ही आ जाती है। अशुभ से शुभ और अन्त में शुभ से शुद्ध पर पहुँचना ही संस्कृति का चरम परिपाक है। मेरे विचार से भारतीय समाज को स्वस्थता प्रदान करने के लिए ब्राह्मण और श्रमण दोनों की आवश्यकता रही है और भविष्य में भी दोनों की आवश्यकता रहेगी।

आवश्यकता है, केवल दोनो के दृष्टिकोण मे सन्तुलन स्थापित करने की और समन्वय साधने की। वस्तुत यही भारतीय सस्कृति है।

सस्कृति क्या है? इस सम्बन्ध मे भले ही एक निश्चयात्मक व्याख्या और परिभाषा न दी जा सके, पर यह सत्य है कि सस्कृति मानव-जीवन का एक ऐसा अनिवार्य तत्व है, जिसके अभाव मे मानव-जीवन मे किसी प्रकार की प्रगति नही हो सकती। सस्कृति की एक निश्चयात्मक परिभाषा स्थिर न होने पर भी समय-समय पर अनेक विद्वानो ने सस्कृति की परिभाषा देने का प्रयत्न अवश्य किया है। एक विद्वान का कथन है कि—"ससार भर मे जो भी सर्वोत्तम बातें जानी गई हैं अथवा कही गई हैं, उनसे अपने आपको परिचित करना ही सस्कृति है।" एक दूसरी परिभाषा मे यह कहा गया है कि—"सस्कृति शारीरिक अथवा मानसिक शक्तियो का प्रशिक्षण, दृढीकरण, प्रकटीकरण अथवा विकास करना है। यह मन, आचार एव रुचि की परिष्कृति एव विशुद्धि है।" सस्कृति के सम्बन्ध मे इन परिभाषाओ मे जो कुछ कहा गया है, उस सबका सार यही है, कि शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक सभी प्रकार के विकास एव परिष्कार को सस्कृति कहा जा सकता है। आज के कुछ लोग हिन्दू सस्कृति, मुस्लिम सस्कृति और ईसाई सस्कृति की बात करते हैं। मेरे विचार मे यह सब सस्कृति हो सकती हैं, किन्तु यह सब कुछ सस्कृति का सम्पूर्ण अग नही माना जा सकता। भारत के जन-जीवन की सस्कृति का रूप सामासिक एव सामूहिक रहा है और उसका विकास भी धीरे-धीरे हुआ है। इतिहास के कुछ विद्वान यह भी दावा करते है, कि भारतीय सस्कृति का प्रारम्भ आर्यों के आगमन के साथ हुआ था। किन्तु यह विचार समीचीन नही कहा जा सकता। क्योकि जिन्होने 'हडप्पा' और 'मोहनजोदडो' की सभ्यता और सस्कृति का अध्ययन किया है, वे इस तथ्य को स्वीकार करते है, कि तथाकथित एव तथाप्रचारित आर्यों के आगमन से पूर्व भी भारतीय सभ्यता और सस्कृति बहुत ऊँची उठ चुकी थी। हाँ, इस तथ्य से इन्कार नही किया जा सकता, कि आर्यों के यहाँ आने के बाद और उनके यहाँ स्थापित हो जाने के बाद आर्यों और द्रविडो के मिलन, मिश्रण और समन्वय से जिस समवेत सस्कृति का जन्म हुआ था, वस्तुत वही भारत की प्राचीनतर सस्कृति और कुछ अर्थ मे मूल सस्कृति भी कही जा सकती है। याद रखिए, हमारी राष्ट्रीय सस्कृति ने धीरे-धीरे बढकर अपना वर्तमान आकार ग्रहण किया है, जिसमें भारत के मूल निवासी द्रविडो, आर्यों, शक एव हूणो तथा मुसलमान और ईसाइयो का धीरे-धीरे योग-दान मिलता रहा। यह बात तो सत्य है, कि भारत की प्राचीन सस्कृति मे समन्वय करने की तथा

नये उपकरणों को पचाकर आत्मसात् करने की अद्भुत योग्यता थी। जब तक इसका यह गुण बना रहा तब तक यह संस्कृति जीवित और गतिशील रही लेकिन बाद में इसकी गतिशीलता स्थिरता में परिणत हो गई। स्थिरता भी बुरी नहीं थी। पर, यह आगे चलकर रूढ़िवादिता में परिणत हो गई। काफी लम्बे इतिहास के अन्दर भूगोल ने भारत को जो रूप दिया उससे यह एक ऐसा विशाल देश बन गया जिसके दरवाजे बाहर की ओर से बन्द थे। क्योंकि महासागर और महाशैल हिमालय से घिरा होने के कारण बाहर से किसी का इस देश में आना आसान नहीं था। फिर भी जो कुछ लोग साहस करके यहाँ पर आए, वे यहीं के होकर रह गए। उदाहरण के लिए सीथियन और हूण लोग तथा उनके बाद भारत में आने वाली कुछ अन्य जातियों के लोग यहाँ आकर राजपूत जाति की शाखाओं में घुल मिल गए और यह दावा करने लगे कि हम भी प्राचीन भारत की सन्तान हैं। भारत की संस्कृति जन-जन की संस्कृति रही है और इसीलिए यह सदा से उदार और सहिष्णु रही है। यहाँ पर सबका समादर होता रहा है।

जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं वह आदि से अन्त तक न तो आर्यों की रचना है और न केवल द्रविड़ों का प्रयत्न ही है। बल्कि उसके भीतर अनेक जातियों का अंश-दान है। यह संस्कृति रसायन की प्रक्रिया से तैयार हुई है और उसके अन्दर अनेक औषधियों का रस समाहित है। भारत में समन्वय की प्रक्रिया चींटियों की प्रक्रिया नहीं जो अनाज के कणों को एक स्थान पर एकत्रित कर देती है। इस प्रकार का समन्वय वास्तविक समन्वय नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अनेक अनाजों के असंख्य दाने एक बर्तन में एकत्रित किए जाने पर भी अलग-अलग गिने और पहचाने जा सकते हैं। चींटियाँ अनाज के कणों को एकत्रित तो कर देती हैं किन्तु उनको एक दूसरे में विलय नहीं कर पातीं। भारतीय संस्कृति मधु-मक्खियों की प्रक्रिया रही है। मधुमक्खियाँ अनेक वर्णों के पुष्पों से विभिन्न प्रकार का रस एकत्रित करके मधु के रूप में एक ऐसा स्वरूप देती हैं कि कोई भी एक पुष्प वहाँ सबसे ऊपर नहीं बोलता। भारतीय संस्कृति अनेक संस्कृतियों के योग से बना हुआ वह मधु है, जिसमें विभिन्न वर्णों के पुष्पों का योगदान रहा है किन्तु फिर भी उसका अपना मीठा रस हो चुका है।

भारत की यह सांस्कृतिक रचना मुख्यतः दो कारणों पर आधारित है— पहला कारण तो भारत का भूगोल है जिसने उत्तर और पूर्व की ओर पहाड़ों से तथा दक्षिण और पश्चिम की चार समुद्रों से घेर कर भारत को स्वतन्त्र भूखण्ड का रूप दे दिया है। दूसरा कारण इस देश का एक प्रमुख कारण

हिन्दू धर्म भी है, जो किसी भी विश्वास के लिए दुराग्रह नही करता, जो सहिष्णुता, स्वाधीन चिन्तन एव वैयक्तिक स्वतन्त्रता का ससार मे सबसे बडा समर्थक रहा है। यही कारण है कि भारत के विशाल मैदानो मे सभी प्रकार के धर्मों को पनपने का समान अवसर मिला है। यहाँ पर कट्टर ईश्वरवादी धर्म भी पनपा है और यहाँ पर परम नास्तिक चार्वाक जैसा दशन भी पल्लवित हुआ है। भारत मे साकार की उपासना करने वाले भी रहे हैं और निराकार की उपासना करने वाले भी रहे हैं। धर्म के विकास के लिए और अपने-अपने विचार का प्रचार करने के लिए, भारत मे कभी किसी प्रकार का प्रतिवन्ध नही रहा है। यहाँ पर साधक एव उपासक को इतनी स्वतन्त्रता रही है, कि वह अपने आदर्श के अनुसार किसी भी एक देवता को माने, अथवा अनेक देवताओ को माने। भारत मे वेद का समर्थन करने वाले भी हुए और वेद का घोर विरोध करने वाले भी हुए हैं। भारत की धरती पर मन्दिर, मस्जिद और चर्च तीनो का सुन्दर समन्वय हुआ है। मेरे विचार मे इस एकता और समन्वय का कारण भारतीय दृष्टिकोण की उदारता एव सहिष्णुता ही है। यही कारण है, कि भारतीय सस्कृति एक ऐसी सस्कृति है, जिसमे अधिक से अधिक सस्कृतियो का रग मिला हुआ है और जो अधिक मे अधिक विभिन्न जातियो की मानसिक एव आध्यात्मिक एकता का प्रतिनिधित्व कर सकती है।

बडे खेद की बाद है, कि आज का नवीन भारत, आज के नवीन विश्व को कुछ भी देने के योग्य नही रहा। आज के नवीन विश्व को यदि भारत से कुछ पाना है, तो वह प्राचीन भारत से ही प्राप्त कर सकता है। प्राचीन भारत के उपनिषद्, आगम और त्रिपिटक आज भी इस राह भूली दुनिया को बहुत कुछ प्रकाश दे सकते हैं। आज के विश्व की पीडाओ का आध्यात्मिक निदान यह है, कि अभिनव मनुष्य अतिभोगी हो गया है। वह अपनी रोटी दूसरो के साथ बाँट कर नही खाना चाहता। उसे हर हालत मे पूरी रोटी चाहिए, भले ही उसे भूख आधी रोटी की ही क्यो न हो।

मेरा अपना विचार यह है, कि भारतीय सस्कृति मे जो रूढिवादिता आ गई है, यदि उस रूढिवाद को दूर किया जा सके, तो भारत के पास आज भी दूसरो को देने के लिए बहुत कुछ शेष बचा रह सकता है। विश्व की भावी एकता की भूमिका, भारत को सामासिक सस्कृति ही हो सकती है। जिस प्रकार भारत ने किसी भी धर्म का दलन किए बिना, अपने यहाँ धार्मिक एकता स्थापित की, जिस प्रकार भारत ने किसी भी जाति की विशेषता नष्ट किए बिना, सभी जातियो को एक सस्कृति के सूत्र मे आबद्ध किया, उसी प्रकार भारतीय सस्कृति के उदार

विचार इतने विराट एवं विशाल रहे हैं, कि उसमें संसार के सभी विचारों का समाहित हो जाना असम्भव नहीं है। ऋषभदेव से लेकर राम तक और राम से लेकर वर्तमान में गांधी-युग तक भारतीय संस्कृति सतत गतिशील रही है। यह ठीक है, कि बीच-बीच मे उसमें कहीं रुकावट भी अवश्य प्रतीत होती है, किन्तु वह रुकावट उसके गन्तव्य पथ को बदल नहीं सकी। रुकावट आ जाना एक अलग चीज है और पथ को छोड़ कर भटक जाना एक अलग चीज है।

हजारों और लाखों वर्षों की इस भारतीय प्राचीन संस्कृति में वह कौन तत्व है, जो इसे अनुप्राणित और अनुप्रेरित करता रहा है? यह एक विकट प्रश्न है और यह एक पेचीदा सवाल है। मेरे विचार में कोई ऐसा तत्व अवश्य होना चाहिए, जो युग युग में विभिन्न धाराओं को मोड़ देकर उसकी एक विशाल और विराट धारा बनाता रहा हो। प्रत्येक संस्कृति का और प्रत्येक सभ्यता का अपना एक प्राण-तत्व होता है, जिसके आधार पर वह संस्कृति और सभ्यता तन कर खड़ी रहती है और संसार के विनाशक तत्वों को चुनौती देती रहती है। रोम और मिस्र की संस्कृति धूलिसात् हो चुकी है, जब कि वे संस्कृतियां भी उतनी ही प्राचीन थीं जितनी कि भारत की संस्कृति प्राचीन थी।

भारत की संस्कृति का मूल-तत्व अथवा प्राणतत्व है, अहिंसा और अनेकान्त समता और समन्वय। वस्तुतः विभिन्न संस्कृतियों के बीच सात्विक समन्वय का काम अहिंसा और अनेकान्त के बिना नहीं चल सकता। तलवार के बल पर हम मनुष्य को विनष्ट कर सकते हैं, पर उसे जीत नहीं सकते। वस्तुतः मे मनुष्य को जीतना उसके हृदय पर अधिकार पाना है और उसका वास्तव उपाय समर-भूमि की रक्त से लाल कीच नहीं सहिष्णुता का शीतल प्रदेश ही हो सकता है। आज से ही नहीं अनन्तकाल से भारत अहिंसा और अनेकान्त की साधना में लीन रहा है। अहिंसा और अनेकान्त को समता और समन्वय भी कहा जा सकता है। अहिंसा और अनेकान्त पर किसी सम्प्रदाय विशेष का लेबिल नहीं लगाया जा सकता। ये दोनों तत्व भारतीय संस्कृति के कण-कण में रम चुके हैं और भारत के जन-जन के मन-मन में प्रवेश पा चुके हैं। भले ही कुछ लोगों ने यह समझ लिया हो कि अहिंसा और अनेकान्त जैन धर्म के सिद्धान्त हैं। बात वस्तुतः यह है, कि सिद्धान्त सदा अमर होते हैं, न वे कभी जन्म लेते हैं और न वे कभी मरते हैं। अहिंसा और अनेकान्त को भगवान महावीर ने जन-चेतना के समक्ष प्रस्तुत किया एवं प्रचार किया इसका अर्थ यह नहीं है, कि यह जैन धर्म के ही सिद्धान्त हैं, बल्कि सत्य यह

है, कि वे भारत के और भारतीय सस्कृति के अमर सिद्धान्त हैं। क्योकि भगवान महावीर और जैन धर्म अभारतीय नही थे। यह वात अलग है, कि भारत की अहिसा-साधना जैन धर्म मे अपने चरम उत्कष पर पहुँची, और जैन-धर्म मे भी समन्वयात्मक विचार का उच्चतम शिखर अनेकान्तवाद अहिंसा का ही चरम विकास है। अनेकान्तवाद नाम यद्यपि जैनाचार्यों के द्वारा प्रस्तुत किया गया है, किन्तु जिस स्वस्थ दृष्टिकोण की ओर यह सिद्धान्त सकेत करता है, वह दृष्टिकोण भारत मे आदिकाल से ही विद्यमान था।

सहिष्णुता, उदारता, सामासिक सस्कृति, अनेकान्तवाद, समन्वयवाद, अहिंसा और समता—ये सब एक ही सत्य के अलग-अलग नाम हैं। अनेकान्त वादी वह है, जो दुराग्रह नही करता। अनेकान्तवादी वह है, जो दूसरो के मतो को भी आदर से देखना और समझना चाहता है। अनेकान्तवादी वह है, जो अपने सिद्धान्तो को भी निष्पक्षता के साथ परखता है। अनेकान्तवादी वह है, जो समझौते को अपमान की वस्तु नही मानता। सम्राट् अशोक और सम्राट् हर्षवर्धन बौद्धिक दृष्टि से अहिंसावादी और अनेकान्तवादी ही थे, जिन्होने एक सम्प्रदाय विशेष मे रहकर भी सभी धर्मों की समान भाव से सेवा की। इसी प्रकार मध्ययुग मे सम्राट् अकबर भी निष्पक्ष सत्यशोधक के नाते अनेकान्तवादी था, क्योकि परम सत्य के अनुसधान के लिए उसने आजीवन प्रयत्न किया था। परमहस रामकृष्ण सम्प्रदायातीत दृष्टि से अनेकान्तवादी थे, क्योकि हिन्दू होते हुए भी सत्य के अनुसन्धान के लिए उन्होने इस्लाम और ईसाई मत की साधना भी की थी। और गाधी जी का तो एक प्रकार से सारा जीवन ही अहिंसा और अनेकान्त के महापथ का यात्री रहा है। मेरा यह दृढ निश्चय है, कि अहिंसा और अनेकान्त के बिना तथा समता और समन्वय के बिना भारतीय सस्कृति चिरकाल तक खडी नही रह सकती। जन-जन के जीवन को पावन और पवित्र बनाने के लिए, समता और समन्वय की बडी आवश्यकता है। विरोधो का परिहार करना तथा विरोध मे से भी विनोद निकाल लेना, इसी को समन्वय कहा जाता है। समन्वय कुछ बौद्धिक सिद्धान्त नही है, वह तो मनुष्यो की इसी जीवन भारती का जीता-जागता रचनात्मक सिद्धान्त है। समता का अर्थ है—स्नेह, सहानुभूति और सद्भाव। भला, इस समता के बिना मानव-जाति कैसे सुखी और समृद्ध हो सकती है? परस्पर की कटुता और कठोरता को दूर करने के लिए समता की बडी आवश्यकता है।

सस्कृति के सम्बन्ध मे और उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे तथा उसके मूल तत्वो के सम्बन्ध मे बहुत कुछ कहा जा चुका है। अब एक प्रश्न और है, जिस

पर विचार करना आवश्यक है, और वह प्रश्न यह है, कि क्या संस्कृति और सभ्यता एक है अथवा भिन्न-भिन्न है ? संस्कृति और सभ्यता शब्दों का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है । पाश्चात्य विद्वान टाइलर का कथन है कि— सभ्यता और संस्कृति एक दूसरे के पर्याय हैं । वह संस्कृति के लिए सभ्यता और परम्परा शब्द का प्रयोग भी करता है । इसके विपरीत प्रसिद्ध इतिहासकार टायनबी संस्कृति शब्द का प्रयोग करना पसन्द नहीं करता । उसने सभ्यता शब्द का प्रयोग ही पसन्द किया है । एक दूसरे विद्वान का कथन है कि— 'सभ्यता किसी संस्कृति की चरम अवस्था होती है । हर संस्कृति की अपनी सभ्यता होती है । सभ्यता संस्कृति की अनिवार्य परिणति है । यदि संस्कृति विस्तार है, तो सभ्यता कठोर स्थिरता । संस्कृति का सबसे महत्त्वपूर्ण एवं तथ्य मूलक अनुसंधान Anthropology मानव विज्ञान शास्त्र में हुआ है । संस्कृति की सबसे पुरानी और व्यापक परिभाषा टायलर की है, जो उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में दी गई थी । टायलर की संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार है— 'संस्कृति अथवा सभ्यता एक वह जटिल तत्त्व है, जिसमें ज्ञान नीति न्याय विधान परम्परा और दूसरी उन योग्यताओं और आदतों का समावेश है जिन्हें मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते प्राप्त करता है । मेरे विचार में सभ्यता और संस्कृति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं—एक भीतर का और दूसरा बाहर का । संस्कृति और सभ्यता बहुत कुछ उसी भावना को अभिव्यक्त करते हैं जिसे विचार और आचार कहते हैं ।
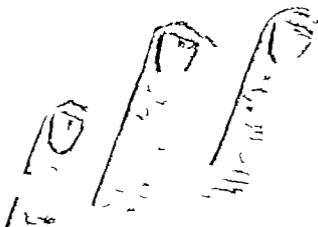
व्यक्ति से समाज और समाज से व्यक्ति

यह एक प्रश्न है, कि व्यक्ति बडा है अथवा समाज बडा है ? व्यक्ति का आधार समाज है अथवा समाज का आधार व्यक्ति है ? कुछ चिन्तक यह कहते हैं, कि व्यक्ति बडा है, क्योकि समाज की रचना व्यक्तियो के समूह से ही होती है। कुछ विचारक यह कहते हैं, कि समाज बडा है, क्योकि समाज मे समाहित होकर व्यक्ति का व्यक्तित्व अलग कहाँ रहता है ? जब विन्दु सिन्धु मे मिल गया, तव वह बिन्दु न होकर सिन्धु ही बन जाता है। यही स्थिति व्यक्ति और समाज की है, व्यष्टि और समष्टि की है, तथा एक और अनेक की है। मेरे विचार मे, अकेला व्यक्तिवाद और अकेला समाजवाद समस्या का समाधान नही हो सकता। किसी अपेक्षा से व्यक्ति बडा है, तो किसी अपेक्षा से समाज भी बडा है। व्यक्ति इस अर्थ मे बड़ा है, क्योकि वह समाज-रचना का मूल आधार है और समाज इस अर्थ मे बडा है, कि वह व्यक्ति का आश्रय है। यदि स्थिति पर गम्भीरता से विचार किया जाए, तो हमें प्रतीत होगा, कि अपने-

अपने स्थान पर और अपनी-अपनी स्थिति में दोनों का महत्त्व है। न कोई छोटा है और न कोई बड़ा है। यदि विश्व में व्यक्ति का व्यक्तित्व न होता तो फिर परिवार, समाज और राष्ट्र का अस्तित्व भी कैसे होता। एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है कि— The worth of a state in the long run, is the worth of the individuals composing it.

किसी राष्ट्र का मूल्य उसके व्यक्तियों का मूल्य है जिनसे वह बना है। यही बात समाज के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है कि किसी भी समाज का मूल्य उसके व्यक्तियों का मूल्य है जिनसे वह बना है। यही बात परिवार के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। व्यक्ति भले ही अपने आप में एक हो किन्तु परिवार की दृष्टि से वह एक होकर भी वस्तुतः अनेक होता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब एक व्यक्ति अपने आपमें समाज का एक अवयव है तब उसका अलग अस्तित्व किस आधार पर सम्भव हो सकता है? वह आधार है व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व। प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक व्यक्तित्व होता है, जिसके आधार पर वह अनेक में रहकर भी एक रहता है। व्यक्ति का व्यक्तित्व पुष्प की सुगन्ध के समान होता है। जिस प्रकार देखने वाले को फूल ही दिखलाई पड़ता है उसकी सुगन्ध नेत्र-गोचर नहीं होती है परन्तु प्रत्येक पुष्प की सुगन्ध की अनुभूति अवश्य ही होती है। इसी प्रकार हमें प्रतीति होती है व्यक्ति की किन्तु जहाँ व्यक्ति है, वहाँ उसका व्यक्तित्व फूल की सुगन्ध के समान सदा उसमें रहता है। पाश्चात्य विद्वान रिचर ने कहा है— Individuality everywhere to be spared and respected as the root of everything good."— 'व्यक्तित्व का सभी जगह रक्षण एवं सम्मान करना चाहिए, क्योंकि यह सभी अच्छाइयों का आधार है।' व्यक्ति के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा सकता है। किन्तु यहाँ पर केवल इतना ही समझना है, कि व्यक्ति और समाज अलग-अलग होकर नहीं रह सकते।

समाज और व्यक्ति का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। आजकल विभिन्न विचारकों में व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के प्रश्न को लेकर बड़ा मतभेद खड़ा हो गया है परन्तु यह बात सब मानते हैं कि व्यक्ति और समाज में किसी भी प्रकार का अलगाव और विलगाव करना न समाज के हित में है और न स्वयं व्यक्ति के हित में है। वास्तव में समाज की कल्पना व्यक्ति के बहुमें आती है। क्योंकि व्यक्ति कहते ही हमें यह परिज्ञान हो जाता है, कि वह अवश्य ही किसी न किसी समूह एवं समुदाय से सम्बद्ध होगा। व्यक्ति

आते हैं और चले जाते हैं, समाज सदैव रहता है। उसका जीवन व्यक्ति से बहुत अधिक दीर्घकालीन रहता है। समाज ही व्यक्ति को सुसस्कृत एव सुसभ्य बनाता है। एक बालक का व्यक्तित्व बहुत कुछ उसके सामाजिक वातावरण पर निर्भर रहता है। वह प्रत्येक बात, फिर भले ही वह अच्छी हो अथवा बुरी, अपने समाज से ही सीखता है। केवल सीखने की शक्ति उसकी अपनी होती है। समाज मे ही उसके Ego अहम् का विकास होता है, जिससे वह मनुष्य कहलाता है। समाज का अपना एक निजी सघटन है, वह व्यक्ति पर बहुत तरह से नियन्त्रण रखता है। उसका अपना निजी अस्तित्व है और आकार है। परन्तु दूसरी ओर यह भी सत्य है, कि व्यक्तियो की अनुपस्थिति मे समाज का कोई अस्तित्व नही रहता। क्योकि व्यक्तियो से ही समाज बनता है। व्यक्ति समाज को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार समाज और व्यक्ति दो स्वतन्त्र प्रतीत होते हुए भी दोनो का अस्तित्व और विकास एक दूसरे पर निर्भर रहता है। न व्यक्ति समाज को छोड सकता है और न समाज व्यक्ति को छोड सकता है।

समाज को समझना उतना अधिक दुस्साध्य कार्य नही है, जितना किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व को समझना। व्यक्ति के व्यक्तित्व को समझने के लिए यह आवश्यक है, कि हम उसकी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि को समझने का प्रयत्न करें। मनोविज्ञान के परिशीलन एव अनुचिन्तन से परिज्ञात होता है, कि व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं—अन्तमुंखी (Introvert) और बहिमुंखी (Estrovert)। अन्तमुंखी व्यक्ति वह होता है, जो अपने आप मे ही केन्द्रित रहता है और बहिमुंखी व्यक्ति वह होता है, जो परिवार और समाज मे घुल-मिलकर रहता है। व्यक्ति मे यह परिवर्तन कैसे आता है ? इसका आधार है, उस व्यक्ति का व्यत्तित्व। व्यत्तित्व ही व्यक्ति के व्यवहार का समग्र आधार है। यदि किसी व्यक्ति मे Oneness अकेलापन है, तो अवश्य ही उसके व्यक्तित्व में अकेलेपन के सस्कार रहे होगे। बहिमुंखी व्यक्ति अपने मे केन्द्रित न रहकर, वह सभी के साथ घुल-मिल जाता है। किन्तु अन्तमुंखी व्यक्ति समाज के वातावरण मे रहकर भी, समाज से अलग-थलग सा रहता है। व्यक्तित्व का वह पक्ष, जो सामाजिक मान्यताओ से सम्बन्ध रखता है, जिसका सामाजिक जीवन मे महत्व है, उसे हम चारित्र की सज्ञा देते हैं। सामाजिक जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए चारित्र का उच्च होना आवश्यक है। यदि व्यक्ति अपने चारित्र को सुन्दर नही बना पाता है, तो उसका समाज मे टिककर रहना भी सम्भव नही है। व्यक्ति जब दूसरे के साथ किसी भी प्रकार का अच्छा अथवा बुरा व्यवहार करता है, तभी हमे उसके व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे परिज्ञान हो पाता है। सामाजिक वातावरण ही व्यक्ति के व्यक्तित्व की कसौटी है।

मैं आपसे यह कह रहा था कि व्यक्ति का अपने आपमें महत्त्व अवश्य है, किन्तु वह समाज को तिरस्कृत करके जीवित नहीं रह सकता। यह ठीक है कि व्यक्तिवाद समाज को व्यक्तियों का समूह मानता है किन्तु फिर भी व्यक्तिवाद में समाज दब जाता है और व्यक्ति उभर आता है। व्यक्तिवाद के मुख्य सिद्धान्तों में व्यक्तियों की स्वतन्त्रता एक मुख्य प्रश्न है। व्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता ही सबसे महान वस्तु है। स्वतन्त्रता के बिना मनुष्य का विकास नहीं हो सकता। राजनीतिक सिद्धान्त के अनुसार राज्य और समाज का निर्माण ही व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए हुआ है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता को राज्य नियन्त्रित नहीं कर सकता। राज्य द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का नियन्त्रण तभी होगा जब व्यक्ति अपने कार्यों से दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप करेगा। व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए राज्य केवल रक्षात्मक कार्य कर सकता है। परन्तु व्यक्तियों की विभिन्न स्वतन्त्र शक्तियों के विकास में हस्तक्षेप करने का अधिकार राज्य को नहीं है और जब यह अधिकार राज्य को नहीं है, तब समाज को कैसे हो सकता है ? राजनीतिक दृष्टि से यही व्यक्ति का व्यक्तिवाद है।

मैं आपसे व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध में कुछ कह रहा था। मैंने आपको बताया कि समाज-शास्त्र मनोविज्ञान और राजनीति-शास्त्र की दृष्टि से समाज और राष्ट्र में व्यक्ति का क्या स्थान है ? व्यक्ति चाहे परिवार में रहे, चाहे समाज मे रहे और चाहे राष्ट्र मे रहे, सर्वत्र उसकी एक ही माँग है अपनी स्वतन्त्रता और अपनी स्वाधीनता। पर सवाल यह है कि इस स्वतन्त्रता और स्वाधीनता की कुछ सीमा भी है अथवा नहीं ? यदि उसकी सीमा का अंकन नहीं किया जाता है तो व्यक्ति स्वच्छन्द होकर तानाशाह बन जाता है। उस स्थिति में समाज और राष्ट्र की सुरक्षा और व्यवस्था कैसे रह सकती है ? इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं व्यक्ति के व्यक्तित्व पर किसी प्रकार का बन्धन लगाना चाहता हूँ। मेरा अभिप्राय इतना ही है, कि व्यक्ति की स्वाधीनता और स्वतन्त्रता रखते हुए भी यह अवश्य करना होगा कि व्यक्ति स्वच्छन्द न बन जाए। दूसरी ओर समाज और राष्ट्र भी इतना महत्वपूर्ण है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता और स्वाधीनता के लिए उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यदि राष्ट्र छिन्न भिन्न हो जाता है और समाज बिगर जाता है तो फिर व्यक्ति की स्वतन्त्रता और स्वाधीनता का मूल्य भी क्या रहेगा ? राष्ट्र और समाज की रक्षा और व्यवस्था में ही व्यक्ति के जीवन की रक्षा और व्यवस्था है। इस सन्दर्भ में यह जानना भी परमावश्यक हो जाता है कि व्यक्ति के जीवन में समाज और समाज की मर्यादाओं का क्या मूल्य है ?

व्यक्ति की स्वाधीनता और स्वतन्त्रता के नाम पर समाज के कर्त्तव्यो की और मर्यादाओ की वलि नही चढाई जा सकती ।

भारतीय सस्कृति मे और भारत की इतिहास-परम्परा मे अधिकतर व्यक्ति और समाज मे समन्वय का ही समर्थन किया गया है । भगवान महावीर ने तथा भगवान वुद्ध ने अवश्य ही व्यक्ति की अपेक्षा सघ को अधिक गौरव प्रदान किया है । यहाँ तक कि जन मस्कृति मे सर्वोच्च सत्ता माने जाने वाले तीर्थंकर भी तीर्थ एव सघ को नमस्कार करते है । महान् मे महान् आचार्य भी यहाँ पर सघ के आदेश को मानने के लिए बाध्य होता है । यद्यपि जैन धर्म के सिद्धान्त के अनुसार सघ की रचना एक व्यक्ति ही करता है, और वह व्यक्ति है तीर्थंकर । फिर भी सघ को, तीर्थ को और समाज को जो इतना अधिक गौरव प्रदान किया गया है, उसके पीछे एक ही उद्देश्य है, कि सघ और समाज की रक्षा और व्यवस्था मे ही व्यक्ति का विकास निहित है । पहले सघ और फिर व्यक्ति । जैन-सस्कृति की सघ-रचना मे और उसके सविधान मे गृहस्थ और साधु को समान अधिकार की उपलब्धि है । जैन-सस्कृति मे सघ के चार अग माने गए हैं—श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका । इन चारो का समवेत रूप ही सघ है । आध्यात्मिक दृष्टि से जो अधिकार एक श्रमण को प्राप्त हैं, वही अधिकार श्रमणी को भी प्राप्त हैं । जो अधिकार एक श्रावक को है, उतना ही अधिकार एक श्राविका को भी है । यदि जैन इतिहास की दीर्घ परम्परा पर और उमकी विशिष्ट सघ-रचना पर गम्भीरता से विचार किया जाए, तो यह परिज्ञात होगा, कि जैन-सस्कृति मूल मे व्यक्तिवादी न होकर समाजवादी है । किन्तु उसका समाजवाद आर्थिक और राजनैतिक न होकर एक आध्यात्मिक समाजवाद है । वह एक सर्वोदयी समाजवाद है, जिसमे सभी के उदय को समान भाव से स्वीकार किया गया है । यहाँ पर एक के पतन पर दूसरे का उत्थान नही है और यहाँ पर एक के विनाश पर दूसरे का विकास नही है, बल्कि एक के उत्थान मे सबका उत्थान है और एक के पतन मे सबका पतन है, तथा एक के विनाश मे सबका विनाश है और एक के विकास मे सबका विकास है । इस प्रकार जैन-सस्कृति का समाजवाद एक आध्यात्मिक समाजवाद है ।

वैदिक परम्परा मे और वैदिक सस्कृति के इतिहास मे यह बताया गया है, कि विश्व मे व्यक्ति ही सब कुछ है, समाज तो एक व्यक्ति के पीछे खडा है । वह व्यक्ति भले ही ईश्वर हो, परब्रह्म हो, अथवा विष्णु ब्रह्मा और रुद्र हो, कोई भी हो । एक व्यक्ति के सकेत पर ही वहाँ सारा समाज और सारा विश्व खडा होता है । व्यक्तिवाद को इतनी स्वतन्त्रता देने का एक मात्र कारण यह है,

कि वैदिक संस्कृति के मूल में सम्पूर्ण विश्व में एक ही सत्ता है—पर ब्रह्म। उसी में से संसार का जन्म होता है और फिर उसी में सम्पूर्ण संसार का विलय हो जाता है। संसार बने अथवा बिगड़े किन्तु ब्रह्म की सत्ता में किसी प्रकार की गड़बड़ी पैदा नहीं होती। इस पर से यह परिज्ञात होता है कि वैदिक परम्परा मूल मे व्यक्तिवादी है समाजवादी नहीं। पुराण-काल में हम देखते हैं कि कभी ब्रह्मा का महत्त्व बढ़ता है कभी विष्णु की महिमा बढ़ती है और कभी रुद्र की गरिमा आगे आ जाती है। आगे चलकर इन्द्र देवता की इतनी पूजा होने लगी कि उसके व्यक्तित्व में ब्रह्मा विष्णु और महेश-सभी ओझल हो गए। जो जिस समय शक्ति में आया लोग उसी के पीछे चलने लगे और लोगो ने अपने संरक्षण के लिए उसी का नेतृत्व स्वीकार कर लिया। क्या वेद में क्या उपनिषद में और क्या पुराण में सर्वत्र हमें व्यक्तिवाद ही नजर आता है। गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने यहाँ तक कह दिया कि "सर्व-धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" सब कुछ छोड़कर हे अर्जुन ! तू मेरी शरण मे आजा। अर्थात् मेरा विचार ही तेरा विचार हो मेरी वाणी ही तेरी वाणी हो और मेरा कर्म ही तेरा कर्म हो। इससे बढ़कर और इससे प्रबलतर व्यक्तिवाद का अन्य उदाहरण नहीं हो सकता।

मैं आपसे व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध में कह रहा था। समाजवादी और व्यक्तिवादी दोनो प्रकार की व्यवस्थाओं के मूल उद्देश्य में किसी भी प्रकार का भेद नहीं है। व्यवस्था चाहे व्यक्तिवादी हो अथवा समाजवादी हो उसका मूल उद्देश्य एक ही है—व्यक्ति और समाज का विकास। व्यक्तिवादी व्यवस्था में समाज का तिरस्कार नहीं हो सकता। और समाजवादी व्यवस्था में व्यक्ति की सत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता। समाज का विकास व्यक्ति पर आश्रित है तो व्यक्ति का विकास भी समाज पर आधारित रहता है। समाज का समर्पण करता है और समाज व्यक्ति का प्रदान करता है। व्यक्ति और समाज का यह आदान और प्रदान ही उनके एक दूसरे के विकास सहयोगी और सहकारी है। अपने आप में दोनो बड़े हैं। दोनों एक दूसरे पर आश्रित रहकर ही जीवित रह सकते हैं। यदि व्यक्ति समाज की उपेक्षा करे तो व्यवस्था नहीं रह सकती और समाज व्यक्ति को ठुकराए तो वह भी तनकर खड़ा रह नहीं सकता।

आज के युग मे व्यक्तिवाद और समाजवाद की बहुत अधिक चर्चा है। कुछ लोग व्यक्तिवाद को पसन्द करते हैं और कुछ लोग समाजवाद को। विचार में व्यक्तिवादी समाज और समाजवादी व्यक्ति ही अधिक।

हमे एकान्तवाद के झमेले मे न पडकर अनेकान्त-दृष्टि से ही इस विषय को सोचने और समझने का प्रयत्न करना चाहिए। अनेकान्तवादी दृष्टिकोण ही सही दिशा का निर्देश कर सकता है। अनेकान्तवादी दृष्टिकोण से यदि हम समाज और व्यक्ति के सम्बन्धो पर विचार करेंगे, तो हमे एक नया ही प्रकाश मिलेगा। अनेकान्तवादी दृष्टिकोण मे समष्टि और व्यष्टि परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। समष्टि क्या है ? अनेकता मे एकता। और व्यष्टि क्या है ? एकता मे अनेकता। एक को अनेक बनना होगा और अनेक को एक बनना होगा। इस प्रकार की समतामयी और अनेकान्तमयी दृष्टि से ही हमारे समाज और हमारे राष्ट्र का कल्याण हो सकेगा।